पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला : ७९

प्रधान सम्पादक
प्रो० सागरमल जैन

सच्चं लोगम्मि सारभूयं

# जैन नीतिशास्त्र

## एक तुलनात्मक विवेचन

लेखिका
डॉ० प्रतिभा जैन

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी-५
PĀRŚVANĀTHA VIDYĀPĪṬHA, VARANASI-5

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला : ७९

सम्पादक
प्रो. सागरमल जैन

# जैन नीतिशास्त्र : एक तुलनात्मक विवेचन

*लेखिका*

**डॉ. प्रतिभा जैन**

**पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी**

*प्रकाशक*
**पार्श्वनाथ विद्यापीठ**
आई॰ टी॰ आई॰ रोड, करौंदी
पो॰ ऑ॰ : बी॰ एच॰ यू॰
**वाराणसी** - २२१ ००५

**दूरभाष** : ३११४६२

प्रथम संस्करण : १९९५

मूल्य – ८० रुपये

*मुद्रक*
**नया संसार प्रेस**
बी॰ २/१४३ ए, भदैनी, वाराणसी

*Published by*
**Pārśvanātha Vidyāpīṭha**
I. T. I. Road, Karaundi
P. O. : B. H. U.
Varanasi - 221 005

Phone- 311462

First Edition : 1995

Price : Rs. 80.00

*Printed at*
**Naya Sansar Press**
B. 2/143 A, Bhadaini, Varanasi.

# प्रकाशकीय

जैन धर्म मूलतः आचारपरक धर्म है। आचार के सिद्धान्त और व्यवहार पक्ष का प्रतिपादन जैन ग्रन्थों में विस्तार से हुआ है। इसमें कोई अत्युक्ति नहीं है कि जैन साहित्य मुख्यतः आचार और उपदेश प्रधान है। जैन-आचारशास्त्र के क्षेत्र में अद्यावधि जो शोधपरक अध्ययन हुए हैं, उनमें डॉ॰ कमलचन्द सोगानी का **'The Ethical Doctrines of Jainism'**, डॉ॰ दयानन्द भार्गव का **'Jain Ethics'**, डॉ॰ मोहनलाल मेहता का **'जैन आचार'**, डॉ॰ सागरमल जैन का **'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन'**, आचार्य देवेन्द्र मुनि शास्त्री का **'जैन आचार : सिद्धान्त, स्वरूप एवं विश्लेषण'**, व उनका **'जैन नीतिशास्त्र : एक परिशीलन'** आदि मुख्य हैं। डॉ॰ प्रतिभा जैन के **'हिन्दू तथा जैन नैतिक आदर्शों का समीक्षात्मक अध्ययन'** नामक शोध-प्रबन्ध को भी इस क्रम में एक कड़ी माना जा सकता है। उनका यह शोध-प्रबन्ध राँची विश्वविद्यालय से पी-एच॰ डी॰ की उपाधि हेतु स्वीकृत हुआ है। उन्होंने इसके प्रकाशन हेतु लगभग तीन वर्ष पूर्व, विद्यापीठ के निदेशक डॉ॰ सागरमल जैन से सम्पर्क साधा। डॉ॰ जैन ने इसे व्यापक परिवर्तन और संशोधन के बाद **'जैन नीतिशास्त्र : एक तुलनात्मक विवेचन'** शीर्षक से प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान की। तदनुरूप डॉ॰ प्रतिभा जैन की यह प्रकाशित् कृति पाठकों के समक्ष प्रस्तुत की जा रही है।

ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु डॉ॰ ( सुश्री ) प्रतिभा जैन द्वारा विद्यापीठ को 10,000.00 रुपये का आर्थिक सहयोग भी प्रदान किया गया। अतः सर्वप्रथम तो हम लेखिका के आभारी हैं जिन्होंने न केवल अपनी यह कृति विद्यापीठ को प्रकाशनार्थ दी, अपितु इस हेतु अर्थ-सहयोग देकर अपनी उदारवृत्ति का परिचय भी दिया। ग्रन्थ के सम्पादन एवं प्रूफ रीडिंग आदि कार्यों में डॉ॰ सागरमल जैन, डॉ॰ श्रीप्रकाश पाण्डेय एवं डॉ॰ जयकृष्ण त्रिपाठी ने अत्यन्त परिश्रम किया, अतः वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं। डॉ॰ त्रिपाठी विशेष धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने यथासम्भव ग्रन्थ के सम्पूर्ण सन्दर्भों को मिलाकर परिशुद्ध किया है।

ग्रन्थ के कम्पोजिंग एवं सुरुचिपूर्ण मुद्रणकार्य हेतु नया संसार प्रेस, वाराणसी भी धन्यवाद का पात्र है।

आशा है पुस्तक जैन आचार या नीतिशास्त्र पर शोध कर रहे शोधार्थियों एवं उक्त विषय में रुचि रखने वाले सामान्य जन के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी
18 अगस्त, 1995

**भूपेन्द्रनाथ जैन**
मंत्री, पार्श्वनाथ विद्यापीठ

# आभार

"जैन नीतिशास्त्र : एक तुलनात्मक विवेचन" नामक यह कृति राँची विश्वविद्यालय से पी-एच॰ डी॰ उपाधि हेतु प्रस्तुत मेरे शोध-प्रबन्ध "हिन्दू तथा जैन नैतिक आदर्शों का समीक्षात्मक अध्ययन" का संशोधित एवं परिमार्जित रूप है। हमारे पूज्य गुरुवर डॉ॰ पाण्डेय ब्रह्मेश्वर विद्यार्थी जिन्होंने अपार स्नेह और आत्मीयता के साथ शोध-प्रबन्ध को पूरा करने में मेरा मार्गदर्शन किया और जिन्होंने विचार-विश्लेषण और विधान के क्रम में आने वाली समस्त उलझनों में मेरी सहायता की, उनके प्रति आभार व्यक्त करना तो मात्र एक औपचारिकता होगी। उनका आशीर्वाद ही मेरा सम्बल है।

युवाचार्य महाप्रज्ञ, एलाचार्य, मुनि विद्यानन्द जी, कानजीस्वामी एवं मुनि नेमिचन्द्र जी के आशीर्वाद, समन्वयात्मक विचारों एवं प्रेरणा से मुझे इस कृति को पूर्ण करने में अपूर्व बल मिला, एतदर्थ मैं उन सबके प्रति श्रद्धा से नत हूँ।

आज यह पुस्तक जिस रूप में पाठकों के समक्ष है उसका सारा श्रेय जाता है – जैन धर्म और दर्शन के मर्मज्ञ मनीषी, मेरे पिता तुल्य डॉ॰ सागरमल जैन को, जिन्होंने न केवल संस्थान में मेरे अध्ययन के लिए लाइब्रेरी, छात्रावास आदि की सुविधाएँ प्रदान कीं अपितु हमारे शोध-प्रबन्ध में व्यापक संशोधन कर कृति को प्रकाशन-योग्य बनाया। आपका आभार व्यक्त करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं।

मैं आभारी हूँ, पार्श्वनाथ विद्यापीठ के पदाधिकारियों की, जिन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशनार्थ अपनी स्वीकृति दी।

मैं अपने गुरुजनों प्रोफेसर रमाशंकर श्रीवास्तव, प्राचार्या श्रीमती शैलजा सिन्हा, पं० बाबूलाल जैन शास्त्री एवं सहयोगी श्रीमती वीणापाणि आदि के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ जिनका मार्गदर्शन मुझे सदा ही मिलता रहा।

अन्ततः मैं उन सभी गुरुजनों एवं सहयोगियों के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ जिन्होंने प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से इस कार्य में मुझे अपना सहयोग दिया है।

वीर परिनिर्वाण पर्व
23 नवम्बर, 1995
डाल्टनगंज ( बिहार )

**प्रतिभा जैन**

# विषय-अनुक्रम

**प्रस्तावना** **1 - 16**

प्रेरणा 12, प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध 13, प्रबन्ध की विशेषताएँ 15।

**प्रथम अध्याय** **17 - 46**

( अ ) भारतीय सांस्कृतिक पृष्ठभूमि 17-23

( ब ) वैदिक परम्परा में जैन तीर्थंकरों का स्थान 23-28

( स ) भारतीय संस्कृति और धर्म की विशेषताएँ 28-34

( द ) भागवत और जैन धर्म 34-43

**द्वितीय अध्याय** **47 - 112**

( अ ) हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म 47-77

समानता 55, अन्तर 56, अस्तेय 73।

( ब ) जैन धर्म में चारित्रिक आदर्श का महत्त्व 77-106

सम्यक् दर्शन 80, सम्यक् ज्ञान 84, सम्यक् चारित्र 86, श्रावकाचार 88, द्वादश व्रत 88 ( पाँच अणुव्रत, तीन गुण-व्रत, चार शिक्षाव्रत ), श्रावक या गृहस्थ के आवश्यक कार्य 94, एकादश प्रतिमा 95, श्रमणाचार 97, पाँच महाव्रत 98 ( अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग ), पाँच समितियाँ 100 ( ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण, उत्सर्ग ), पाँचों इन्द्रियों को वश में रखना 101, छः आवश्यक कार्य 101, सात शेष गुण 101, बाईस परीषहजय 102, बारह अनुप्रेक्षाएँ 104, चारित्र 105।

**तृतीय अध्याय** **113 - 127**

( अ ) निःश्रेयस का स्वरूप 113-118

पूर्व प्रयोग 117।

( ब ) जैन दर्शन की अन्य आध्यात्मिक मान्यताएँ 119-126

अहिंसा 119, कर्म-सिद्धान्त 119, जगत् की जटिलता 120, परमात्म पद 121, आचार 122, त्याग 122, साम्यवाद 122, समाजवाद 122, स्वतन्त्रता 122, अनेकान्तवाद 123, स्याद्वाद

123, सप्तभंगी 123, सात तत्त्व 124 ( जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष )।

**चतुर्थ अध्याय** 128 - 159

( अ ) आत्म-अनात्म विवेक 128-135

( ब ) जैन-दर्शन और योगशास्त्र 135-144

पातञ्जल योग और जैन योग विचारणा में समानता 138, तप के अंग 140।

( स ) पञ्च महाव्रत 144-156

अहिंसाणु व्रत 145, सत्याणु व्रत 149, अचौर्याणु व्रत 151, परिग्रहपरिमाण-अणुव्रत 152, ब्रह्मचर्याणुव्रत 154।

**पंचम अध्याय** 160 - 186

( अ ) वैराग्य 160-169

योगदर्शन में वैराग्य के भेद 164, परिणामदुःखता 167, तापदुःखता 167, संस्कारदुःखता 168।

( ब ) निष्काम कर्म 169-177

कर्म के तीन प्रकार 170।

( स ) हिन्दू धर्म में अहिंसा का स्थान 177-183

जैन धर्म का मूलभूत सिद्धान्त 177।

**षष्ठ अध्याय** 187 - 200

( अ ) जैन धर्म के सम्प्रदाय 187-198

( ब ) प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय 198

**सप्तम अध्याय** 201 - 214

( अ ) हिन्दू और जैन नैतिक आदर्शों के द्वारा युद्ध और शान्ति की समस्या का समाधान 201-212

( ब ) भविष्य में मानव-समाज के पुनर्निर्माण की सम्भावनाएँ और विश्व-कल्याण 212-213

**सन्दर्भ ग्रन्थ सूची** 215 - 222

# प्रस्तावना

भारतीय संस्कृति, धर्म तथा दर्शन की परिगणना संसार की प्राचीनतम् संस्कृतियों, दर्शनों और धर्मों में होती है। मिस्र, सीरिया, बैबिलोनिया आदि देशों की सभ्यता तथा संस्कृति भी अति प्राचीन है। सम्भवतः भारत की सभ्यता से भी ये सभ्यताएँ प्राचीन हों, परन्तु इन सभ्यताओं के आजकल रंचमात्र भी चिह्न प्राप्त नहीं होते जबकि भारतीय सभ्यता और संस्कृति के चिह्न तथा अन्य देशों के धर्म और दर्शन पर इसके प्रभाव के अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। विश्व इतिहास में यह विषय अभी तक विवादास्पद बना हुआ है कि भारतीय दर्शन धर्म तथा संस्कृति का प्रभाव संसार के अन्य देशों की सभ्यता पर किस प्रकार पड़ा। भले ही यह विवाद का विषय हो, किन्तु इतना तो निर्विवाद है कि भारत की सभ्यता अति प्राचीन है और पाश्चात्य देशों की अपेक्षा भारतवर्ष में लोग अभी तक धार्मिक हैं। भारतीय सभ्यता और पाश्चात्य सभ्यता में यह अत्यन्त ही मौलिक भेद है।

समाज का आधार भारतवर्ष में धर्म तथा नीति रही है। भले ही आजकल राजनीति के दूषित प्रभाव के कारण शिक्षित जनसमुदाय का नैतिक स्तर कितना ही गिर गया हो किन्तु आधुनिक भारत में सामान्य व्यक्ति के नैतिक स्तर का पतन होने से जनतन्त्र वहाँ सफल हो सकता है या नहीं, यह भी अत्यन्त सन्देहग्रस्त विषय है। जहाँ तक भारत के प्राचीन गौरव का प्रश्न है, मनु के अनुसार संसार के सभी लोग यहाँ के आदर्श पुरुषों से चरित्र की शिक्षा ग्रहण करते थे।

*"एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।*
*स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः॥"*

*मनुस्मृति, 2/20*

प्राचीन समय में व्यक्ति के चरित्र निर्माण पर बहुत अधिक बल दिया जाता था तथा धर्म और नीतिरहित शिक्षा की कल्पना भी असम्भव थी। यहाँ इस बात को दुहराने की आवश्यकता नहीं है कि वस्तुतः नैतिकता भी किसी राष्ट्र के अधःपतन का कारण हो सकती है। संसार के बड़े-बड़े राष्ट्रों का अधःपतन नैतिकता के ह्रास के कारण ही हुआ और इतिहास इसका साक्षी है। हम आजकल अपने देश में चारित्रिक संकट ( crisis of

character ) की सर्वत्र चर्चा करते हैं। केवल भारत ही नहीं, बल्कि विश्व के समस्त मानव-समाज का आज नैतिक पतन हो गया है और यह नहीं मालूम कि तीसरा विश्व महायुद्ध कब हो जाय जबकि परमाणु बम के युद्ध से सारा संसार ही नष्ट हो जायेगा। यह प्रश्न विश्व व्यापक है, किन्तु भारतवर्ष में इस प्रश्न का और भी अधिक विकराल रूप है। चरित्र निर्माण के जो अनुकरणीय तत्त्व हैं, वे केवल शास्त्रों और पुस्तकों में ही विद्यमान हैं। सामान्य व्यक्ति के चरित्र में इनकी अभिव्यक्ति के प्रति कोई प्रयत्न व्यक्तिगत स्तर पर या राज्य स्तर पर दृष्टिगोचर नहीं होता। व्यक्ति और समाज का अत्यन्त ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। सत्य तो यह है कि जहाँ व्यक्ति के बिना समाज के संगठन की कल्पना असम्भव है, वहाँ व्यक्ति भी समाज के द्वारा ही अपने विकास और अपनी अभीष्ट सिद्धि में सफल हो सकता है। मनुष्य के जो नैतिक गुण हैं, उनका केवल नैतिक दृष्टि से ही नहीं, समाज और राष्ट्र के विकास की दृष्टि से भी बहुत अधिक महत्त्व है। व्यक्तिगत नीति और आचार को सामाजिक या व्यक्तिगत नीति या आचार से पृथक् नहीं किया जा सकता, क्योंकि समाज का नैतिक स्तर कैसा होगा यह उन व्यक्तियों के नैतिक स्तर पर ही निर्भर करता है, जिनसे समाज की रचना होती है और जो समाज के अभिन्न अंग हैं। W. Rallph Inge (इंगे) ने ठीक ही कहा है, "दोषग्रस्त प्याली में विशुद्ध पेय सामग्री की सम्भावना नहीं हो सकती।"[1]

आज हम अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इसी विषय की चर्चा करते हैं। हम समाज में सुधार लाना चाहते हैं। हम जितना भी अधिक अपनी समस्याओं के समाधान में प्रयत्नशील रहते हैं उतनी ही अधिक हमारी समस्याएँ और बढ़ती जाती हैं। एक समय था, जब हमारी समस्याएँ प्राकृतिक वातावरण पर नियन्त्रण से सम्बन्धित थीं। यद्यपि आज हमने अपने बाह्य-वातावरण पर बहुत अधिक अधिकार भले ही प्राप्त कर लिया हो, तथापि हम अपनी आन्तरिक समस्याओं का हल खोजने में असमर्थ रहे हैं। वस्तुतः बाह्य जगत् में जो समस्याएँ अभिव्यक्त होती हैं उनकी उत्पत्ति पहले मानसिक जगत् में ही होती है। सभी धार्मिक उपदेष्टाओं ने इस तथ्य को स्वीकार किया है। आधुनिक मनोविज्ञान भी इसी तथ्य को प्रमाणित करता है। ईसा मसीह ने ठीक ही कहा है --

"And he went on to say, "It is what comes out of a person that makes him unclean (21) For from the inside, from a person's heart, come the evil ideas which lead him to do immoral things, to rob, kill, (22) commit adultery, be greedy, and do all sorts of evil things: deceit, indecency, jealousy, slander, pride and folly (23) all these evil things come from inside a person and make him unclean."[2]

प्लेटो का कथन भी इसी तथ्य को प्रमाणित करता है --

"That political constitutions spring from a tree or a rock and not from the dispositions of the citizens which turn the scale and draw all else in

their direction ... The constitutions are as the men are and grow out of their characters."[3]

जब यह तथ्य निःसंदिग्ध है कि मनुष्य की सारी समस्याओं का समाधान, मनुष्य के स्वरूप के अध्ययन के बिना सम्भव नहीं है तब हम मनुष्य के वास्तविक स्वरूप का ही अध्ययन सर्वप्रथम क्यों नहीं करते। हमारी समस्याओं के समाधान के लिये अनेक आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक संस्थाओं की रचना होती है, परन्तु जितनी अधिक संस्थाओं की संख्या बढ़ती जाती है उतनी अधिक मनुष्य की समस्याओं में भी अभिवृद्धि होती जाती है। सुप्रसिद्ध साहित्यकार और दार्शनिक एल्डस हक्सले के सम्मति में, "संसार की तीन-चौथाई समस्याएँ मनुष्य की अपनी बनाई हुई समस्याएँ हैं।"

"Of the vast sum of human misery about one-third, I would guess is unavoidable misery. This is the price we must pay for being embodied, and for inheriting genes which are subject to deleterious mutations. This is the rent extorted by Nature for the privilege of living on the surface of a planet whose soil is mostly poor, whose climate are capricious and inclement and whose inhabitants include a countless number of micro-organisms capable of causing in man himself, in his domestic animals and cultivated plants, and immense variety of deadly or debilitating diseases. To these miseries of cosmic origin must be added the much larger group of those avoidable disasters we bring upon ourselves. For at least two-third of our miseries spring from human stupidity, human malice and those great motivators and justifiers of malice and stupidity, idealism, dogmatism and proselytising zeal on behalf of religious or political ideals. But zeal, dogmatism and idealism exist only because we are for ever committing intellectual sins. We sin by attributing concrete significance to meaningless pseudo- knowledge, we sin in being too lazy to think in terms of multiple causation and indulging instead in over simplification, over generalization and over abstractions; and we sin by cherishing the false but agreeable notion that conceptual knowledge and, above all, conceptual, pseudo-knowledge are the same as understanding."[4]

चीनी दार्शनिक लाओत्से ने यह कहा है कि 'नदी, पर्वत अथवा प्राकृतिक तथ्य भले ही विश्वास के पात्र हों पर मनुष्य कभी विश्वास के योग्य नहीं हो सकता'।[5] अतः इस तथ्य की निश्चय ही उपेक्षा नहीं की जा सकती कि जीवन के सभी क्षेत्रों में सर्वांगीण विकास के लिये मनुष्य के स्वरूप के अध्ययन तथा उसके चरित्र के निर्माण की अनिवार्य आवश्यकता है जिसके अभाव में प्रगति के लिये सभी प्रकार के प्रयत्न बालू से विशालकाय गृहनिर्माण की भाँति निष्फल हैं।[6]

चरित्र-निर्माण की समस्या का महत्त्व पाश्चात्य सभ्यता में स्वीकार नहीं किया

गया हो, यह नहीं कहा जा सकता। यह तो मनुष्य की मूल समस्या है तथा समाज के अत्यन्त प्रारम्भिक काल में भी जबकि समाज के सभी व्यक्तियों के विचार की समस्या सभी मनुष्यों के सामने रहती थी, तब भी उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकी। कुछ ऐसे आदर्श हैं, जिन्हें शाश्वत माना जाता है, जिनकी आवश्यकता सदा बनी रहती है और जिनके बिना समाज टिक नहीं सकता। प्राचीन ग्रीक दर्शन में सुकरात और प्लेटो के समय में इसी चारित्रिक संकट की समस्या उपस्थित हुई थी जिसके उत्तरदायित्व का निर्वाह प्लेटो और अरस्तू ने किया। जीवन के आदर्शों को फीते से नहीं नापा जा सकता, क्योंकि ये सूक्ष्म तत्त्व हैं और मानवीय आध्यात्मिकता की विशेषताएँ हैं। आज के वैज्ञानिक चमत्कार के युग में, जबकि अनेक अल्प शिक्षित व्यक्ति विज्ञान के चमत्कारों द्वारा प्रभावित हैं, इन चारित्रिक आदर्शों की उपेक्षा करते हैं और विज्ञान के स्वरूप से अपरिचित होकर भी विज्ञान की दुहाई दे कर यह कहने का दुःसाहस करते हैं कि जिसको नहीं नापा-तोला जा सकता है जो हमारी ज्ञानेन्द्रियों का विषय नहीं है अर्थात् जो दृष्टिगोचर नहीं होता है, वह तात्त्विक नहीं है। इस प्रकार की विचारधारा को 18वीं शताब्दी में डार्विन के विकासवाद से अत्यधिक प्रोत्साहन मिला क्योंकि डार्विन ने इस विचार का प्रतिपादन किया कि मनुष्य की कोई अपनी विशेषता नहीं है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति भी पशु से ही हुई है। फ्रायड ने अपने मनोविश्लेषणवाद के आधार पर मनुष्य की चेतना को अचेतनमूलक प्रवृत्तियों पर आधारित करने की चेष्टा की और यह बतलाया कि इन्द्रिय संयम से मनुष्य मानसिक रोगों का शिकार बन जाता है।

यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी की इस विचारधारा का प्रभाव आधुनिक युग के युवकों पर पड़ा है तथापि इसकी पृष्ठभूमि सत्रहवीं शताब्दी की वैज्ञानिक क्रांति द्वारा ही तैयार की गई थी जबकि गैलीलियो जैसे वैज्ञानिकों ने यह घोषणा की थी, कि जो कुछ भी गणित की भाषा द्वारा व्यक्त न किया जा सके, वह विषयनिष्ठ नहीं है, आत्मनिष्ठ ही है। इसी कारण पाश्चात्य दर्शन में सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही जीवन के शाश्वत आदर्शों और मूल्यों के प्रति आस्था का उत्तरोत्तर ह्रास होता जा रहा है जिसकी चरम परिणति तार्किक प्रत्यक्षवाद, अस्तित्ववाद जैसे दार्शनिक विचारों में हुई। डेविड ह्यूम ने अपने संशयवाद में भी नैतिक आदर्शों की अवहेलना कर यह बतलाया है कि किसी कार्य को अच्छा या बुरा करना उस कार्य के वास्तविक स्वरूप के विषय में कोई कथन नहीं है, अपितु यह हमारे मन की भावनात्मक प्रतिक्रिया का ही परिणाम है। डेविड ह्यूम के इस मत से आधुनिक तार्किक प्रत्यक्षवादी तथा अस्तित्ववादी प्रभावित हैं जिनका एक ओर यदि यह कहना है कि शुभ-अशुभ के विचार भावनामूलक हैं वहाँ दूसरी ओर अस्तित्ववादियों के मत में स्वतन्त्रता का अर्थ स्वच्छंदता है। संयम से स्वतन्त्रता का कोई सम्बन्ध नहीं है।

सुप्रसिद्ध अस्तित्ववादी ज्याँ पाल सार्त्र के उपन्यासों में स्वतंत्रता का प्रयोग स्वच्छंदता के अर्थ में ही हुआ है। ज्याँ पाल सार्त्र ने पारम्परिक आदर्शों तथा मूल्यों की

उपेक्षा करने का यथासाध्य प्रयत्न अपने सभी ग्रंथों में किया। यदि पाश्चात्य जगत् में और इसके साथ-साथ भारतवर्ष में भी नैतिक आदर्शों के प्रति सामान्य व्यक्ति की निष्ठा न हो और नयी पीढ़ी के नवयुवक यदि इन नैतिक मूल्यों को तनिक भी महत्त्व न देते हों तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है परन्तु इसके साथ-साथ बुद्धिमान व्यक्ति के सामने यह समस्या निश्चित रूप से विद्यमान है कि यदि चारित्रिक संकट और शाश्वत मूल्यों के प्रति प्रत्येक व्यक्ति की निष्ठा का इसी प्रकार का अभाव बना रहा तब किस प्रकार मानव समाज का उत्थान सम्भव है ? ऐसी बात नहीं कि ये समस्याएँ हमारे विचारकों के सामने नहीं आतीं और सामान्य व्यक्ति भी इन प्रश्नों से परिचित न हों क्योंकि यह तो सर्वविदित है कि हमारे सामान्य जीवन में स्वार्थ साम्राज्य फैल गया है कि समाज के द्वारा हमारी मूल आवश्यकताओं की भी पूर्ति नहीं हो पाती। हम सभी इस अकाट्य सत्य से परिचित हैं। सुधार की सम्भावना अभी तक दृष्टिगोचर नहीं हो पाई। यह प्रश्न किसी एक विशेष व्यक्ति का नहीं है और किसी सरकार का नहीं है। यह समस्त मानव समाज का प्रश्न है और जब तक हमारे आचरण में एक सम्पूर्ण क्रांति न होगी और जिन आदर्शों और मूल्यों के द्वारा हमारा आचरण अब तक प्रभावित होता आ रहा है उन पर हम दृष्टिपात कर उनके गुण एवं दोषों की मीमांसा न करेंगे तब तक यह क्रम चलता ही रहेगा और हमारी समस्याओं का समाधान नहीं हो सकेगा, फिर भी आदर्शों का मूल्य मनुष्य के लिये ही है। मनुष्य ही उन्हें बनाता-बिगाड़ता है और संस्कृति के इतिहास पर यदि हम दृष्टिपात करते हैं तो इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सभ्यताओं में जो परिवर्तन होता है वह सीधी रेखा के अनुकूल नहीं होता बल्कि इनका परिवर्तन आरोह-अवरोह के क्रम में होता रहता है। सभ्यताओं का उत्थान-पतन होता रहता है और इसी उत्थान-पतन से मनुष्य को शिक्षा मिलती रहती है, साथ ही साथ यह भी अकाट्य सत्य है कि घोर अंधेरी रात्रि के पश्चात् ही दिवालोक की सम्भावना रहती है। अतः हमें अपने राष्ट्र के ऐसे ही संकटग्रस्त क्षणों में अपनी सभ्यता तथा संस्कृति, धर्म एवं दर्शन की विशेषताओं की ओर अपने ध्यान को केन्द्रित करने के लिये विवश होना पड़ता है। आज के युग में प्रत्येक व्यक्ति के लिये चारित्रिक आदर्श और आत्म संयम का महत्त्व इतना अधिक बढ़ गया है कि जब तक वह स्वार्थ से ऊपर उठकर जीवन की समस्याओं के प्रति एक साम्य दृष्टिकोण अपनाने में समर्थ न हो तब तक किसी भी क्षेत्र में उत्कर्ष की आशा रंचमात्र भी नहीं हो सकती।

यहाँ हम यह नहीं कहते कि भारतीय दर्शन सदा रूढ़िवादी, निराशावादी तथा परम्परावादी ही रहा है, कारण कि दर्शन किसी व्यक्ति की काल्पनिक उपज नहीं है। समाज और संस्कृति के साथ दर्शन का अत्यन्त ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। मानवीय अनुभवों की व्याख्या दर्शनशास्त्र का उद्देश्य है। हमारे अनुभवों की जो समस्याएँ होती हैं अथवा इनसे जो प्रश्न उत्पन्न होते हैं उन्हीं का समाधान या उत्तर दर्शनशास्त्र प्रस्तुत करता है। विज्ञान, धर्म और दर्शन अपनी-अपनी भाषा में इन समस्याओं का विवेचन और समाधान

करते हैं। भेद केवल भाषा और विधि का है लेकिन तत्त्व एक ही है। एक ही तथ्य का वर्णन विज्ञान, धर्म, दर्शन, उपन्यास तथा इतिहास के द्वारा हो सकता है परन्तु इनकी विधियाँ और भाषाएँ भी भिन्न-भिन्न हैं। चूँकि जीवन के पक्ष अनेक हैं और जीवन से सम्बन्धित सभी तथ्यों की अभिव्यक्ति एक ही साथ सम्भव नहीं है इसलिये भिन्न-भिन्न शास्त्रों की आवश्यकता होती है और इस कारण किसी एक ही विधि या प्रणाली के मानदण्ड से हम अपने सभी आदर्शों या आवश्यकताओं की मीमांसा तथा तथ्यों की वास्तविकता या काल्पनिकता की मीमांसा नहीं कर सकते।

प्राचीनकाल में भारतवर्ष में अनेक शास्त्रों का विकास हुआ था परन्तु जैसा ऊपर कहा जा चुका है उन शास्त्रों से धर्म, दर्शन, नीति और आचार का अस्तित्व पृथक् था। यह स्पष्ट है कि पाश्चात्य दार्शनिक विचारधारा, विज्ञान की दृष्टि से प्रभावित है परन्तु भारत में सभी प्रकार के विज्ञानों का अत्यधिक विकास होने पर भी यहाँ के मनीषियों ने धर्म, नीति, आचार और दर्शन को अन्य शास्त्रों से बिल्कुल पृथक् रखा और इसीलिये दर्शन यहाँ रूढ़िवादी बनने से सदा मुक्त रहा। स्वतन्त्र विचारों को यहाँ इतनी स्वतन्त्रता दी गई कि यहाँ अनेक दर्शनों की उत्पत्ति हुई, शायद ऐसा कोई भी आधुनिक विचार आजकल के पाश्चात्य जगत् में नहीं है जिसका किसी-न-किसी रूप में संकेत यहाँ के दर्शनों में न हुआ हो। यह धारणा जॉन म्युरहेड की है, जिनके शब्दों में

"Even the slightest acquaintance with these sources is sufficient to convince the reader of the justice of the claims put forward on their behalf, that 'there is hardly any height of spiritual insight or rational philosophy attained in the world that has not its parallel in the vast stretch that lies between the early vedic seers and the modern Naiyayikas,' who with their analytic and critical methods may be said to stand to the Vedanta in some what the same relation as Kant and his followers stand to the great neo-platonic and Patristic tradition of the West."[7]

दर्शनों के बाहुल्य से ही यह बात प्रमाणित है कि भारतीय दृष्टि कभी रूढ़िवादी नहीं रही, किन्तु सदा प्रगतिवादी रही है क्योंकि वेदों का कर्मकाण्ड और हिंसाजन्य यज्ञ विधान उपनिषदों में दुहराया नहीं गया है। उपनिषदों की दृष्टि वैदिक दृष्टि से भिन्न है। इसमें यज्ञ कर्मकाण्ड आदि के स्थान पर व्यक्तिगत नीति और आचार को प्रमुखता दी गई है। यदि वैदिक दृष्टि बहिर्मुखी हो तो उपनिषदों की दृष्टि अन्तर्मुखी है। इसी प्रकार उपनिषद् की दृष्टि से भगवद्गीता की दृष्टि भी भिन्न है। षड्दर्शनों की भी अपनी-अपनी विशेषता है जो तत्त्वों पर भिन्न-भिन्न दृष्टियों से विचार करते हैं। इसी प्रसंग में इस तथ्य का उल्लेख करना अत्यन्त ही प्रासंगिक और महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि भारतीय दर्शनों में जिन दर्शनों को वेद विरोधी कोटि में रखा गया है उनका भी अपना निजी महत्त्व है और उन्हें सम्पूर्ण भारतीय दर्शन के दृष्टिकोण से अलग नहीं रखा जा सकता क्योंकि उनके द्वारा

भी मनुष्य की आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति हुई है। इन धर्मों और दर्शनों का प्रादुर्भाव ऐसे समय में हुआ होगा जब इनके अभाव में भारतीय आचार और विचार पतनोन्मुख हो रहा था और इसे सन्मार्ग पर लाना असम्भव था। इन्हीं धर्मों और दर्शनों के कारण समाज पतित होने से बच सका और प्रत्येक व्यक्ति के मन में जीवन के शाश्वत आदर्शों के प्रति निष्ठा की भावना जाग्रत हो सकी।

मनुष्य की आध्यात्मिकता का प्रश्न अत्यन्त जटिल प्रश्न है और चूँकि उसके अनेक पक्ष होते हैं, कई दृष्टियों से इस पर विचार करना आवश्यक हो जाता है, परन्तु देश, काल तथा अन्य स्थितियों के अनुकूल किसी एक ही पक्ष पर आवश्यकतानुसार विचार होता है और अन्य पक्ष गौण हो जाते हैं। समस्त मानव इतिहास वस्तुतः मनुष्य की आध्यात्मिकता का इतिहास है, इसके विभिन्न पक्षों पर तथा इसकी विभिन्न समस्याओं पर विचार किया गया है। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि अब तक इन समस्याओं के समाधान के फलस्वरूप मनुष्य की आध्यात्मिकता के सम्बन्ध में जो भी विशाल साहित्य-उपलब्ध है वह पर्याप्त है, इसके आगे और प्रगति की सम्भावना नहीं है। मानव प्रकृति की सम्भावनाओं के अपरिमित होने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इसके पक्ष भी असंख्य हैं। किसी भी विद्वान को यह कहने का अधिकार नहीं हो सकता कि वह इसके सभी पक्षों पर विचार करने में समर्थ है। धार्मिक चेतना तथा नैतिक चेतना भी मनुष्य की आध्यात्मिकता का ही एक पक्ष है और उसकी आध्यात्मिकता के समान अन्य भी इससे सम्बन्धित असंख्य प्रश्न हो सकते हैं। मानव सभ्यता के इतिहास में सामान्यतया तथा विशेषतया भारतीय दर्शन और धर्म के इतिहास में इन पक्षों का विवेचन किया गया है। मानव समस्याओं के जो समाधान किये गये हैं वे शाश्वत हैं तथा उनकी प्रासंगिकता संसार में तब तक बनी रहेगी जब तक कि मनुष्य देवत्व की स्थिति को प्राप्त न कर ले, तीर्थंकर न हो जाये अथवा संसार से परे न हो जाये। स्वयं जैन धर्म व दर्शन में भी अनेकान्तवाद तथा स्याद्वाद की प्रमुख मान्यता है कि किसी भी विषय के अनेक पक्ष होते हैं और इसलिये उसके सम्बन्ध में कोई एकांगी कथन कभी पर्याप्त नहीं माना जा सकता।

भारतीय दर्शन तथा धर्म की उदार वृत्ति विश्वविख्यात है। विचारों की स्वतन्त्रता के फलस्वरूप भारतवर्ष में किसी प्रकार के मत या सम्प्रदाय को कदापि अवरुद्ध नहीं किया गया है और न इनके प्रचारकों या मतावलम्बियों को अन्य राष्ट्रों की तरह कभी दोषी ठहराया गया। जहाँ पाश्चात्य सभ्यता के इतिहास में गैलीलियो, स्पिनोज़ा आदि विचारकों को अपने मौलिक सिद्धान्तों के कारण असह्य यातनाओं को सहन करने के लिये विवश होना पड़ा वहीं भारतवर्ष में चार्वाक को भी ऋषि कहा गया है।

जैन दर्शन का भारतीय दर्शनों में अद्वितीय स्थान है और भारतीय दर्शन के प्रति जैन दर्शन और धर्म की जो देन है उससे भारतीय दर्शनों और धर्मों का महत्त्व और भी

अधिक बढ़ जाता है। हम इस बात पर पहले ही प्रकाश डाल चुके हैं कि पाश्चात्य दृष्टि की अपेक्षा भारतीय दृष्टि इस दिशा में अधिक महत्त्वपूर्ण है, इसमें मनुष्य की सामाजिकता की अपेक्षा उसकी नैतिकता, आध्यात्मिकता तथा धार्मिकता पर अधिक बल दिया गया है क्योंकि इसे ही उसकी सारी सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक संस्थाओं का आधार माना गया है। हम यह नहीं कह सकते कि हमारी सारी समस्याएँ एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं और एक का दूसरे के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। मनुष्य की चेतना एक है और एक यही चेतना सभी व्यापारों में अभिव्यक्त होती है। धार्मिक चेतना, नैतिक चेतना, पारलौकिक चेतना, राजनैतिक चेतना, आर्थिक चेतना ये सभी एक दूसरे से सम्बन्धित हैं, यद्यपि इनमें भिन्नता भी है। आवश्यकता उस प्रकार की व्यापक दृष्टि की होती है जिसमें ये सभी प्रश्न समाप्त हो जायें तथा जिसके द्वारा इन समस्याओं का समाधान हो जाये इस दृष्टि से जब हम भारतीय दर्शन के परिप्रेक्ष्य में जैन दर्शन और धर्म के स्वरूप पर विचार करते हैं तो यह तथ्य अनायास ही प्रस्तुत हो जाता है कि इसमें त्याग, संयम, शौच, ज्ञान, वैराग्य आदि के जो तत्त्व हैं उनका जैन दर्शन में बहुत अधिक महत्त्व है। हम यहाँ पर ऐतिहासिक समस्याओं का समाधान नहीं करना चाहते। हमारा प्रयोजन यह सिद्ध करना नहीं है कि जैन परम्परा अधिक प्राचीन है या हिन्दू परम्परा। भारतवर्ष के इतिहास में ऐसी बहुत सी समस्याएँ हैं जिनका समाधान इतिहास की दृष्टि से होना असम्भव है। महत्त्वपूर्ण बात आजकल हमारे सामने मानव समाज के और भारतीय जनसमुदाय के कल्याण की है। मूल प्रश्न हमारे सामने यह है कि कैसे भारतीय जनता को एक सूत्र से बाँधा जाये जिससे इनके विचार एक से हों। वास्तव में समाज का भी यही अर्थ है क्योंकि जब तक सभी व्यक्तियों में जीवन के उन आदर्शों के प्रति आस्था न होगी जो सबों के लिये उपयोगी हो तब तक समाज के प्रगति की ओर अग्रसर होने की तनिक भी सम्भावना नहीं हो सकती। पाश्चात्य देशों में भी आजकल समन्वयवादी (Ecumenism) प्रवृत्ति को बहुत अधिक प्रोत्साहन मिल रहा है और ईसाई धर्म के अन्तर्गत भी जितने सम्प्रदाय हैं वे आपस में एक साथ मिलकर इस प्रश्न पर विचार करने के लिये प्रवृत्त हो गये हैं कि वे कैसे एकता के सूत्र में बद्ध हो सकते हैं। हमारी समस्या भी आज यही है। भारतवर्ष में अनेक दर्शन, धर्म और सम्प्रदाय हैं, कौन दर्शन, धर्म या सम्प्रदाय किसकी अपेक्षा अधिक प्राचीन है या कौन किसकी अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है इस प्रकार के प्रश्न निरर्थक हैं। भारतीय संस्कृति एक है और यह सारे (प्रश्न) बहुपक्षीय हैं। भारतीय दृष्टि समन्वयवादी दृष्टि है जिस पर विदेशी विचारधाराओं का भी प्रभाव समय-समय पर पड़ता आ रहा है।

अतः मैंने प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि हिन्दू तथा जैन नैतिक आदर्शों में किस प्रकार समन्वय किया जा सकता है। यह प्रश्न हमारे सामने महत्त्व रखता है क्योंकि यद्यपि हिन्दू और जैन की नीति और आचार शास्त्र में बहुत अधिक समानता है फिर भी जैन दर्शन और धर्म की जो अपनी विशेषताएँ हैं उनके

बिना हिन्दू आचार और नीति को हम इसके विशुद्ध स्वरूप के सम्बन्ध में नहीं समझ सकते। भारत का इतिहास अत्यन्त ही प्राचीन है और अब तक जो कुछ भी इतिहास की सामग्री हमें प्राप्त हुई है उससे भारत के इतिहास को और भी अधिक प्राचीन मानने के लिये विवश होना पड़ता है। कुछ लोगों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वैदिक सभ्यता और जैन सभ्यता परस्पर विरुद्ध सभ्यता थी और इसीलिये जैन धर्म वैदिक सभ्यता के अत्यन्त ही प्रतिकूल और विपरीत है। निश्चय ही हम इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकते कि वैदिक युग में हिंसायुक्त यज्ञ नहीं किये जाते थे या हिंसायुक्त यज्ञ की प्रधानता नहीं थी, प्रत्युत वैदिक साहित्य में ही यत्र-तत्र अहिंसा के आदर्श के भी असंख्य प्रमाण उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में अग्नि की स्तुति की गई है, वह इस प्रकार है --

*अग्नेयं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि।*
*स इद्देवेषु गच्छति।।*

सायण भाष्य में आया है --

*कीदृशं यज्ञम्।*
*अध्वरं हिंसारहितम्*
*न विद्यते ध्वरोऽस्येति।*

अर्थात्

*हे अग्ने ! यम्-अध्वरं यज्ञं विश्वतः परिभूःअसि,*
*सः इद् देवेषु गच्छति।*

हे अग्नि ! जिस हिंसारहित यज्ञ के (तुम) चारों तरफ से व्याप्त करने वाले (होते) हो, वही (यज्ञ) देवताओं में पहुँचता है।[8]

इस स्तुति में भी हिंसा रहित यज्ञ की प्रशंसा की गई है। अतएव हिन्दू नीति तथा आचार और जैन नीति तथा आचार में मात्रा का भेद हो सकता है गुण का नहीं। यह सम्भव है कि वैदिक मत में जिस पक्ष पर कम बल दिया गया हो उस पर जैनियों और बौद्धों में अधिक बल दिया गया हो और इसी कारण हिन्दू सभ्यता धर्म और संस्कृति का कालान्तर में स्वरूप ही बदल गया हो। यह तो सर्वविदित है कि वैदिक युग में लोग साधारणतः यज्ञ, कर्मकाण्ड, आदि के द्वारा अपनी अभीष्ट सिद्धि में प्रवृत्त होते थे। यह नहीं कह सकते कि सभी व्यक्तियों की किस प्रकार की बहिर्मुखी प्रवृत्ति थी और इस प्रथा के विरोध में उपनिषदों में अचानक एक नई प्रवृत्ति उत्पन्न हो गई। वेदों में भी ज्ञान तथा वैराग्य के तत्त्व मिलते हैं और स्वाभाविक है कि उपनिषदों के युग में भी इन्हीं तत्त्वों का अधिक विकास हुआ हो और लोगों की दृष्टि में परिवर्तन होने के कारण उनकी प्रकृति में

भी सुधार हुआ हो। वेदों में यदि दीर्घ जीवन, सांसारिक ऐश्वर्य, सुख-सम्पत्ति आदि की कामना करने के प्रमाण मिलते हैं, तो उपनिषदों में ये रंचमात्र भी विद्यमान न हों, यह नहीं कहा जा सकता। उसी तरह उपनिषदों में कर्म संसार, मुक्ति, आदि के जो सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं, वे वैदिक साहित्य में नहीं हों, यह भी नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार हम यह भी कह सकते हैं कि मनुष्य के व्यक्तिगत आचार तथा आदर्श पर जो सबसे अधिक बल जैन दर्शन में दिया गया है वह बीज रूप में या संसार के रूप में हिन्दू धर्म या दर्शन में न हो, यह नहीं कह सकते लेकिन इसके साथ-साथ इस निष्कर्ष की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती कि अहिंसा, तप, सत्य, संयम, ज्ञान, वैराग्य, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य आदि व्यक्तिगत चरित्र के जो आदर्श जैन दर्शन और धर्म में उपलब्ध होते हैं, वे जैन दर्शन की ही विशेषताएँ हैं। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई से प्राप्त अवशेषों से यह बात प्रमाणित हो जाती है कि अत्यन्त ही प्राचीन काल से त्याग तथा संयम पर बल दिया जाता था। मोहन जोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में जो मूर्तियाँ मिली हैं उनमें भगवान शिव की भी एक मूर्ति है, जो उन्हें योग-मुद्रा में प्रस्तुत करती है। योग हिन्दू सभ्यता की विशेषता है। परन्तु जैन दर्शन में भी योग का बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। तप तथा संयम प्रधान जैन दर्शन में योग को स्वीकार न किया गया हो यह बात नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि इसके बिना जैन धर्म का स्वरूप ही नहीं समझा जा सकता, क्योंकि यह जैन दर्शन की रीढ़ की हड्डी है।

इस प्रकार जहाँ तक हिन्दू आत्मतत्त्वज्ञान और नीति तथा आचारविषयक पक्ष का प्रश्न है, हिन्दू तथा जैन दर्शन और धर्म में कोई विशेष भेद नहीं है लेकिन हमने प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि नीति तथा आचार की जितनी व्यापक और सांगोपांग व्याख्या जैन दर्शन में की गई है और जितनी गहराई तक जैनाचार्यों ने मानव जीवन के विभिन्न पक्षों पर विचार किया है, उसकी तुलना में हिन्दू विचारधारा अवश्य पीछे है। यह कहने में तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है कि कर्म का जो विवेचन जैन दर्शन में किया गया है तथा इससे सम्बन्धित आत्मतत्त्व के स्वरूप का जो सूक्ष्म विश्लेषण जैन दर्शन में पाया जाता है, हिन्दू दर्शन में उतनी सूक्ष्मता नहीं पायी जाती है। सारा जैन दर्शन और साहित्य हमारे नित्य प्रति के आचारविषयक सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन से भरा पड़ा है। हिन्दू दर्शनों तथा योग दर्शन में भी आत्मा के विज्ञान का विवेचन किया गया है, तथापि वह जैन दर्शन के आत्म-विवेचन से अत्यन्त अधिक है। अतः हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचने में तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं दीख पड़ती कि ये सारे निष्कर्ष अनुभव के ही परिणाम हैं। जैनाचार्यों के जीवनविषयक सही विचार आत्मानुभव से उत्पन्न हुए हैं। आत्मा के रहस्य का जैनाचार्यों ने जो उद्‌घाटन किया है वह अद्वितीय है। आधुनिक मनोविश्लेषणवाद के लिये जैन दर्शन में अपेक्षाकृत प्रचुर सामग्री मिलती है।

हिन्दू दर्शनों तथा जैन धर्म तथा दर्शन में भेद का विषय केवल ईश्वर विषयक ही

है परन्तु हिन्दू दर्शनों में भी सांख्य, मीमांसा आदि दर्शन, ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते परन्तु हिन्दू दर्शनों में भी जो दर्शन ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं वे भी तब तक मनुष्य को ईश्वर-भक्ति, ईश्वरोपासना के योग्य नहीं समझते जब तक उसे आत्मज्ञान न हो। विशिष्टाद्वैत वेदान्त में ईश्वर की भक्ति के लिये आत्म-ज्ञान को अनिवार्य माना गया है। ज्ञान-योग तथा आत्मज्ञान के बिना ईश्वर की सच्ची भक्ति या उपासना नहीं हो सकती। जैन दर्शन में आत्म-ज्ञान को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है और इसीलिये जैनियों का बौद्धों से मौलिक भेद है। बौद्धों के अनात्मवाद का जैनियों ने घोर खंडन किया है तथा आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि करने के साथ-साथ यह सिद्ध किया है कि चेतना आत्मा का अविच्छेद्य गुण है। कर्म का प्रभाव मनुष्य की चेतना पर पड़ता है और कर्म से चेतना भी मलिन हो जाती है। यह सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत वेदान्त और जैन दर्शन दोनों ही में प्रतिपादित किया गया है। वैष्णव दर्शन तथा जैन दर्शन के इतिहास से भी यही निष्कर्ष उपलब्ध होता है कि जैनियों का वैष्णवों पर और वैष्णवों का जैनियों पर पारस्परिक प्रभाव पड़ता रहा है।

"हिन्दू पुराणों में ऋषभ-चरित ने स्थान पाया है और उनके माता-पिता मरुदेवी और नाभि के नाम भी वही है जैसा जैन परम्परा मानती है और उनके त्याग और तपस्या का भी वही रूप है जैसा जैन परम्परा में वर्णित है और आश्चर्य तो यह है कि उनको वेद विरोधी मानकर भी विष्णु के अवतार रूप में बुद्ध की तरह माना गया है। यह इस बात का प्रमाण है कि ऋषभ का व्यक्तित्व प्रभावक था और जनता में प्रतिष्ठित भी। ऐसा न होता तो वैदिक परम्परा में तथा पुराणों में उनको विष्णु के अवतार का स्थान न मिलता।"[9]

जैन दर्शन के जो प्रामाणिक ग्रन्थ हैं, उनमें भी विष्णु के अवतारों का उल्लेख पाया जाता है। श्रीमद्भागवत में ऋषभदेव की जो चर्चा की गई है उन्हें विष्णु का नौवाँ अवतार माना गया है। ऋषभावतार ऋग्वेद के बहुत पहले हुआ था, उसी प्रकार राम, कृष्ण आदि अवतारों की भी चर्चा जैन साहित्य में की गई है। यहाँ यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि वैष्णव धर्म और जैन धर्म में अहिंसा का बहुत अधिक महत्त्व स्वीकार किया गया है। भगवान् ऋषभदेव जैनियों के प्रथम तीर्थंकर हैं उन्होंने अहिंसा का उपदेश दिया था जिसका उल्लेख श्रीमद्भागवत के 18वें स्कन्ध में भी किया गया है।" भगवान ऋषभदेव हिन्दुओं के भी पूज्य हैं। भागवत पुराण में ऋषभनाथ भगवान के विषय में यह कहा है कि वे आकाशरूपी वस्त्र को धारण करते थे और उन्होंने ज्ञान, भक्ति, वैराग्य से युक्त परमहंस धर्म जिसे आगे चलकर जैन धर्म कहा गया है, का उपदेश दिया था।

ऋषभदेव के ही ज्येष्ठ पुत्र भरत थे जिनके कारण यह देश भारतवर्ष कहलाता है। ऋषभदेव की चर्चा हिन्दू धार्मिक साहित्य में सर्वत्र की गई है जिसका यहाँ उल्लेख करने के लिये एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की ही आवश्यकता हो सकती है।

हिन्दू आचार तथा नीति एवं जैनाचार एवं नीति के नैतिक आदर्शों की क्या विशेषता है ? जैन आचारशास्त्र की हिन्दू आचारशास्त्र के प्रति क्या देन है ? इस पर अभी तक विचार बहुत कम हुआ है। इस दिशा में प्रस्तुत शोध प्रबन्ध सम्भवतः सर्वप्रथम प्रयास है। इसमें दोनों के वैशिष्ट्य, पारस्परिक-सम्बन्ध तथा अन्योन्याश्रयता को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है, क्योंकि सभी दार्शनिकों का अन्तिम लक्ष्य एक ही है, आत्मा को निःश्रेयस की प्राप्ति कराना।

**प्रेरणा**

हिन्दू तथा जैन नैतिक आदर्शों का अभी तक समीक्षात्मक अध्ययन सही रूप में नहीं हो पाया है। मैं हिन्दू तथा जैन साहित्य का अध्ययन करती रही हूँ। इसी क्रम में मैंने उनके नैतिक मूल्यों की जाँच परख के लिये उनकी आलोचनाओं और समीक्षाओं की तलाश की। जब शोध-कार्य करने की इच्छा मन में आई, तब मैंने श्रद्धेय गुरुवर डॉ० रमाशंकर श्रीवास्तव, युनिवर्सिटी प्रोफेसर एवं अध्यक्ष स्नातकोत्तर दर्शन-विभाग, राँची विश्वविद्यालय से अपनी इच्छा व्यक्त की। उन्होंने राय दी कि मैं डॉ० पाण्डेय ब्रह्मेश्वर विद्यार्थी, एम० ए०, पी-एच० डी० स्नातकोत्तर दर्शन विभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची के निर्देशन में कार्य करूँ और उसी का प्रतिफलन प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध "हिन्दू और जैन नैतिक आदर्शों का समीक्षात्मक अध्ययन" है।

सारे दर्शनों का सार यह है कि विश्व की विविधता तथा विभिन्नता का आधार एक ही विभुसत्ता है। इस विभुसत्ता के प्रत्यक्ष दर्शन तथा उसे जीवन में प्रकाशित देखने की आकांक्षा वाले लोगों ने योग-दर्शन को साकार किया। उसमें से निष्कर्ष यह निकला कि योगानुशासन के बिना मानव और विश्व के अस्तित्वगत सम्बन्ध का न ज्ञान होगा और न जीवन व्यवहार ही फलित होगा। इसलिए बौद्धदर्शन में कहा गया है कि जीवन का यथार्थ दर्शन प्रज्ञा और उपाय के सामंजस्य (हार्मनी) पर ही निर्भर है। चाहे जैन हों या बौद्ध, सांख्य हो या वेदान्त, इन सब दार्शनिक प्रस्थानों में योगानुशासन को ही महत्त्व दिया जाता है। यही भारत की संस्कृति में आत्मदर्शन तथा विश्व-दर्शन का अनुभव-सिद्ध मार्ग कहा गया है।

इस मार्ग पर अग्रसर मानव की दृष्टि समता-रस में इतनी सहज सूक्ष्म और तरल (फ्लेक्सिबल) हो जाती है कि सारे संघर्ष, सामंजस्य, आनन्द और सौन्दर्य में लीन हो जाते हैं और जीवन को विकृत करने वाले सारे मतवाद और संघर्ष अर्थ शून्य हो जाते हैं। जैन धर्म का अनेकान्तवाद या स्याद्वाद इसी का निर्देशक है जो न केवल परमत-सहिष्णुता ही जगाता है, परस्पर विरोधी विचारों में समन्वय भी स्थापित करता है।

आज सम्पूर्ण मानव धार्मिक विभिन्नताओं की भावना से त्रसित है। ऐसे समय में

समस्त मानव जाति के कल्याण एवं विश्व-शांति के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि हम सम्पूर्ण विश्व को एक कुटुम्ब माने, एक दूसरे के सुख-दुःख के भागीदार बनें, सर्व धर्म समभाव की भावना से हम पूर्णता की ओर बढ़ें और अनेकान्तवाद या स्याद्वाद के निर्देशन अनुसार परम सहिष्णुता को जाग्रत करें जो कि परस्परा विरोधी विचारों में समन्वय स्थापित करता है। ऐसी सम्यक् श्रद्धा से प्रेरित होकर यह शोध प्रबन्ध का विनम्र प्रयास है। यह तो स्पष्ट है कि मूल में आर्य संस्कृति का ही प्रतिरूप भारतीय संस्कृति के अंगों में प्रतिबिम्बित हो रहा है। वह आर्य चाहे वैदिक, जैन या बौद्ध हो अथवा ईसाई, पारसी या मुसलमान हो, एक स्वर से यह मानता है कि जीवन के लिये धर्म मुख्य है। धर्म का यही तकाजा है कि हम सब अहिंसक वीर बनकर धर्म का पालन करें, सन्तोष धारण कर आदर्श नागरिक बनें, राष्ट्र को उन्नत बनावें एवं विश्व शान्ति की स्थापना में सहयोगी बनें।

**प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध**

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की प्रस्तावना और परिशिष्ट को छोड़कर इसे सात अध्यायों में विभक्त किया गया है --

इस शोध कार्य के प्रथम अध्याय में यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि आदि काल से मानव अपने विकास के लिये प्रयत्नशील है। इसके लिए उसे प्रकृति से संघर्ष भी करना पड़ा। इस बात का प्रमाण पूर्वजों की कृतियाँ, भारत में आने वाले विदेशी यात्रियों के ग्रन्थ, हड़प्पा, मोहनजोदड़ो नगर के ध्वंसावशेष की खुदाई आदि देते हैं। उनसे यह भी मालूम होता है कि उस समय की संस्कृति काफी समुन्नत थी, अर्थात् उस समय भी लोग धर्म, कला, संगीत, व्याकरण, ज्यौतिष, शिक्षा, नैतिकता, साहित्य, दर्शन, वेश-भूषा, परम्परा, रीति, नीति, रुचि, विचार, रहन-सहन आदि के क्षेत्र में भी आगे थे पर वे सच्चा सुख, संसार में नहीं, निर्वाण में बताते थे। वास्तव में जीवन का प्रत्येक कार्य इस सच्चे सुख के लिये ही है। यहाँ की संस्कृति का लक्ष्य ही है "सत्यम् शिवं सुन्दरं" की प्रतिष्ठा। यहाँ की संस्कृति कहती है, "उतिष्ठत, जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।" भारतीय संस्कृति की यह परम्परा शुरू से रही है। भारतवासियों में आर्य, द्रविड़, पारसी, मुसलमान, ईसाई आदि की भी गणना है। ये धर्म एक दूसरे से कुछ बातों में भिन्नता रखते हुए भी मूल में एक हैं अर्थात्,बाह्य बातों में भले ही इनमें भिन्नता मिलती हो पर हृदय सभी का एक जैसा है।

शोध-प्रबन्ध का द्वितीय अध्याय समन्वयात्मक प्रवृत्ति की भावना को मन में रखते हुए लिखा गया है। यह तो ज्ञातव्य है कि भारतीय परम्परा तीन स्रोतों में बँटी हुई है। तीनों में क्रम शैली की दृष्टि से भिन्नता है जबकि तीनों का लक्ष्य एक ही है -- जीवन का सम्पूर्ण विकास। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये साधु और गृहस्थ दोनों ही प्रयत्नशील रहते हैं। सिर्फ दोनों में अन्तर इतना ही है कि साधु हिंसा आदि दोषों का मन, वचन और कर्म से पूर्ण त्यागी होता है जबकि गृहस्थ इन दोषों को स्थूल रूप से त्यागता है। प्राचीन

मानव इस आध्यात्मिक शान्ति के बल पर ही सुख प्राप्त करना चाहता था। यह जानकर कि सुख का मार्ग व्रत और संयम में है और संयम और व्रत ही जीवन है, आज भी सुख शान्ति के लिये, अपनी शक्ति और स्वतन्त्रता की तथा दूसरों के अधिकारों की रक्षा के लिये इनकी अत्यन्त आवश्यकता है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के तीसरे अध्याय में मोक्ष या निःश्रेयस् की महत्ता पर प्रकाश डाला गया है। निःश्रेयस पूर्णरूपेण कल्याणकारी होता है। आध्यात्मिक मान्यताएँ उस लक्ष्य तक पहुँचने में साथी का काम करती हैं। मोक्ष की प्राप्ति के बाद किसी वस्तु की प्राप्ति की आकांक्षा नहीं रह जाती है अर्थात्, इस अवस्था में समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है, पुनः नये कर्मों का बन्ध भी नहीं होता और जन्म-मरण, रोग, शोक, दुःख, भय आदि का चक्र हमेशा के लिये समाप्त हो जाता है।

प्रबन्ध का चतुर्थ अध्याय मानव को जैनधर्म के नैतिक आदर्श की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा देता है चूँकि मानव का स्वभाव है कि सुख की चाह करना और दुःख से दूर भागना। इसके लिये काफी प्रयत्नशील रहते हुए भी वह आत्म रूप विस्मृति के कारण पर पदार्थों में राग करता है, उनका संग्रह करता है, उनमें सुख पाने की असफल चेष्टा करता है। इस आत्म-अनात्म अविवेक के कारण दुःख से मुक्ति का उपाय उसे नजर नहीं आ पाता पर काल लब्धि के आगमन से उसे आत्मभान होता है, समस्त वस्तुओं की ठीक-ठीक जानकारी हो जाती है और पर पदार्थों से उसका मोह मन्द हो जाता है और उसे त्रिरत्न का महत्त्व मालूम होता है जिसमें अष्टांग योग का भी समावेश है। उस समय उसकी अन्तरात्मा स्व-परविवेक की उज्ज्वल ज्योति से आलोकित होने लगती है और वह आत्मिक शान्ति का अनुभव करता है।

प्रबन्ध के पंचम अध्याय में हिन्दू धर्म के नैतिक आदर्श की महत्ता बतायी गयी है। यहाँ कहा गया है कि दृश्य जगत् निःसार, अनित्य, क्षणभंगुर है जहाँ भोग-उपभोग रूपी पदार्थों का एक पल का भी ठिकाना नहीं है। यहाँ के सुखदायक प्रतीत होने वाले विषय सुख महान् दुःख उत्पन्न करने वाले हैं अतः मानव को इस असार संसार से मन हटाकर विरक्त होकर निष्काम भाव से अहिंसक हो, परमात्मा की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये। अहिंसा-तत्त्व, तत्त्वों में श्रेष्ठ है। अहिंसा धर्म जीव की उन्नति करके, उसे स्वर्गादिक के उत्तम सुखों को देकर परमात्मा बना देता है। इसका अभाव मानव को दुःख, शोक भोगने को बाध्य करता है।

शोध-प्रबन्ध के षष्ठ अध्याय में जैन-धर्म दर्शन एवं हिन्दू धर्म दर्शन में बताये गये प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का वर्णन किया गया है। जैन धर्म के दोनों सम्प्रदायों -- दिगम्बर एवं श्वेताम्बर, की बाह्य विभिन्नताओं एवं उनकी आन्तरिक एकता का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

प्रबन्ध के अन्तिम अध्याय में उक्त सभी अध्यायों का उपसंहार है। यहाँ हिन्दू और जैन नैतिक आदर्शों के द्वारा इस यन्त्रवादी विश्व में फैले हुए युद्ध (कलह, विद्वेष, अशांति, उत्पीड़न आदि) की समस्या का शान्ति के द्वारा समाधान का प्रयास है। इस समस्या की गुत्थी धर्म से ही सुलझ सकती है। धर्म का अर्थ धारण करना है। जैन परम्परा में वस्तु का अपने स्वयं के स्वभाव में स्थिर रहना ही धर्म है, जैसे जल का निर्मल, शीतल और निश्चल होना। इसी तरह आत्मा का स्वरूप चैतन्य एवं ज्ञानमय है, शेष सभी अवस्थाएँ पर हैं, संयोगाधीन हैं। अतः अपने स्वरूप का स्वामी बनने और पर का संसर्ग छोड़ने से ही आत्मा निज स्वरूप में स्थित होता है। पर का संसर्ग छोड़ने और स्वयं स्वभाव में स्थिर रहने की क्रिया से विश्व में सारी समस्याओं (कलह, अशान्ति, उत्पीड़न, विद्वेष आदि) का स्वयमेव अन्त हो जायेगा और शान्ति का साम्राज्य स्थापित होगा।

**प्रबन्ध की विशेषताएँ**

यदि इसे किसी अन्य रूप में ग्रहण न किया जाय तो प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में हिन्दू तथा जैन नैतिक आदर्शों का विस्तार से समीक्षात्मक अध्ययन किया गया है। प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रस्तुतीकरण में किसी प्रकार का पूर्वाग्रह नहीं है। इसमें तथ्यों का संकलन तथा प्रस्तुतीकरण वैज्ञानिक स्तर पर हुआ है। शोधकर्त्री ने अपने अध्ययन की प्रामाणिकता के लिये यथासम्भव समन्वयात्मक आधार पर मूल्यांकन किया है। हिन्दू तथा जैन नैतिक आदर्शों का विस्तृत प्रमाणिक एवं समीक्षात्मक अध्ययन का यह मौलिक प्रयास है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का स्वरूप ऐतिहासिक, सूचनात्मक और विश्लेषणात्मक तीनों ही है। इसमें तीनों का समन्वित रूप इसलिये है कि लेखिका किसी एक पद्धति को विश्वसनीय या सम्पूर्ण उपयोगी नहीं मानती। अतः इस शोध प्रबन्ध में हिन्दू और जैन नैतिक आदर्शों का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

## सन्दर्भ

The working converts instruments into ends, and ends into instruments. So all our society out's of gear, and no political alchemy can bring golden conduct out of leaden instincts. This is what Plato is really driving at in his Republic, which in spite of his deplorable nocturnal council, the protogype of Tarquemda and the Inqvistion, has been not unfairly called Christianity before Christ. It is the inside of the cup wich must be cleansed. 'Unless the cup is clean, whatever you pour into it turns sour'. So Horace tell us, so Plato tell us; and we ought to have learned it from the Gospels".

-- Mysticism in Religion, William Ralph, Inge, p.136.

2. Bible, p. 122, Mark, 7: 20-23

3. S.Radhakrishnan, p. 3: E. Religion and Western Thought.

4. Adonis and the Alphabet and other Essays -- Aldous Huxly, p. 42.

5. Man's mind, "Says Compricious", is more treacherous than mountains and rivers, and more difficult to know than the sky. For with the sky you know what to expect in respect of the coming of spring-summer, autumn and winter, and the alternation of day and night. But man hides his character behind an inscrutable appearance. There are those who appear tame and self-effacing, but conceal a terrible pride. There are those who have some special ability but appear to be stupid. There are those who are complain and yielding but always get their objective: Some are hard outside but soft inside, and some are slow without but impatient within. Therefore those who rush forward to the righteous things as if they were craving for it, drop it like something hot".

   -- Wisdom of Laotse : By Lin Yutang.,p.250.

6. "So then, anyone who hears these words of mine and obey them is like a wise man who built his house on rock. The rain poured down, the rivers, overflowed and the wind blew hard against that house. But it did not fall, because it was built on rock. "But anyone who hears those words of mine and does not obey them is like a foolish man who built his house on sand".

   -- Bible : p. 20, Matthew 7/24-26.

7. Contemporary Indian Philosophy : J. M. Muirhead, Foreword.

8. ऋग्वेद, 1/1/4

9. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग 1, संपा० पं० बेचरदास जी दोशी, पृ० 23

# प्रथम अध्याय

## (क) भारतीय सांस्कृतिक परम्परा : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

संस्कृति के इतिहास से मानव की प्रगति का परिचय मिलता है। मानव अपना विकास करने के लिये सतत प्रयत्नशील रहा है। उसने प्रकृति प्रदत्त वस्तुओं से सन्तुष्ट न रहकर अधिक से अधिक वस्तुओं को अपने लिये उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया है, ताकि उसे अधिक से अधिक सुख-सुविधाएँ प्राप्त हों। यह मनुष्य का सांस्कृतिक जीवन है। प्रकृति ही मनुष्य को उदारता, सहानुभूति, सहिष्णुता आदि का प्रथम पाठ पढ़ाती है क्योंकि प्राकृतिक दशा के अनुरूप मानव की आवश्यकताएँ होती हैं।

किसी देश की यथार्थ संस्कृति उसके बहिरंग पक्ष के ऊपर निर्भर नहीं रहती अपितु व्यक्ति की संस्कृति, नैतिक उच्च आदर्श, चित्त-शुद्धि, संयम, जीव-सेवा, परोपकार तथा सर्वभूतहितसाधन की इच्छा, सन्तोष, दया, चरित्रबल, स्वधर्म में निष्ठा, परधर्म-सहिष्णुता, मैत्री, करुणा, प्रेम, सद्विचार प्रभृति सद्गुणों का विकास और काम, क्रोधादि रिपुओं के नियन्त्रण के ऊपर निर्भर करती है। व्यक्तिगत धर्म, सामाजिक धर्म, राष्ट्रीय धर्म, जीवसेवा, विश्वकल्याण प्रभृति गुण आदर्श संस्कृति के अंग हैं। नैतिक, आध्यात्मिक तथा दिव्य जीवन का आदर्श ही संस्कृति का प्राण है। ज्ञान रहने पर मौन रहना, शक्तियुक्त रहने पर क्षमा एवं त्याग रहने पर प्रशंसा से विमुखता, ये आदर्श उच्च संस्कृति के द्योतक हैं।[1]

संस्कृति, संस्कार और संस्क्रिया शब्दों का प्रयोग बहुत पहले से होता आया है। संस्कृत के कुछ विद्वानों ने व्युत्पत्ति की दृष्टि से "सम्" उपसर्गपूर्वक "कृ" धातु लगाकर "क्तिन्" प्रत्यय जोड़ देने से "संस्कृति" बन जाता है, ऐसा माना है। "संस्कृति" के कई अर्थ होते हैं -- जैसे, शिक्षित करना, सभ्य बनाना, संवारना, सजाना, सुधारना या पूर्ण बनाना आदि-आदि। अंग्रेजी शब्द, "कल्चर" संस्कृति का पर्याय माना जाता है, जिसकी व्युत्पत्ति लैटिन शब्द, "कुलतए" से है। "कुलतए" का अर्थ मानसिक शक्ति या नई चेतना का प्रादुर्भाव है।

भारतीय संस्कृति का परिचय भारत में आने वाले विदेशी यात्रियों के ग्रन्थों से मिलता है। हमारे पूर्वजों की कृतियाँ, साहित्य, शिलालेख, ताम्र-पट्ट, मुद्रा, शिल्प, अस्त्र-शस्त्र आदि अनेक रूपों में मिलती हैं। आज से लगभग 4000 वर्ष पहले सिंध प्रदेश में हड़प्पा और मोहनजोदड़ो नगर बसे हुए थे, इन नगरों के ध्वंसावशेषों की खुदाई से ऐसी

अनेक सामग्रियाँ मिली हैं[2] जो सिंधु-सभ्यता के पहले की भारतीय संस्कृति का परिचय देती हैं।

प्रत्येक राष्ट्र की एक अपनी संस्कृति होती है जिसका निर्माण असंख्य वर्षों में सम्पन्न होता है। उस संस्कृति की रक्षा करने के लिए ही कोई राष्ट्र मानों जीता और मरता है क्योंकि यदि संस्कृति ही नहीं रही तो राष्ट्र की सत्ता का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। प्रत्येक देशवासी का कर्त्तव्य है कि वह अपने राष्ट्र की संस्कृति के संरक्षण और संवर्धन में सक्रिय भागीदार बने।

भारतीय संस्कृति भारतवर्ष के निवासियों की संस्कृति है। इस संस्कृति की धारा वैदिक काल से आज तक नित्य विकास करती हुई नानाविध काव्य, शिल्प, कला और सामाजिक उपलब्धियों की जन्मदात्री है। यहाँ की संस्कृति संसार की अन्य संस्कृतियों से अनेक बातों में उत्कृष्ट है। महात्मा गाँधी का मत है कि कोई संस्कृति इतने रत्न-भंडार से भरी हुई नहीं है जितनी हमारी अपनी संस्कृति है। हमने उसे जाना नहीं है, हमें तो उसके अध्ययन को तुच्छ मानना और उसका मूल्य कम करना सिखाया गया है। हमने उसके अनुसार जीवन बिताना छोड़ दिया है।

कुछ लोग आर्य संस्कृति को भारतीय संस्कृति की संज्ञा देते हैं तो कुछ इसे हिन्दू धर्म का विश्वास और रूढ़िगत मान्यताओं का पर्याय भी समझते हैं।[3] भारत के प्राचीन अर्थात्, मूल निवासी आर्य के साथ-साथ द्रविड़ भी थे। आर्य उत्तर में मुख्यतया सिन्धु नदी के तटवर्ती प्रदेश में रहते थे। इनकी धर्म-कर्म की मर्यादा अनार्यों से भिन्न एवं विवेकपूर्ण थी।[4] द्रविड़ दक्षिण भारत के मूल निवासियों में से थे। इनमें उत्तरीय आर्यों जैसी सभ्यता और विवेक विद्यमान था। पाश्चात्य पुरातत्त्वविदों ने आर्यों का मूल निवास एशिया खण्ड के मध्य भाग में स्थित बेलुतांग और सुशतांग की पश्चिम पार्श्वगत उपत्यका भूमि को बताया है। उनके मतानुसार आर्यगण भारत से बाहर मध्य एशिया में आकर बसे किन्तु भारतीय मान्यता आर्यों का मूल निवास सप्तसिंधु प्रदेश ही बताती है। इस प्रदेश में वर्तमान अफगानिस्तान, बलूचिस्तान, पंजाब और सिन्धु प्रदेश आ जाते हैं। हड़प्पा[5] (पंजाब), मोहनजोदड़ो (सिंधु देश) और बलूचिस्तान के कई खण्डहरों से मिली पाँच हजार वर्ष पहले की पुरानी वस्तुओं से आर्य लोगों का वहाँ रहना प्रमाणित है। सिन्धु[6] उपत्यका में उस समय शिव और जिनेन्द्र तथा श्रीं, ह्रीं, क्लीं आदि तान्त्रिक[7] देवताओं की पूजा प्रचलित थी। योगाचार ही उस समय का मुख्य धर्मानुष्ठान था।

हड़प्पा को विद्वान वेदवर्णित हयुरोपिया नगर ही मानते हैं।[8] अतः आर्यों की गणना भारतवासियों में करना उचित है। भारतवासियों में आर्य, द्रविड़, पारसी, मुसलमान, ईसाई आदि सभी आते हैं। अतः भारतीय संस्कृति में इन सभी की संस्कृतियाँ भी सम्मिलित हैं।

संस्कृति के अन्तर्गत धर्म-सिद्धान्त, कला, संगीत, व्याकरण, ज्योतिष-शिक्षा, नैतिकता, साहित्य, दर्शन, वेश-भूषा, परम्परा, रीति-नीति, रुचि, विचार, रहन-सहन आदि सभी आते हैं।

आदिकाल में महर्षियों ने जन कल्याण के निमित्त ही धर्म की स्थापना की थी। लोक और परलोक दोनों में मानव का कल्याण हो, यह सोचकर धर्म-संस्था की स्थापना हुई। धर्म, पदार्थ या वस्तु का लक्षण है। जिसके आधार पर किसी के वास्तविक स्वरूप को समझा जाता है, वही उसका धर्म है। जैसे अग्नि का धर्म है ताप, सर्प का धर्म है दंश, बिच्छू का धर्म है डंक मारना, दीपक का धर्म है प्रकाश करना आदि-आदि। अपनी क्षमता या शक्ति के आधार पर जो प्रजा को धारण करे, वही धर्म है।[9] महर्षि कणाद ने धर्म के लिये कहा है--

*लोकयात्रार्थमिवेह धर्मस्य नियमः कृतः।*
*उभयत्र सुखोदर्क इह चैव परत्र च।।*[10]

आचार-व्यवहार, पूजा और साधना पद्धति, कर्मकाण्ड की विविधता इन सारे तथ्यों की भिन्नता होते हुए भी सभी धर्म एक ही लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हैं। यहाँ "नदियाँ एक, घाट बहुतेरे" वाली बात चरितार्थ होती है।

"आर्य संस्कृति में धर्म ही मनुष्य-जीवन का मुख्य अंग माना गया है। समाज-व्यवस्था, राजनीति आदि वैयक्तिक और सामूहिक जीवन के सभी पक्षों में धर्म ही आगे रहता था। आर्य 'भोग के भूखे नहीं' योग के आकांक्षी रहे हैं। भोग विलास की प्रचुर सामग्री होते हुए भी उसका त्याग करना आर्य वीर का कौतुक है।"[11] अनेक प्रकार की मिट्टी की मूर्तियाँ उस समय का इतिहास प्रस्तुत करती हैं। मूर्तियों की अनेक मुद्राएँ धर्म-साधना की पद्धति की रूपरेखा कह रहीं हैं। मातृदेवी की मूर्तियाँ प्रायः नग्न हैं। कटि के नीचे एक कपड़ा चित्रित कर दिया गया है। सूर्य, चन्द्र, वर्षा, आँधी, तूफान सभी की पूजा होती थी। इनके देवता बहुत थे। स्वर्ग-नरक, जादू-टोना, झाड़-फूंक, मंत्र आदि में ये पूरा विश्वास करते थे। नृत्य, संगीत, वाद्ययन्त्र आदि के सहारे उन पर ये विजय प्राप्त करते थे। सिंधु सभ्यता में वृक्षोपासना का महत्त्व वहाँ की खुदाई से प्राप्त मुद्राओं पर अंकित वृक्ष या पत्तियों से ज्ञात होता है। पीपल, वट, अशोक, आँवला आदि वृक्षों की पूजा आज भी होती है।

आर्यों की संस्कृति धर्म प्रधान थी। इन लोगों ने धर्म को आचार-विचार के साथ-साथ सैद्धान्तिक मान्यताओं से भी जोड़ा। इस तरह धर्म के दो प्रकार हैं -- प्रथम रूप में धर्म दार्शनिकरीत्या मानव बुद्धि के तर्क-वितर्क की वस्तु रह जाता है। द्वितीय रूप में वह उसे आचार प्रधान बनाता है।

दार्शनिक रूप में वैदिक, जैन, बौद्ध, पारसी, ईसाई, इस्लाम आदि धर्म परस्पर एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी मूल सिद्धान्त में प्रायः एकमत हैं। वे एक स्वर से इस आर्य सत्य को प्रकट करते हैं कि जीवात्मा शरीर में कैद हुआ संसार में रोता और दुःख उठाता है। जीवात्मा को उस दुःख से छुड़ाकर धर्म उसे शाश्वत सुख प्राप्त कराता है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है --

*"वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।*
*तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।"*[12]

अतः इन्द्रियों के विषय से ममत्व त्यागने वाला निर्वाण पाता है। ऐसा निर्मोही योगी ही सारे लोक का स्वामी होता है क्योंकि वह बन्धनमुक्त, असीम, अनन्त एवं पूर्ण हो जाता है। जैनाचार्य इसलिये ये भावना भाते हैं --

*"शरीरतः कर्तुमनन्तशक्तेर्विभिन्नमात्मानमपास्तदोषम्।*
*जिनेन्द्र-कोषादिव खड्गयष्टिं तव प्रसादेन ममास्तु शक्तिः।।"*[13]

'धम्मपद' में बौद्ध गुरु भी इसी तत्त्व का निरूपण करते हुए कहते हैं कि विवेक दृष्टि से शरीर को बुदबुदे के समान नश्वर जानकर मृत्यु के बाणों को नाशकर, हे विलक्षण! और उस साम्राज्य को प्राप्त कर जहाँ मृत्यु का पता नहीं है।

भारतवासी कला और विद्या में भी पारंगत थे। जीवन में इन्होंने कभी अर्थ को प्रमुख स्थान नहीं दिया बल्कि सभ्यता के लिये शान्त और शिष्ट जीवन-कला को उन्नत बनाया। मोहनजोदड़ो के भग्नावशेषों से यह पता चलता है कि अपने समय में कला समुन्नत थी। वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला, काव्यकला आदि सभी चरम शिखर पर थे। आज भी हम देखते हैं कि शिल्पी और कलाकार प्रकृति से उपादानों को ग्रहण करके उसके सौन्दर्य की अभिव्यंजनाओं को चित्र, मूर्ति, वस्तु और काव्य आदि के द्वारा प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं।

संस्कृति के अन्तर्गत शिक्षा भी आती है। शिक्षा का संस्कृति से गहरा सम्बन्ध है। किसी भी देश की आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रगति का मूल्यांकन शिक्षा के द्वारा ही संभव है। प्राचीन काल की शिक्षा में इन सारे तत्त्वों का समावेश था। शास्त्र के साथ शस्त्र की भी शिक्षा दी जाती थी। मनसा, वाचा, कर्मणा सभी तरह से लोग पूर्ण रूप से सन्तुलित होते थे। वर्ण के अनुसार शिक्षा का महत्त्व था। ब्राह्मण पूर्ण रूप से शास्त्रज्ञ होते थे। फिर भी उन्हें शस्त्रविद्या का इतना अभ्यास और ज्ञान होता था कि समय आने पर वे अपनी और देश की रक्षा कर सकते थे। वर्ण व्यवस्था के अनुसार शिक्षा मिलने में सबसे बड़ा लाभ यह होता था कि पैतृक व्यवसाय में सहज रूप से सभी कुशल हो जाते थे।

"उपनिषद् काल में भी जीवन में उन की उपयोगिता को ध्यान में रखकर विभिन्न

विषयों का अध्ययन कराया जाता था। उस काल में प्रमुख विषय थे -- ज्योतिष, नक्षत्रविद्या, प्राकृतिक-भूगोल, सर्प-विद्या, तर्कशास्त्र, दर्शनशास्त्र, प्राणिशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और नीतिशास्त्र आदि। व्यावहारिक दृष्टि से मूर्ति, भवन-निर्माण की शिक्षा, पशुपालन, चिकित्सा, धर्मविद्या, कृषि आदि शिक्षा का अधिक महत्त्व था।[14] शिष्य की योग्यतानुसार ही उसे ज्ञान दिया जाता था।

संसार में हजारों भाषाएँ देखने को मिलती हैं और सभी विकासशील हैं। इसके पीछे मनुष्य के विकास की परम्पराएँ जुटी हुई हैं। मनुष्य अपने प्रारम्भिक जीवन में मात्र संकेतों से काम लेता होगा। फिर एक विशेष वस्तु के लिये विशेष नाम दिया होगा। मोहनजोदड़ो-हड़प्पा की संस्कृति का अवशेष गुजरात, यमुना की उपत्यका और बलूचिस्तान में मिलता है। यहाँ की लिपि में ऐसी भाषा का प्रयोग भी उपलब्ध है जिसके बारे में आज तक कुछ पता नहीं चल सका है। आर्य परिवार की भाषाएँ ईरान, अफगानिस्तान से लेकर पूरे यूरोप में फैली हुई हैं। भारत और यूरोप को मिलाकर यूरोपीय परिवार बना लिया गया है। भारतीय परिवार की मुख्य तीन भाषाएँ हैं -- ईरानी, दरद और भारतीय आर्य भाषा। उनका भाषा ज्ञान अद्वितीय था। जब भाषा का विकास हो जाता है तब उसे व्याकरण के नियमों में बाँधकर निश्चित कर दिया जाता है। इस तरह से संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और पालि भाषाएँ बनीं। पालि गढ़ी हुई भाषा है और प्राकृत स्वच्छन्द। ऐसा भी कह सकते हैं कि पालि नहर की धारा है तो प्राकृत निर्झर का प्रवाह। इस तरह धीरे-धीरे बहुत सी भाषाएँ एक-एक कर निकलती गयीं। आज यहाँ 845 बोलियाँ और भाषाएँ हैं, जितनी किसी देश में नहीं।

जीवन की पवित्रता पर भी आर्यों ने काफी ध्यान दिया है। उनका ध्येय था परमार्थ अर्थात् परमात्मपद को प्राप्त करना। उन्होंने अपने ध्येय को प्राप्त करने में काफी विवेक से काम लिया और जन्म से मरण पर्यन्त अपने ध्येय को सफल बनाने का उद्योग भी किया। भारतीय संस्कृति में व्यक्ति का चरित्र ही उसको महान् बनाता है। यह बात सभी को मान्य है। इसी तरह पापात्मा से छूटने की इच्छा रखने वाले को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान शक्ति की उपासना करनी चाहिये, जहाँ उनके लिये सुख ही सुख है। ऐसा ही हजरत मुहम्मद ने भी कहा है कि मुसलमानों के लिये यह संसार एक कैदखाना है और कैद के समान है जब वे उसे छोड़ते हैं तो यह कहो -- वे कैद और कैदखाने को छोड़ते हैं, सांसारिक प्रेम ही सारे पाप की जड़ है।[15] वे फिर कहते हैं-- "तू" (आत्मा) ही है। जा, अपने को पहचान। नफ्स (इन्द्रिय) और शैतान शुरू से ही एक हैं। ये मनुष्य के दुश्मन हैं, ईर्ष्यालु हैं। अक्ल की अक्ल और जान की जान तू खुद ही है। सारी दुनिया की अक्ल और जान का सुल्तान तू ही है। अक्लें खुद भी तुझको देख कर हैरान होती हैं कि जुल्मे मौजूदात तेरे जेर फर्मां है[16] इसलिये वहरसफा मैं फ़रमाया है कि मेरे चोंगे (शरीर) में सिवाय खुदा (परमात्मा) के और कोई नहीं है।[17]

इस प्रकार ब्राह्मण, जैन, बौद्ध, पारसी, ईसाई आदि सभी अपनी मूल संस्कृति में एकमत उतरते हैं। भारतीय संस्कृति के अनुसार सच्चा सुख संसार में नहीं निर्वाण में है। शरीर और उसकी वासनाओं में नहीं, आत्मा में है। अतः जीवन का प्रत्येक कार्य इस सच्चे सुख के लिये होना चाहिये। भारतीय संस्कृति में आचारधर्म दो तरह के कहे गये हैं-- (1) साधुओं का और (2) गृहस्थों का। साधु और गृहस्थ दोनों का मार्ग एक है पर दोनों में अन्तर इतना ही है कि साधु कठिन परिश्रम से ध्येय को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं जब कि गृहस्थ आंशिक रूप से। ब्राह्मण संस्कृति इसकी सिद्धि ज्ञान और ध्यान द्वारा बताती है।[18] जब कि जैनी -- "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"[19] बताते हैं। बुद्ध का अष्टांग-मार्ग भी उसी दिशा की ओर संकेत करता है -- "Best is the Eight fold path"[20]। पारसी भी जैनों की तरह रत्नत्रय धर्मरूप सुखमार्ग मानते हैं। ईसाईयों ने भी उसे वैसे ही माना है। जॉन का उपदेश है -- "I am the way, the truth and the life". मैं (आत्मा) ही मार्ग (श्रद्धा) तत्त्व (ज्ञान) और जीवन (चरित्र) हूँ।[21] अन्ततः आत्मा में लीन हो सच्चिदानन्द को पाना है। साधु और गृहस्थ के लिये (1) अहिंसा (2) सत्य (3) आचार (4) शील और (5) अपरिग्रह व्रतों का पालन करना आवश्यक है। जैन धर्म में भी वही व्यक्ति जैनी माना गया है जो उपर्युक्त व्रतों का पालन करे और वह मद्य-मांस, मधु का त्यागी होता है।[22] इस प्रकार भारतीय संस्कृति में आचार धर्म का एक रूप हमें मिलता है।

श्रद्धा, आस्था एवं निष्ठा हमारी संस्कृति की ओर संकेत करती है। तर्क और बुद्धि मार्ग निर्देश करती है। मानवता का कल्याण हमारी संस्कृति का परमलक्ष्य और आदर्श है।

भारत बहुत बड़ा देश है। यहाँ तीन सौ से भी अधिक जातियाँ हैं। संसार के सभी धर्मों के अनुयायी यहाँ रहते हैं। देशगत भूमि की विविधता, खान-पान, वेश-भूषा का अन्तर सभी को अपने में समेटती हुई भारतीय संस्कृति की धारा बह चली और भागीरथी की तरह पवित्र और स्वनामधन्य हुई। लेखक की धारणा इस सम्बन्ध में इस तरह है -- जिस प्रकार नदियों और नालों का जल गंगा में मिलकर गंगाजल हो जाता है, उसी प्रकार विभिन्न जातियों, धर्मों, सभ्यताओं और सांस्कृतिक चेतना का भव्य निर्माण हुआ है।[23]

यहाँ की विभिन्न बोलियों एवं धर्मों को देखकर यदि कोई यह कहे कि भारत एक देश नहीं अनेक देशों का समूह है। यह एक जाति नहीं, वरन् जातियों का समूह है तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। इन विभिन्नताओं की तह में ऐसी समता और एकता है जो अन्य विभिन्नताओं को ठीक उसी तरह पिरोकर एक समूह बना देता है जैसे रेशमी धागा विभिन्न प्रकार और विभिन्न रंग की सुन्दर मणियों या फूलों को पिरोकर एक सुन्दर हार तैयार कर देता है, जिसकी प्रत्येक मणि या फूल दूसरों से न तो अलग है और न हो

सकती है। यह केवल अपनी सुन्दरता से लोगों को मोहता ही नहीं बल्कि दूसरों की सुन्दरता से वह स्वयं सुशोभित होता है और उसी तरह अपनी सुन्दरता से दूसरों को भी सुशोभित करता है। ये केवल एक काव्य की भावना नहीं है बल्कि ऐतिहासिक सत्य है जो हमारे बरसों से अलग-अलग अस्तित्व रखते हुए अनेकानेक जल प्रवाहों का संगम स्थल बनकर एक प्रकाण्ड और प्रगाढ़ समूह के रूप में भारत में व्याप्त है जिसे भारतीय संस्कृति का नाम दे सकते हैं। इन अलग-अलग नदियों के उद्‌गम भिन्न-भिन्न हो सकते हैं और रहे हैं और इनकी धाराएँ भी अलग-अलग बही हैं और प्रदेश के अनुसार ये भिन्न-भिन्न प्रकार के अन्न और फल-फूल पैदा करती रही हैं, पर सभी नदियों में एक ही शुद्ध, सुन्दर, स्वस्थ, शीतल जल बहता रहा है जो उद्‌गम और संगम में एक ही हो जाता है। इसी तरह से भारत ने भिन्न-भिन्न देशों की संस्कृतियों को अपने में मिलाया और अपने को उनमें मिलने दिया। यहाँ देश और विदेश में एकसूत्रता तलवार के जोर से नहीं, बल्कि प्रेम और सौहार्द से स्थापित की गयी है अर्थात्, हमारी सम्पूर्ण संस्कृति का मूलाधार अहिंसा या त्याग पर स्थापित रहा है। भारत लोक-तंत्र की भावना से सर्वदा ओत-प्रोत रहा है, यहाँ की जनता में --

*"सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।*
*सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।।"*[24]

की भावना रही है।

"भारतीय संस्कृति की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता तो यह है कि इसने मनुष्य को कभी दुर्बल नहीं समझा। मनुपुत्र ईश्वर का जाग्रत रूप है, शक्तिमान् है, श्रमशीलता इसका पर्याय है। सूर्य आदर्श है जो गतिशील है। 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' की प्रतिष्ठा और कल्याण का मार्ग सभी के लिये प्रस्तुत करना हमारी ही संस्कृति का लक्ष्य है। संस्कृति कहती है कि "उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।" उठो, जागो और लक्ष्य की प्राप्ति के लिये आगे बढ़ो।[25] हमारी संस्कृति सतत प्रयत्नशील रही है। आज भी उसमें यह शक्ति है कि वह भारत को विश्व राष्ट्र मण्डल में अपनी सर्वोत्तम प्रतिभा से नेतृत्व करने की योग्यता प्रदान करे।

## (ख) वैदिक परम्परा में जैन तीर्थंकरों का स्थान

जैन धर्म में मान्य तीर्थंकरों का अस्तित्व वैदिक काल के पूर्व भी विद्यमान था। उपलब्ध पुरातत्त्व-सम्बन्धी तथ्यों के विश्लेषण से यह सिद्ध होता है कि तीर्थंकरों की परम्परा अनादिकाल से विद्यमान है। वेदों में ऋषभदेव, सुपार्श्व, अरिष्टनेमि, महावीर आदि तीर्थंकरों का उल्लेख किया गया है। इसकी पुष्टि राष्ट्रपति डॉ० एस० राधाकृष्णन[26], डॉ० अल्ब्रेटवेब[27], प्रो० विरूपाक्ष वाडियर[28], डॉ० विमलाचरण लाहा[29], प्रभृति विद्वज्जन भी

करते हैं। प्रो० विरूपाक्ष वाडियर वेदों में जैन तीर्थंकरों के उल्लेखों का कारण उपस्थित करते हुए लिखते हैं -- "प्रकृतिवादी मरीचि ऋषभदेव का परिचायक था। उसके तत्त्वानुसार होने के कारण ही ऋग्वेद आदि ग्रन्थों की ख्याति उसी के ज्ञान द्वारा हुई है। फलतः मरीचि ऋषि के स्तोत्र वेद, पुराण आदि ग्रन्थों में हैं और स्थान-स्थान पर जैन तीर्थंकरों का उल्लेख पाया जाता है। कोई ऐसा कारण नहीं है कि हम वैदिक काल में जैन-धर्म का अस्तित्व न मानें।[30] क्योंकि वैदिक वाङ्मय में वातरशनामुनियों, केशी मुनि और व्रात्य-क्षत्रियों के उल्लेख आये हैं जिनसे यह स्पष्ट है कि पुरुषार्थ पर विश्वास करने वाले धर्म के प्रगतिशाली व्याख्याता तीर्थंकर प्रागैतिहासिक काल में भी विद्यमान थे। ऋग्वेद में वातरशना मुनियों के सम्बन्ध की ऋचाएँ आती हैं। ये ऋचाएँ ऋषभदेव के जीवन से सम्बन्धित प्रतीत होती हैं। वस्तुतः वातरशनामुनियों को धर्म का उपदेश ऋषभदेव से प्राप्त हुआ होगा। इन ऋचाओं में मुनियों की साधना का वर्णन आया है।[31] लिखा है --

*"मुनयो वातरशनाः पिशंगा वसते मला।*
*वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत।।*
*उन्मदिता मौनेयेन वातॉं आ तस्थिमा वयम्।*
*शरीरेदस्माकं यूयं मर्तासो अभि पश्यथ।।"*[32]

ऋग्वेद में केशी की भी स्तुति प्राप्त होती है। ये केशी साधना युक्त होते हैं। लिखा है--

*"केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी।*
*केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते।।"*[33]

'ऋग्वेद' के केशी और वातरशनामुनियों की साधनाओं का भागवतपुराण में उल्लिखित ऋषभ की साधनाओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि 'ऋग्वेद' के वातरशनामुनियों और भागवत के वातरशनाश्रमण एक ही सम्प्रदाय के वाचक हैं। केशी का अर्थ केश धारी है। ऋषभ वातरशनामुनियों के अधिनायक थे ऐसा प्रतीत होता है और इनकी साधना में मल-धारणा, मौनव्रत और उन्माद भाव का विशेष उल्लेख है। 'श्रीमद्भागवत' में ऋषभदेव की जिस वृत्ति का वर्णन आया है उससे स्पष्ट है कि वे केशधारी अवधूत के रूप में विचरण करते थे।[34]

जैन मूर्तिकला में ऋषभदेव के कुटिल केशों की परम्परा प्राचीन काल से देखने में आ रही है। 24 तीर्थंकरों में से केवल ऋषभदेव की मूर्ति के सिर पर ही कुटिल केश दिखायी पड़ते हैं। 'पद्मपुराण' में ऋषभदेव की जटाओं का उल्लेख आया है और 'हरिवंश-पुराण' में उन्हें प्रलम्बजटाधारी बताया है। इन बातों में ऋषभदेव का नाम 'केशी' सार्थक प्रतीत होता है। 'ऋग्वेद' में एक ऐसी ऋचा उपलब्ध है जिसमें केशी और ऋषभ दोनों का उल्लेख है, जैसे --

*"ककर्दवे वृषभो युक्त आसीदवावचीत्सारथिरस्य केशी।।*
*दुधेर्युक्तस्य द्रवतः सहानस ऋच्छन्ति ष्मा निष्पदो मुद्गलानीम्।।"*[35]

मुद्गल ऋषि के सारथि (विद्वान नेता) केशी वृषभ जो शत्रुओं के विनाश के लिये नियुक्त थे उनकी वाणी निकली, जिसके फलस्वरूप जो मुद्गल ऋषि की गौएँ (इन्द्रियाँ) जुते हुए दुर्धर रथ के साथ दौड़ रही हैं वे निश्चल होकर मोद्गलानी (मुद्गल की स्वात्मवृत्ति) की ओर लौट पड़ीं।

हम कह सकते हैं कि इस ऋचा का आध्यात्मिक अर्थ यह है कि मुद्गल ऋषि की जो इन्द्रियाँ पराङ्मुख थीं वे उनके योगयुक्त ज्ञानी नेता केशी वृषभ का धर्मोपदेश सुनकर अन्तर्मुख हो गयीं। अतएव इससे यह स्पष्ट है कि 'ऋग्वेद' में जो केशी शब्द आया है वह ऋषभदेव के उल्लेख का सूचक है। डॉ0 हीरालाल जी जैन ने लिखा है -- "इस प्रकार 'ऋग्वेद' में उल्लिखित वातरशनामुनियों का निर्ग्रन्थ साधु तथा उन मुनियों के नायक केशी मुनि का ऋषभदेव के साथ एकीकरण हो जाने से जैनधर्म की प्राचीन परम्परा पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। केशी नाम जैन परम्परा में प्रचलित रहा है। इसका प्रमाण ये है कि महावीर के समय में पार्श्व-सम्प्रदाय के नेता का नाम केशी कुमार था।[36]

ऋग्वेद के 10वें मंडल के 136वें सूक्त में 'वातरशना' शब्द द्वारा नग्नमुनियों का स्मरण किया गया है। वातरशना शब्द का अर्थ -- "दिग्वासा वातारशनो निर्ग्रन्थेशो निरम्बरः।" अर्थात् दिगम्बर निर्ग्रन्थ मुनि को वातरशना कहा गया है।[37]

अतः प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और चक्रवर्ती भरत जैन परम्परा में श्लाघ्य पुरुष और मानवीय संस्कृति के आदि-सूत्रधार के रूप में माने गये हैं। वैसे ही वैदिक परम्परा में कहा गया है कि स्वयं ब्रह्मा ने ऋषभदेव के रूप में आठवाँ अवतार ग्रहण किया था, जैन परम्परा की तरह वहाँ भी ऋषभ पुत्र भरत अपने सौ भाइयों में ज्येष्ठ, शासन सूत्र के संचालन में परम निपुण तथा निवृत्ति परायण माने गये हैं। 'श्रीमद्भागवत' में अवतारों का वर्णन करते हुए बताया गया है --

*"अष्टमे मेरुदेव्यां तु नाभेर्जात उरुक्रमः।*
*दर्शयन् वर्त्म धीराणां सर्वाश्रमनमस्कृतम्।।"*[38]

'मनुस्मृति' ने यह माना है कि आदिनाथ (ऋषभ) के स्मरण मात्र से अड़सठ तीर्थों में यात्रा करने के बराबर फल प्राप्त होता है।

*"अष्टषष्टिषु तीर्थेषु यात्रायां यत्फलं भवेत्।*
*श्रीआदिनाथदेवस्य स्मरणेनापि तद्भवेत्।।"*

'मार्कण्डेयपुराण', 'कूर्मपुराण', 'वायुपुराण', 'अग्निपुराण', 'ब्रह्माण्डपुराण', 'वराह-पुराण' ( नाभिमरुदेव्यां पुत्रं जनयत् ऋषभनामानं तस्य भरतः पुत्रश्च )[39] लिंगपुराण,

विष्णुपुराण, स्कन्दपुराण, (नाभेः पुत्रश्च ऋषभः ऋषभाद् भरतोद्भवत्)[40] आदि में ऋषभदेव की स्तुति के साथ ही साथ उनके माता-पिता पुत्र आदि के नाम तथा उनकी जीवन घटनाएँ भी वर्णित हुई हैं।

वेदों में अर्हन् और अर्हत् शब्द का प्रयोगबाहुल्य उस परम्परा ( जैन धर्म ) के प्रति विशेष भावना तो व्यक्त करता ही है साथ ही ऋषभदेव, सुपार्श्वनाथ (ॐ सुपार्श्व-मिद्रहवे)[41], अरिष्टनेमि (ॐ रक्ष रक्ष अरिष्टनेमि स्वाहा)[42] महावीर (आतिथ्यरूपं मातरं महावीरस्य नग्नहुः)। रूपमुपसदामेतत्तिस्रोः रात्रीः सुरासुता।[43] आदि के नाम ग्राह्य की गई स्तुति तथा उन्हें अनिर्वचनीय पुरुष मानकर उनके उपदेशों पर चलने की प्रेरणा भी दी गई है।

ऋग्वेद और अथर्ववेद में ऐसे अनेक मंत्र हैं, जिनमें ऋषभदेव की स्तुति अहिंसक, आत्मसाधकों में प्रथम, अवधूतचर्या के प्रणेता तथा मर्त्यों में सर्वप्रथम अमरत्व या महादेवत्व पाने वाले महापुरुष के रूप में की गई है।[44] एक स्थान पर उन्हें ज्ञान का आगार तथा दुःखों व शत्रुओं का विध्वंसक बताते हुए कहा गया है --

*"असूतपूर्वा वृषभो ज्यायानिमा अस्य शुरुधः सान्तिपूर्वीः।*
*दिवो नपाता विदथस्यधीभिः क्षत्रं राजाना प्रदिवो दधाथे।।"*[45]

जिस प्रकार जल से भरा हुआ मेघ वर्षा का मुख्य स्रोत होता है और जो पृथ्वी की प्यास को बुझा देता है उसी प्रकार पूर्वी अर्थात् ज्ञान के प्रतिपादक वृषभ महान् हैं। उनका शासन वर दे। उनके शासन में ऋषि परम्परा से प्राप्त पूर्व का ज्ञान आत्मा के क्रोधादि शत्रुओं का विध्वंसक हो। दोनों (संसारी और शुद्ध) आत्माएँ अपने ही आत्म गुणों में चमकती हैं। अतः वे ही राजा हैं, वे ही पूर्ण के आगार हैं और वे ही आत्मपतन नहीं होने देते।

ऋग्वेद में उन्हें स्तुतियोग्य बताते हुए उनके आह्वान की प्रेरणा दी गई है --

*"अंहोमुचं वृषभं यज्ञियानां विराजन्तं प्रथममध्वराणाम्।*
*अपां नपातमश्विना हुवे धिय इन्द्रियेण त इन्द्रियं दत्तमोजः।।"*[46]

समस्त पापों से मुक्त, अहिंसक वृत्तियों के प्रथम राजा आदित्य स्वरूप श्रीऋषभदेव का मैं आह्वान करता हूँ। वे मुझे बुद्धि और इन्द्रियों के साथ बल प्रदान करें।

*"अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिह्वं, बृहस्पतिं वर्धया नव्यमर्कैः।"*[47]

मिष्टवाणी, ज्ञानी, स्तुतियोग्य ऋषभ को पूजा साधक मंत्रों द्वारा वर्धित करो।

*"प्राग्नेय वाचमीरय"*[48]

तेजस्वी ऋषभ के लिये स्तुति प्रेरित करो। 'यजुर्वेद' की एक स्तुति में कहा गया है--

*"वेदाहमेतं पुरूषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।*
*तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय।।"*[49]

अर्थात्, मैंने उस महापुरुष को जाना है जो सूर्य के समान तेजस्वी अज्ञानादि अन्धकार से दूर है; उसी को जानकर मृत्यु से पार हुआ जा सकता है, मुक्ति के लिये कोई अन्य मार्ग नहीं है।

'यजुर्वेद' की यह स्तुति और जैनाचार्य मानतुंग द्वारा की गई ऋषभदेव की निम्नलिखित स्तुति में समानता दिखती है। भक्तामरस्तोत्र में वे कहते हैं --

*"त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमान्समादित्यवर्णममलं तमसः पुरस्तात्।*
*त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र पन्थाः।।"*[50]

अर्थात्, हे ऋषभदेव भगवान ! तुम्हें मुनिजन परम पुरुष मानते हैं। तुम सूर्य के समान तेजस्वी, मलरहित और अज्ञान आदि अलंकार से दूर हो तुम्हें भलीभाँति जान लेने पर ही मृत्यु पर विजय पायी जा सकती है। हे मुनीन्द्र ! मुक्ति प्राप्त करने का और कोई सरल मार्ग नहीं है।

'ऋग्वेद' के एक दूसरे मंत्र में उपदेश और वाणी की पूजनीयता तथा शक्ति-सम्पन्नता के साथ उन्हें मनुष्यों और देवों में पूर्वावावा माना गया है।

*"मक्षस्य ते तविषस्य प्र जूतिमियर्मि वाचममृताय भूषन्।*
*इन्द्र क्षितीनामसि मानुषीणां विशां दैवीनामुत पूर्वयावा।।"*[51]

कुछ मंत्रों में उनका नामोल्लेख नहीं हुआ है पर उनकी आकृति को विशेष लक्ष्य करते हुए उनकी गरिमा व्यक्त की गई है।

*"त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि।*
*अपश्यमत्र मनसा जगन्वान्व्रते गन्धर्वा अपि वायुकेशान्।।"*[52]

ऋषभदेव का प्रमुख सिद्धान्त था कि आत्मा में ही परमात्मतत्व का अधिष्ठान है। उसे प्राप्त करने का उपक्रम करो, साथ ही उन्होंने अपनी साधना व तपस्या से मनुष्य शरीर में रहते हुए उसे प्रमाणित भी कर दिखाया था, ऐसा उल्लेख वेदों में है --

*"तन्मर्त्येस्य देवत्वमाजानमग्ने।"*[53]

'भागवत' में ऋषभदेव के लिये कहा गया है -- "भगवान ऋषभदेव ने समस्त लौकिक क्रियाओं का सम्पादन किया। वे परम स्वतन्त्र भौतिक आसक्ति से रहित आनन्दस्वरूप साक्षात् ईश्वर थे। उन्होंने जनसामान्य में धर्माचरण और तत्त्व ज्ञान का प्रचार किया। समता, शान्ति, मैत्री और करुणा के साथ धर्म, अर्थ, यश, सन्तान-सुख, भोग

और मोक्ष का उपदेश देते हुए गृहस्थाश्रम में लोगों को नियमित जीवन व्यतीत करने का उपदेश दिया। ऋषभदेव समस्त धर्मों के साररूप, वेद के गुह्य रहस्य के ज्ञाता थे। वे सामदानादि रीति के अनुसार जनता का पालन करते थे। उन्होंने सौ यज्ञों का सम्पादन किया था। इनके शासन काल में प्रजा सुखी थी, उसे किसी भी वस्तु की कमी नहीं थी। ऋषभदेव ने अनेक देशों में विहार किया था तथा देश, राष्ट्र और समाज हित का उपदेश दिया था।"[54]

इसी ग्रन्थ में यह भी बताया गया है -- **(येन ह वाव कलौ मनुजाः सम्पदा देवमायामोहिताः -- निजनिजेच्छया गृह्णाना अस्नानाचमनाशौचकेशोल्लुंचनादीनि कलिनाधर्मबहुलेनोपहतधियो ब्रह्मब्राह्मणयज्ञपुरुषलोकविदूषकाः प्रायेण भविष्यन्ति)।**[55]

अर्थात्, ऋषभ की शिक्षा को ग्रहण कर ऐसे धर्म और सम्प्रदाय प्रचलित होंगे जो अस्नान, अनाचमन, अशौच, केशलुंच, ईश्वरकर्तृत्व में अविश्वास, यज्ञ विरोध आदि करेंगे।

## (ग) भारतीय संस्कृति और धर्म की विशेषताएँ

आज का युग भौतिकता प्रधान है और भौतिक सुख समृद्धि की सिद्धि के लिये मनुष्य तरह-तरह के राजनैतिक एवं वैज्ञानिक साधनों का उपयोग करने में प्रयत्नशील रहता है, क्योंकि सांस्कृतिक उन्नयन ही व्यक्ति को सुखी और सम्पन्न बना सकता है।

"किसी भी देश या जाति की संस्कृति उस देश या जाति की सभ्यता, साहित्य, कला, धर्म आदि का प्रतिबिम्ब होती है। भारतीय संस्कृति में भारतवर्ष के निवासियों के धर्म, नीति, साहित्य आदि का ही समावेश हो सकता है।"[56] भारतीय संस्कृति अनेक प्रकार के विचारों का विकास है। "भारतीय संस्कृति समभाव प्रधान है। इसमें श्रम, शम और सम ये तीन मूल तत्त्व हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि साधना, शान्ति और समत्व की भावना ही देश की संस्कृति के मूल में उपलब्ध हैं। उक्त तीनों बातें ज्ञान की निर्मल अवस्था में ही झलक सकती हैं।"[57]

संस्कृति शब्द का अर्थ अत्यन्त सूक्ष्म और व्यापक है। किसी भी जाति, समुदाय या राष्ट्र के लोगों के मन, वचन और कर्म द्वारा उस जाति, समुदाय या राष्ट्र की संस्कृति की अभिव्यंजना भिन्न रूप में होती है। कुछ ऐसे लोग भी हैं, जो संस्कृति शब्द को धर्म के अर्थ में ग्रहण करते हैं। वे हिन्दू संस्कृति, मुस्लिम संस्कृति, जैन संस्कृति, बौद्ध संस्कृति और पारसी संस्कृति आदि शब्दों का प्रयोग करते हुए हिन्दू धर्म, इसलाम धर्म आदि के तत्त्वों को ही ध्यान में रखते हैं, यह एक दिग्भ्रम है।[58] सामान्यतः संस्कृति शब्द से साहित्य, चित्रकला, मूर्तिकला, संगीत आदि तत्त्वों की अभिव्यक्ति होती है। फिर भी इनमें से किसी एक को संस्कृति की संज्ञा नहीं दे सकते। अज्ञानता या अल्प-ज्ञान के कारण कुछ लोग जातीयता या प्रान्तीयता के आधार पर विभिन्न प्रकार की संस्कृतियों की कल्पना

करते हैं, जैसे -- बिहारी-संस्कृति, बंगाली-संस्कृति, ब्राह्मण-संस्कृति, क्षत्रिय-संस्कृति और वैश्य-संस्कृति आदि। इन पर गम्भीरता से विचार करने पर लगता है कि संस्कृति जैसे लौकिक शब्दों के विभिन्न विकृत रूपों की कल्पना करना सर्वथा अनुचित और अवांछनीय है। इस प्रकार के संकीर्ण अर्थों द्वारा हम संस्कृति शब्द की स्वाभाविकता का विध्वंस कर देते हैं।

संस्कृति के इन तत्त्वों पर किसी वर्ग, जाति या वर्ण का अधिकार नहीं होता। समाज विज्ञान और विज्ञान की दृष्टि से भी सम्पूर्ण मानव जाति एक है। अलग-अलग समूह या जातियाँ केवल एक ही तने की शाखाएँ हैं। अर्थात् हमारे ग्राम, नगर, प्रदेश, सम्प्रदाय, विभिन्न वर्ग समूह या जातियाँ सभी नैतिक चेतना के सूत्र से आपस में बँधी हुई हैं। जहाँ उनमें और सब तरह की विभिन्नताएँ हैं, वहाँ उन सब में यह एकता है। महात्मा गाँधी ने इन बातों को अच्छी तरह समझ लिया था। अतः अहिंसा, सेवा, त्याग, आदि जैसी नैतिक चेतना के आधार पर उन्होंने जनसाधारण के हृदय को आन्दोलित किया था, इसमें बापू की दूरदर्शिता थी, सफलता थी। इस तरह से जो विभिन्नताएँ जैसे -- भोजन, पहनावा, शरीर की बनावट, सोचने-विचारने का ढंग आदि नजर आती हैं, वे आन्तरिक नहीं बल्कि बाह्य हैं। श्रद्धा, आस्था, निष्ठा आदि भी हमारी संस्कृति का संकेत देती हैं, तर्क और बुद्धि मार्ग का निर्देश करती हैं। "सत्यम् शिवम् सुन्दरम्" की प्रतिष्ठा और मानव के कल्याण का मार्ग सभी के लिये प्रस्तुत करना संस्कृति का लक्ष्य है। अतः सुसंस्कृत मानव के मन में सदा ये भाव रहते हैं --

*"सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।*
*सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।।"*[59]

कहा जा सकता है कि संस्कृति भले ही मानव मात्र की है और उसमें बाह्य बातों में भिन्नता है पर हृदय सभी का एक जैसा है। हम भारतवासी एक हैं। यद्यपि वे नदियों और पहाड़ों के आर-पार दूर-दूर फैले हुए हैं, किन्तु उनकी मानसिकता का उत्स और उनके सपनों का उद्गम एक है। शरीर के रंग, भाषा के भेद और स्थानों की दूरी से क्या होता है ? हममें से हर एक के हृदय में एक ही देवता का ध्यान है और हममें से हर एक के भाव एक ही दिशा की ओर प्रवाहित हो रहे हैं।[60] सबके मन में प्रार्थना के एक ही भाव हैं --

*जो त्रिकाल-कूजित संगम है,*
*वह जीवन-क्षण दो,*
*मन-मन मिलते जहाँ देवता,*
*वह विशाल मन दो।*
*देख सकें सबमें अपने को,*

*महामनुजता के सपने को,*
*है प्राचीन नवीन मनुज को,*
*वह सुविलोचन दो।*[61]

इस तरह से अनेकता में एकता और एकता में अनेकता -- यह भारतीय संस्कृति की प्राचीन परम्परा है। चूँकि सभी एक ही तने की शाखाएँ हैं पर जब हम अलग संस्कृति की बात करते हैं तो हमारी दृष्टि सीमित और संकुचित हो जाती है। भूख लगने पर सभी मुँह से ही खाते हैं। खाने के बर्तनों व वस्तुओं में भेद होता है पर संसार के इतिहास में कहीं भी, किसी ने भी, कभी भी खाने के लिये मुँह के अतिरिक्त किसी और इन्द्रिय का प्रयोग नहीं किया। इसी तरह संस्कृति (जीने की कला) भी मानव मात्र के लिये एक है। वह निरन्तर विकासशील है। वह स्वयं विकास है, ऐसा विकास जो दूसरों को गिरा कर नहीं, अपितु उन्हें साथ लेकर आगे बढ़ता है। यहाँ पर अनेक प्रकार की विचारधाराएँ बनीं। प्राचीनता और नवीनता में संघर्ष भी होता रहा जिसमें नवीनता तो पनपती रही पर प्राचीनता सर्वथा नष्ट न हो सकी। प्राचीनता और नवीनता दोनों का ही यथोचित सम्मान होता रहा। किसी समय प्राचीनता को विशेष सम्मान मिला, तो कभी नवीनता का विशेष आदर हुआ।

इस तरह से भारतवासियों में आर्य और द्रविड़ ही नहीं पारसी, मुसलमान, ईसाईयों आदि की भी गणना है। सभी एक ही सूत्र में आबद्ध हैं, ऐसा जान पड़ता है। पर व्यावहारिक एवं वास्तविक दृष्टिकोण से विचार करने पर यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि संसार में दो विभिन्न सांस्कृतिक धाराएँ प्रवाहित हो रही हैं, एक पूर्वी और दूसरी पश्चिमी। पूर्वी सांस्कृतिक धारा साधारणतः भारतीय संस्कृति के नाम से विख्यात है और पश्चिमी सांस्कृतिक धारा को पाश्चात्य अथवा यूरोपीय संस्कृति कहा जाता है।[62]

भारत के प्राचीन या मूल निवासी आर्य (जिसे वैदिक परम्परा वाले भी कहते हैं) और द्रविड़ (जिसे अनार्य, अवैदिक परम्परा वाले भी कहते हैं) थे। आर्य वे जो उत्तर में मुख्यतः सिन्धु नदी के तटवर्ती प्रदेश में रहते थे और द्रविड़ वे जो दक्षिण में रहते थे। आर्यों ने धर्म को प्रधान माना था। ईसाई संस्कृति का अर्थ पाश्चात्य संस्कृति नहीं है, क्योंकि पाश्चात्य संस्कृति तो आर्य संस्कृति से नितान्त भिन्न है जबकि ईसाई संस्कृति आर्य संस्कृति के निकट है। ईसाई संस्कृति में आर्यों की भाँति धर्म को मुख्य माना गया है, जबकि पाश्चात्य जीवन में धर्म न कहीं की वस्तु है और न परमार्थ उसके निकट कुछ महत्त्व रखता है। यह जीवन ही उनके सम्मुख सब कुछ है परन्तु जीवन का ध्यान उन्हें लेशमात्र भी नहीं। फिर भला वह धर्म को क्या जानें ? वे तो इतना ही जानते हैं कि इस जीवन को सुखी बनाने के लिये उन्हें ऐच्छिक वस्तु को प्राप्त करना है। वस्तुतः आमोद-प्रमोद ही तो उनके जीवन का एक मात्र लक्ष्य है। बस यही उनकी संस्कृति की

कुंजी है -- धर्म नहीं। अर्थ संचय करने में मनुष्य अन्धा हो जाता है। विवेक से हाथ धो बैठता है। पशुता उसमें जाग्रत हो जाती है।[63] वह दुर्बलों को सताता है, उद्योग-धन्धों के झगड़ों में मारने को तैयार हो जाता है। ऐसी पाश्चात्य जगत् की वर्तमान स्थिति या वहाँ की संस्कृति का परिणाम है। आर्यों की तरह पारसी-मुसलिम भी भोग के भूखे नहीं बल्कि योग के आकांक्षी रहे हैं। पारसी-मुसलिम की भी प्रवृत्ति आर्यों जैसी ही है। इसी तरह द्रविड़ भी आर्यों जैसे सभ्य मनुष्य थे। द्रविड़ संस्कृति में बहुत सी बातें आर्यों के समान थीं। आर्यों का समाज भी चार भागों में विभक्त था -- आसर (क्षत्रिय), अनवरन (ब्राह्मण), वणिकर (वणिक) और बिल्लालर (कृषक)। संगीत, व्याकरण, ज्योतिष, धर्म, सिद्धान्त आदि विषयों में भी दोनों सुसंस्कृत थे।

इस तरह से कहा जा सकता है कि वैदिक, जैन, बौद्ध, पारसी, ईसाई, इसलाम आदि धर्म एक दूसरे से कुछ बातों में भिन्नता रखते हैं। आज भी विश्व के अनेक देशों में भारतीय संस्कृति का रूप किसी न किसी रूप में सुरक्षित है। गणित में दशमलव पद्धति का आविष्कार भारत ने ही किया था। 'पंचतंत्र', 'बृहत्कथा', 'सिंहासन बत्तीसी' आदि का अनुवाद विश्व की महत्त्वपूर्ण भाषाओं में हुआ।[64] भारत का साहित्य भी असीम है जो संस्कृत, प्राकृत, तमिल और आधुनिक भारतीय भाषाओं में मिलता है। संस्कृत का आदिकाव्य वाल्मीकि कृत रामायण और व्यास कृत महाभारत है। रामायण और महाभारत के आधार पर संस्कृत में असंख्य महाकाव्यों और नाटकों की रचना हुई है। इनके अतिरिक्त अनेक काव्य-ग्रन्थ, गद्य शैली में लिखे हुए मिलते हैं। जैन संस्कृति का साहित्य प्राकृत में और बौद्ध संस्कृति का साहित्य पालि में मिलता है। फारसी और उर्दू में इसलामी संस्कृति का साहित्य मिलता है।[65]

इस तरह से हम कह सकते हैं कि आज भी भारत में प्राचीन काल के जीवन के आदर्श, धर्म, आचार, व्यवहार तथा कला की परम्परा अपने प्राचीन रूप में देखी जा सकती है। यहाँ के लोगों का प्राचीन संस्कृति से इतना प्रेम है कि वह (संस्कृति) अपने मौलिक रूप में इसलामी और अंग्रेजी संस्कृतियों को अपनाती हुई आज भी जीवित है। उसकी कोई भी धारा लुप्त नहीं हुई है।

भारतीय संस्कृति में धर्म शब्द की अभिव्यक्ति अतिशय व्यापक रही है। हमारा प्राचीन धर्म शब्द आज के मत से बिलकुल भिन्न था। व्यास ने आचार को 'धर्म' कहा है। तब किसी देवता विशेष की पूजा विधि, स्वर्ग नरक की कल्पना या आवागमन के सिद्धान्त का नाम धर्म नहीं था। वह तो आचार अर्थात् जीने की कला का नाम था। यही संस्कृति का अर्थ है, परन्तु आज धर्म शब्द के अर्थों में गड़बड़ हो जाने से संस्कृति भी गड़बड़ हो गई है। पहले हिन्दू, मुसलिम, सिक्ख, ईसाई संस्कृति और फिर देश, प्रान्त जाति, गोत्र, वर्ग, दल और कुटुम्ब के हिसाब से उसका बँटवारा कर दिया गया था। मनुष्य की स्वाभाविक चेतना

का वर्गीकरण हो गया, जिज्ञासा पर अलग-अलग ठप्पे लगा दिये गये, संस्कृति स्वर्ग-नरक, पूजा-पाठ, मन्दिर-मस्जिद में बन्द हो गई और मौलवी, पादरी तथा पण्डों को जनता को दिग्भ्रमित करने का सुअवसर मिल गया। इन्हीं लोगों ने समय-समय पर 'संस्कृति खतरे में है' यह नारा भी लगाया। लेकिन संस्कृति कभी खतरे में नहीं होती। वह एक प्रकृति तत्त्व है। कोई भी बाहरी शक्ति उसका नाश नहीं कर सकती। सभ्यता का नाश हो सकता है, संस्कृति का नहीं।

जीवन के प्रथम श्वास से अन्तिम श्वास तक के प्रत्येक क्षण में मानव किस प्रकार व्यवहार करे यह धर्म ही बताता है। धर्म का साधारण अर्थ लोग किसी विशेष सम्प्रदाय या किसी विशेष मतावलम्बी से लेते हैं। धर्म का यह प्रचलित अर्थ दोषपूर्ण है। वास्तव में धर्म शब्द धृ+मन् से निष्पन्न है --

*"ध्रियते लोकोऽनेन, धरति लोकं वा धर्मः"*

या

*"इष्टस्थाने धत्ते इति धर्मः"*[66]

'आत्मानुशासन' में धर्म के लिये कहा गया है --

*"धर्मः सुखस्य हेतुर्हेतुर्न विरोधकः स्वकार्यस्य।*
*तस्मात्सुखभंगभिया मा भूर्धर्मस्य विमुखस्त्वम्।।"*[67]

धर्म को सुख का कारण कहा है। धर्म और सुख कार्य-कारण के समान साथ-साथ रहते हैं अर्थात् जहाँ दीपक रहता है वहाँ साथ-साथ प्रकाश भी अवश्य रहता है और जहाँ दीपक नहीं रहता वहाँ प्रकाश भी नहीं रहता। इसी तरह से जहाँ धर्म होगा वहाँ सुख होगा और जहाँ धर्म नहीं होगा वहाँ सुख भी नहीं रहेगा। समन्तभद्र ने भी कहा है --

*"देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिबर्हणम्।*
*संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।।"*[68]

अर्थात्, जो संसार के दुःखों से इस जीव को बचाकर उत्तम सुख प्राप्त कराये वह धर्म है। चूंकि धर्म से ही अर्थ (ऐश्वर्य) मिलता है, धर्म से ही सुख मिलता है, और धर्म से ही अन्य जो कुछ भी अच्छा है वह सब मिलता है। धर्म ही विश्व का एकमात्र सार है।

*"धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा,*
*लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति, धर्मेण पापमपनुदति,*
*धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति।"*[69]

धर्म अर्थात्, धारण करना। आचार, नियम रीति-रिवाज नीति की विधि को धारण करना, धर्म का वास्तविक स्वरूप नहीं है। ये धर्म के बाह्य लक्षण हैं। वास्तव में धर्म

पदार्थ या वस्तु का लक्षण है जिसके आधार पर हम उसके वास्तविक स्वरूप को पहचान सकते हैं। जैसे अग्नि का धर्म ताप, सर्प का धर्म दंश, बिच्छू का डंक मारना, दीपक का प्रकाश आदि-आदि है। अतः शक्ति या क्षमता को जो धारण करे वही धर्म है। ऐसा ही आचार्य कुन्दकुन्द ने धर्म के लिए कहा है --

*"वत्थुसहावो धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।*
*मोहक्खोभविहीणो परिणामो अप्पणो हुँ समो।।"*[70]

तत्त्वार्थसूत्र में भी धर्म के 10 लक्षण बताये गये हैं --

*"उत्तमः क्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः।।"*[71]

मनुस्मृति में भी ऐसे ही धर्म के 10 लक्षण बताये गये हैं --

*"धृतिः क्षमादमोस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।*
*धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।"*[72]

भारतीय संस्कृति इन्हीं सिद्धान्तों पर सुरक्षित है और मानवीय चेतना के विकास में इन लक्षणों का विशेष लक्ष्य ही रहा है। याज्ञवल्क्य स्मृति में धर्म के साधन निम्नलिखित बताये गये हैं --

*"अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।*
*दानं दया दमः क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्।।"*[72]

परन्तु इन बातों पर ध्यान देने वाले लोग थोड़े ही मिलते हैं जिसका परिणाम है कि आज का धर्म अनेक सम्प्रदायों में विभक्त है। धर्म के नाम पर साम्प्रदायिकता का बोलबाला है। एक धर्मावलम्बी दूसरे धर्म वालों को अपना शत्रु समझता है। फलतः आज ऐसा लगता है कि यदि धर्म न होता तो ऐसा न होता पर सभ्यता के आरम्भ में ऐसी बात नहीं थी। धर्म की स्थापना महर्षियों ने आदि काल में जनकल्याण के निमित्त की थी। लोक और परलोक दोनों में मानव का कल्याण हो, यही सोचकर धार्मिक संगठन किया गया था--

*"लोकयात्रार्थमिवेह धर्मस्य नियमः कृतः।*
*उभयत्र सुखोदर्क इह चैव परत्र च।।"*[74]

महर्षि कणाद ने धर्म द्वारा निःश्रेयस् मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है, ऐसा माना है--

*"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।"*

भर्तृहरि का मत है कि जो अपने लाभ को त्याग कर दूसरों का हित करते हैं वे ही सच्चे सत्पुरुष हैं। स्वार्थ को न छोड़कर जो लोग लोकहित के लिए प्रयत्न करते हैं वे

सामान्य पुरुष हैं और अपने लाभ के लिये जो दूसरों को हानि पहुँचाते हैं वे नीच हैं। वे मनुष्य नहीं बल्कि उनको मनुष्याकृति में राक्षस कहना चाहिये।[75]

'महाभारत' के अनुसार देश, काल, पात्र आदि के परिप्रेक्ष्य में धर्म में उचित परिवर्तन हो सकता है। यह आवश्यक नहीं कि एक व्यक्ति का धर्म दूसरे के लिये भी धर्म ही हो, क्योंकि वह दूसरे के लिये धर्म न होकर अधर्म भी हो सकता है। अतः महाभारतकार कहते हैं कि धर्म देश, काल, परिस्थिति और पात्र के अनुसार ही निश्चित होता है।

*"स एव धर्मः सोऽधर्मस्तं तं प्रति नरं भवेत्।*
*पात्र कर्मविशेषेण देशकालमवेक्ष्य च।।*
*अन्यो धर्मः समस्थस्य विषमस्थस्य चापरः।*
*प्रतिष्ठितो देशकाले धर्मो व्यवस्थितः स्मृतः।।"*[76]

*"जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नाना*
*धर्माणं पृथिवीव यथौकसम्।"*

अर्थात्, इस धरती में अनेक जन, विविध भाषाएँ अनेक धर्म और यथेच्छ घर हैं। इनमें से तीन जन, भाषा और धर्म किसी भी देश के आज भी ऐसे लक्षण माने जाते हैं जो उसे एक सूत्र में बाँधते हैं।[77] इस देश में आज अनेक सम्प्रदाय हैं। आचार-व्यवहार, पूजा, साधना-पद्धति और कर्मकाण्ड की विविधता आदि की भिन्नता होते हुए भी सभी धर्म एक ही लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हैं। यहाँ इस तरह के धर्म और संस्कृति के अधीन एकता प्राप्त करने वाले इस देश के धार्मिक व्यक्ति आज भी स्नान के समय भारत की विभिन्न नदियों का नाम एक साथ लेते हैं --

*"गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।*
*नर्मदे सिंधु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु।।"*[78]

## (घ) भागवत और जैन धर्म

चूँकि इसमें कृष्ण के द्वारा अर्जुन को दिये गये ज्ञान का वर्णन है इसलिये श्रीमद्भगवद्गीता को महाभारत का एक भाग स्वाभाविक रूप से अवश्य माना जाता है। गीता में धार्मिक व नैतिक मान्यताएँ, रूढ़ि, परम्परा, रीति-रिवाज आदि का भी संकलन है। अतः गीता को हिन्दू धर्म का आधार माना जा सकता है, साथ ही गीता की सरलता ने दर्शन को जन-जन तक पहुँचाया है। क्योंकि वेद और उपनिषद की भाषा क्लिष्ट होने से साधारण जनता के लिये बोधगम्य न थी। इसी प्रकार जैन धर्म भी चौबीस तीर्थंकरों (ऋषभ से महावीर) द्वारा सँवारा गया एक स्वतन्त्र धर्म है। इन दोनों में काफी साम्य है।

'श्रीमद्भगवद्गीता' हिन्दू धर्म मानने वालों का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। जैनेतर साहित्य में 'श्रीमद्भागवद्गीता' का नाम उल्लेखनीय है। इस ग्रन्थ में जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव का सुन्दर वर्णन है, जो जैन साहित्य से कुछ अंशों में मिलता-जुलता हुआ भी है। इसमें लिखा गया है कि जब ब्रह्मा ने देखा कि मनुष्य की संख्या नहीं बढ़ी तो उसने स्वयं मनु और सतरूपा को उत्पन्न किया। उनके प्रियव्रत नाम का लड़का हुआ, प्रियव्रत का पुत्र अग्नीध हुआ। अग्नीध के घर नाभि ने जन्म लिया, नाभि ने मरुदेवी से विवाह किया और उनके ऋषभदेव उत्पन्न हुए। भागवत के प्रथम स्कन्ध में भी अवतारों का वर्णन करते हुए लिखा गया है --

*"अष्टमे मेरुदेव्यां तु नाभेर्जात उरुक्रमः।*
*दर्शयन् वर्त्म धीराणां सर्वाश्रमनमस्कृतम्।।"*[79]

आठवें अवतार ऋषभदेव ने इन्द्र के द्वारा दी गई जयन्ती नामक भार्या से सौ पुत्र उत्पन्न किये, और बड़े पुत्र भरत का राज्याभिषेक करके संन्यास ले लिया। उस समय केवल शरीर मात्र उनके पास था और वे दिगम्बर वेष में नग्न विचरण करते थे तथा मौन रहते थे। कोई डराये, मारे, थूके, पत्थर फेंके, मूत्र-विष्ठा फेंके तो भी उनकी ओर ध्यान नहीं देते थे। यह शरीर असत् पदार्थों का घर है ऐसा समझकर अहंकार, ममकार का त्याग करके अकेले भ्रमण करते थे। उनका कामदेव के समान सुन्दर शरीर मलिन हो गया और क्रिया कर्म बड़ा भयानक। शरीरादिक का सुख छोड़ कर उन्होंने 'अजगर' व्रत ले लिया। इस प्रकार कैवल्यपति भगवान ऋषभदेव निरन्तर परमानन्द का अनुभव करते हुए भ्रमण करते-करते, कोंक, वेंक, कुटक, दक्षिण कर्नाटक देशों में अपनी इच्छा से पहुँचे और कुटकाचल पर्वत के उपवन में उन्मत्त के समान नग्न होकर विचरने लगे। जंगल में बाँसों की रगड़ से आग लग गई, और उन्होंने उसी में प्रवेश करके अपने को भस्म कर दिया। फिर आगे ऋषभदेव के लिये भागवतकार लिखते हैं --

*"यस्य किलानुचरितमुपाकर्ण्य कोंकवेंककुटकानां राजा-*
*र्हन्ना मोपशिक्ष्य कलावधर्म उत्कृष्यमाणे भवितव्येन*
*विमोहितः स्वधर्मपथमकुतोभयमपहायकुपथपाखण्डम-*
*समंजसं निजमनीषया मन्दः सम्प्रवर्तयिष्यते।।"*[80]

*येन ह वाव कलौ मनुजापसदा देवमायामोहिताः स्वविधिनियोगशौचचारित्र-विहीना देवहेलनान्यव्रतानि निज निजेच्छया गृह्णाना अस्नानाचमनशौचकेशोल्लुंचनादीनि कलिनाधर्मबहुलेनोपहतधियो ब्रह्म-ब्राह्मणयज्ञ-पुरुषलोकविदूषकाः प्रायेण भविष्यन्ति।।*

*ते ह्यवक्तिनया निजलोकयात्रयान्धपरम्परयाऽऽस्वस्ताः तमस्यन्धे स्वयमेव प्रपतिष्यन्ति। अयमवतारो रजसोपप्लुतकैवल्योपशिक्षणार्थः।।*[81]

कई बातों में ऋषभदेव से उत्पन्न जैन धर्म में और भागवत या गीता में समानता मालूम पड़ती है।

जैन दर्शन जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल इन द्रव्यों को सत् मानता है। इन्हीं का समुदाय होने से यह जगत् भी सत् है। सत् उसे कहते हैं जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य हों। द्रव्य व गुणों की अपेक्षा से ध्रौव्य व पर्यायों के बदलने की अपेक्षा से उत्पाद, व्यय होते हैं। अतः यह जगत् नित्य-अनित्य उभयरूप है। गीता के दूसरे अध्याय में भी कुछ ऐसा ही कहा गया है --

*"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।*
*उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।।"*[82]

जीवकर्म पुद्गलों के अनादि संयोग से संसार में भ्रमण कर रहा है। यह जीव अज्ञान से अपने स्वरूप को भूले हुए मिश्रित पर्याय को अपना ही पर्याय मानकर संसार में आसक्त हो रहा है। वह तो प्राकृतिक वस्तुओं के लिये अज्ञानतावश सोच लेता है --

*"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।*
*अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।"*[83]

अर्थात्, सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये हुए हैं, तो भी अहंकार से मोहित हुए अन्तःकरण वाला पुरुष 'मैं कर्त्ता हूँ' ऐसा मान लेता है।

राग-द्वेष विकारों से सर्वजगत् मोहित हो रहा है। इसलिये वह वीतराग या राग-द्वेष या सात्त्विक, राजसिक और तामसिक इन तीनों से परे अविनाशी आत्मा को नहीं जानता। जैसा कि गीता में कहा गया है --

*"त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।*
*मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्।।"*[84]

पर जब जीव इस मिथ्या बुद्धि को त्याग देता है और अपने को पहचानता है कि मैं कर्म पुद्गलों से भिन्न एक शुद्ध दृष्टा वीतराग पदार्थ हूँ। मेरा सच्चा सुख मेरे ही में है। मैं स्वयं परमात्मा हूँ। तब उसकी आसक्ति संसार से दूर हो जाती है और वह मोक्ष का अधिकारी हो जाता है। तब पूर्ववत् कर्मों के उदय के अनुसार वह जिस गति में रहता है अनासक्त हुआ रहता है। गीता ने भी ऐसा कहा है --

*"सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।*
*वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।।"*[85]

अर्थात्, इन्द्रियों से अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य

जो अनन्त आनन्द है; उसको जिस अवस्था में अनुभव करता है और जिस अवस्था में स्थित हुआ यह योगी भगवत्-स्वरूप से चलायमान होता ही नहीं।

इसी तरह,

*"अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।*
*यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।"*[86]

जीव पाप व पुण्य का फल ज्ञाता और द्रष्टा होकर भोगता है, तब ये कर्म झड़ जाते हैं और नवीन कर्मों का बन्ध नहीं होता है। जितने अंश राग होता है उतने अंश कुछ कर्मबन्ध होता भी है, पर वह उससे आसक्त नहीं होता है।

*"न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।*
*इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।।"*[87]

अर्थात्, कर्मों के फल में मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मेरे को कर्म लिम्पायमान नहीं करते, इस प्रकार जो मुझे तत्त्व से जानता है, वह भी कर्मों से नहीं बँधता है।

*"यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।*
*समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।।"*[88]

अर्थात्, अपने आप जो कुछ प्राप्त हो उसमें ही संतुष्ट रहने वाला और हर्षशोकादि द्वन्द्वों से अतीत हुआ तथा मत्सरता अर्थात् ईर्या से रहित सिद्धि और असिद्धि में समत्व भाव वाला पुरुष कर्मों को करके भी नहीं बँधता है।

गीता में कृष्ण ने अर्जुन से इसीलिये कहा था कि --

*"यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।*
*ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।।"*[89]

अर्थात्, हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देता है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्म कर देती है।

इसलिये जितना आत्मानुभव बढ़ता है उतना ही कर्म झड़ता है। ऐसा मनुष्य जब तक गृहस्थी में रहता है वह जल में कमलवत् अनासक्त रहता हुआ गृहस्थ योग्य सर्वकार्य करता हुआ भी मोक्षमार्ग पर बढ़ता चला जाता है क्योंकि उसका प्रेम निज तत्त्व पर है -- पर तत्त्व से वैराग्यवान है। उस ज्ञानी का सर्वकर्म निष्काम कर्म कहलाता है। वह परोपकार, दान, धर्म करता हुआ उससे किसी लौकिक व पारलौकिक फल की कामना नहीं रखता है।

*"विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः।*
*निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति।।"*[90]

*"यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।*
*नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।"*[91]

अर्थात्, जो पुरुष सर्वत्र स्नेह रहित हुआ उस शुभ तथा अशुभ वस्तुओं को प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है उसकी बुद्धि स्थिर है।

*"अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।*
*निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी।।"*[92]

अर्थात्, इस प्रकार शान्ति को प्राप्त हुआ पुरुष सब भूतों में द्वेष-भाव से रहित एवं स्वार्थरहित सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममता से रहित, अहंकार से रहित, सुख-दुःखों की प्राप्ति में सम और क्षमावान् है। अर्थात्, अपराध करने वाले को भी अभयदान देने वाला है।

"जो इच्छारहित हो, पवित्र हो, चतुर हो, उदासीन हो, दुःखभावरहित हो, सर्व आरम्भ का त्यागी हो, आत्मा में रत हो वही आत्मप्रेमी है।"

*"अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।*
*सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः।।"*[93]
*"यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।*
*शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः।।"*[94]

"जो शत्रु-मित्र में, मान-अपमान में, शीत-उष्ण में, सुख-दुःख में समान हो और परिग्रहरहित हो, वही आत्मरमी है।"

*"समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।*
*शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः।।"*[95]

आत्मरमी तो एक शुद्ध स्वभाव का ही प्रेमी रहता है। वह केवल एक स्वतन्त्र या स्वाधीनता की ही भावना रखता है, जब उसका राग बहुत क्षीण हो जाता है, वह विरक्त साधु हो जाता है और परिग्रह त्यागकर आत्मध्यान का विशेष अभ्यास करता है और फिर वह श्रद्धावान् --

*"श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।*
*ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।।"*[96]

जब ऐसा आत्मानुभवरूप समाधिभाव पुष्ट हो जाता है कि दुर्वचनों को सुनने पर भी द्वेष पैदा न हो। शरीर पर वध, बन्धनादि व उपसर्ग पड़ने पर भी क्रोध भाव न आये। शरीर के कुचलने पर भी आत्मस्थ दृढ़ रहे, ऐसे समाधि भाव में स्थित मुनि बहुत से कर्मों

को दूर कर देता है। वीतरागता के पूर्ण होने पर नवीन कर्मबन्ध नहीं होते, क्योंकि बन्ध का कारण राग, द्वेष, मोह है। तब यह जीवनमुक्त, परमात्मा या अर्हन्त हो जाता है, फिर शरीर की आयु-प्रमाण रहकर आयुक्षय के पीछे शुद्धसिद्धपरमात्मा मोक्ष रूप हो जाता है। अपने से ही अपना उद्धार होता है और अपने से ही अपना बिगाड़ होता है। यह जैन सिद्धान्त का मर्म है। मोक्षरूप होने के लिये जैन सिद्धान्त में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र की एकता को मोक्षमार्ग कहा गया है, जो निश्चय से एक आत्मध्यान है, जहाँ आत्मा में परमात्मा की श्रद्धा हो जाती है उसी का ज्ञान हो, उसी में आचरण हो या लीनता हो, इसी मोक्षमार्ग के प्रेमी को 'सम्यग्दृष्टि' कहते हैं।

'सम्यग्दृष्टि' पुरुष परम तत्त्व को जानता हुआ आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द में आसक्त रहता है। उसकी तृष्णा इन्द्रियों के नाशवन्त अतृप्तिकारी पराधीन सुख से छूट जाती है। वह इस लोक की कोई सम्पत्ति नहीं चाहता है। केवल आत्मानन्द की भावना करता है, जो उसे आत्मध्यान से आप ही प्राप्त हो जाती है। वह लौकिक व पारलौकिक कार्यों को बिना इच्छा के अर्थात्, बिना फल चाहे करता है। गीता में भी आत्मप्रेमी के लिये ऐसा ही कहा गया है --

*"तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।*
*असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः।।"*[97]

निष्काम कर्म होने के कारण उसे कर्मों का बन्ध नहीं होता। यदि ऐसे सम्यग्दृष्टि के पूर्व में बाँधा हुआ मोह कर्म न हो और दो घड़ी आत्मध्यान में परिग्रहरहित व मन को सर्व आरम्भों से रोक करके जोड़ दें तो केवल ज्ञान को प्राप्त करके वह जीवनमुक्त या अरहन्त हो जाए। आत्मानुभाव के अभ्यास से मोह घट जाता है तब वह स्वयं साधु हो जाता है। साधुपद में वह अकर्मण्य नहीं होता है। जैन शास्त्र में बताया गया है कि कोई भी ध्याता एक ध्येय पर 48 मिनट से अधिक नहीं जम सकता है। ध्यान अति सूक्ष्म तत्त्व है। यदि कोई साधु 48 मिनट तक ध्यान करता रहे तो उसे केवल ज्ञान हो जाये पर वह शक्ति के अभाव से नहीं जम सकता है। इसलिए रात - दिन में बहुत सा समय साधु को आत्मानुभव से बाहर मन, वचन, काय की क्रिया में बिताना पड़ता है। तब ज्ञानी साधु को उचित है कि वह जगत् के उपकार में मन, वचन काय को लगाकर अपना जीवन सफल करता रहे, कभी आलसी न होवे। कर्मयोग व ज्ञानयोग साथ ही चलते हैं, निर्विकल्पक समाधि ज्ञानयोग है, सविकल्पक विचार व कार्य कर्मयोग है, एक के पीछे दूसरा लगा हुआ रहता है, अन्त में मुक्ति तो ज्ञानयोग से होती है। सम्यग्दृष्टि तत्त्व ज्ञानी के भोग कर्मों से छूटने के लिये है, ऐसा श्री कुन्दकुन्दाचार्य जी कहते हैं --

"सम्यग्दृष्टि मुमुक्षु तत्त्वज्ञानी जो कुछ इन्द्रियों के द्वारा अचेतन तथा चेतन पदार्थों का भोग करता है वह सब कर्मों की निर्जरा के लिये है। जैसे रोगी कड़वी दवा खाते हुए उसमें रागी नहीं है।"

*"उवभोगमिंदियेहिं दव्वाणं चेदणाणमिदराणं।*
*जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं।।"*[98]

इसी तरह अमृतचन्द्राचार्य सम्यग्दृष्टि के लिये कहते हैं --

*"नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत् स्वं फलं विषयसेवनस्य ना।*
*ज्ञानवैभव विरागत बलात्सेवकोऽपि तदसावसेवकः।।"*[99]

जैन शास्त्रों में जिस आसन से ध्यान बताया है, वैसा ही यहाँ गीता में भी बताया है --

*"योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।*
*एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः।।"*[100]
*"तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।*
*उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये।।"*[101]

"वह मन को एकाग्र करके इन्द्रियों को व मन को वश में रखता हुआ आसन पर बैठ कर आत्मा की शुद्धि के लिये योग का अभ्यास करे।"

"काय, मस्तक व गले को समान व निश्चल कर दृढ़ होकर अपनी नाक के अग्रभाग को देखता हुआ, अन्य दिशाओं को न देखता हुआ, शान्त-चित्त, भयरहित, ब्रह्मचर्य में स्थित होकर मन का संयम करे। आत्मा में उसे जोड़कर आत्मा में लीन रखे। इस तरह योगी मन को निश्चल रखता हुआ सदा अपनी आत्मा का ध्यान करे, जिससे वह आत्मा में स्थिति रूप निर्वाण की उत्कृष्ट शान्ति को प्राप्त करेगा।"

*"समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।*
*सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।"*
*"प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।*
*मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत् मत्परः।।"*
*"युंजन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।*
*शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।।"*[102]

गीता को देखने से लगता है कि सम्पूर्ण गीता में जैन सिद्धान्त से मिलता हुआ कथन है। हिन्दुओं में सांख्य दर्शन एक ऐसा दर्शन है जिसका कथन बहुत अंशों में जैन दर्शन से मिल जाता है। जैसे जैन सिद्धान्त पुद्गल और जीवन को अनादि मानता है। वैसे ही प्रकृति (जड़) और पुरुष (आत्मा) को सांख्य दर्शन अनादि मानता है। प्रकृति और पुरुष का संयोग ही संसार है ऐसा सांख्य दार्शनिकों ने माना है। जिस तरह जैन सिद्धान्त में कर्म पुद्गलों का छूट जाना मोक्ष बताया गया है उसी तरह सांख्य में भी प्रकृति का पुरुष से छूट जाना मोक्ष है।

'श्रीमद्भागवत' में ऋषभदेव के द्वारा उनके पुत्रों को जो उपदेश दिया गया है, वह भी बहुत अंश में जैन धर्म के अनुकूल ही है। इसका सार निम्नलिखित है --

1. हे पुत्रो ! मनुष्यलोक में शरीरधारियों के बीच में यह शरीर कष्टदायक है, भोगने योग्य नहीं है। अतः दिव्य तप करो, जिससे अनन्त सुख की प्राप्ति हो।

2. जो कोई मेरे से प्रीति करता है, विषयी जनों, स्त्री, पुत्र और मित्र से प्रीति नहीं करता, तथा लोक में प्रयोजन मात्र आसक्ति करता है, वह समदर्शी प्रशान्त और साधु है।

3. जो इन्द्रियों की तृप्ति के लिये परिश्रम करता है उसे हम अच्छा नहीं मानते, क्योंकि यह शरीर आत्मा के लिये क्लेशदायी है।

4. जब तक साधु आत्मतत्त्व को नहीं जानता तब तक वह अज्ञानी है। जब तक यह जीवन कर्मकाण्ड करता है तब तक सब कर्मों का शरीर और मन द्वारा आत्मा से बन्ध होता रहता है।

5. गुणों के अनुसार चेष्टा न होने से विद्वान प्रमादी हो, अज्ञानी बनकर, मैथुनसुख प्रधान घर में बसकर उनके सन्तापों को प्राप्त होता है।

6. पुरुष का स्त्री के प्रति जो कामभाव है, यही हृदय की ग्रन्थि है। इसी से जीवन को घर, खेत, पुत्र, कुटुम्ब और धन से मोह होता है।

7. जब हृदय की ग्रन्थि को बनाये रखने वाले मन का बन्धन शिथिल हो जाता है तब यह जीव संसार से छूटता है और मुक्त होकर परमलोक को प्राप्त होता है।

8. जब सार-असार का भेद करानेवाली व आज्ञानान्धकार का नाश करने वाली मेरी भक्ति करता है और तृष्णा, सुख-दुःख का त्याग कर तत्त्व को जानने की इच्छा करता है तथा तप के द्वारा सब प्रकार की चेष्टाओं की निवृत्ति करता है, तब मुक्त होता है।

9. जीवों को जो विषयों की चाह है यह चाह ही अन्धकूप के समान नरक में जीव को भटकाती है।

10. अत्यन्त कामनावाला तथा नष्ट दृष्टिवाला यह जगत् अपने कल्याण के हेतुओं को नहीं जानता है।

11. जो कुबुद्धि सुमार्ग छोड़ कुमार्ग में चलता है उसे दयालु विद्वान कुमार्ग में कभी भी नहीं चलने देते।

12. हे पुत्रो ! सब स्थावर-जंगम जीव मात्र मेरे ही समान समझकर भावना करने योग्य है।"[103]

भागवत और जैन धर्म दोनों के सिद्धान्तों में इन समानताओं के साथ कुछ अन्तर भी है -- जैसे भागवत के रचयिता व्यास माने जाते हैं और जैन धर्म के रचयिता ऋषभ। जैन वेद, स्मृति तथा ब्राह्मण ग्रन्थों को भी प्रमाण नहीं मानते। जैन धर्म के धार्मिक तत्त्व और उनकी सरणि स्पष्ट और निश्चित है पर भागवत वेद आदि ग्रन्थों को मानते हैं।

भागवत जगत् की सृष्टि और प्रलय को मानते हैं, जबकि जैन जगत् को अनादि अनन्त मानते हैं। भागवत मानते हैं कि सनातन धर्म को ईश्वर की प्रेरणा से ब्रह्मा ने प्रकट किया। जबकि जैन मानते हैं कि युग-युग में तीर्थंकर होते हैं और वे अपने जीवन के अनुभव के आधार पर सत्य धर्म का उपदेश देते हैं। भागवत मानते हैं कि देवता मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं जबकि जैनी मानते हैं कि मोक्ष केवल मानवीय अधिकारों की वस्तु है। यदि देवता मोक्ष प्राप्त करना चाहेंगे तो उन्हें भी मनुष्य योनि में जन्म लेना होगा और कर्मों के नाश के लिये तप करना होगा। भागवत में कर्म को अदृष्ट सत्ता के रूप में मानते हैं और जैन मानते हैं कि कर्म सूक्ष्म पौद्गलिक तत्त्व है, जो जीव की क्रिया से आकृष्ट होकर उसके साथ बँध जाता है। भागवत राग-रहित कर्मों को करने की सलाह देता है जिसे निष्काम कर्म कहते हैं। फलों का कामना से रहित कर्म निष्काम कर्म है। इच्छा मनुष्य को बन्धनग्रस्त कर देती है, अतः इच्छारहित कर्म करना चाहिये जो बन्धन का कारण नहीं है। जो पुरुष सब कर्मों को परमात्मा में अर्पण कर और आसक्ति को त्याग कर कर्म करता है, वह पाप से उसी प्रकार मुक्त रहता है जिस प्रकार जल से कमल। इसी तरह से जैन दर्शन में भी कर्म को बन्धन का कारण माना गया है। जीव अपने कर्मों एवं संस्कारों के कारण ही शरीर धारण करता है। पूर्व जन्म के कर्मों के कारण जीव वासनाओं का शिकार होता है। यहाँ शरीर का अर्थ केवल स्थूल शरीर नहीं है बल्कि इससे इन्द्रिय, मन तथा प्राण का भी बोध होता है। कोई व्यक्ति किस वंश या परिवार में जन्म लेगा यह उसके कर्मों पर आश्रित है। जैन दर्शन कर्मों पर इतना जोर देता है कि इसके कारण अर्थात् कर्मों से ही शरीर का रंग रूप, आकार, आयु, ज्ञानेन्द्रियों कर्मेन्द्रियों की संख्या एवं उनके विशेष धर्म नियन्त्रित होते हैं। जैनों के अनुसार कर्म कई प्रकार के हैं। गोत्र-कर्म उसे कहते हैं जो यह निश्चित करता है कि कौन व्यक्ति किस गोत्र में उत्पन्न होगा। आयु-कर्म आयु निश्चित करता है। ज्ञानावरणीय-कर्म ज्ञान का नाशक है। इस प्रकार के आठ कर्म बताये गये हैं। गीता में ईश्वरवाद की झलक है। गीता में भगवान् कृष्ण आराधना के विषय माने गये हैं। अतः गीता में Personalistic theism अधिक व्यापक माना गया है। ईश्वर को प्राप्त करने के लिये गीता में मार्ग बताये गये हैं -- कर्म, ज्ञान, भक्ति इत्यादि। जैन दर्शन ईश्वर में विश्वास नहीं करता पर यहाँ तीर्थंकर की पूजा की जाती है, चूंकि इन्होंने तीर्थंकर को सर्वशक्तिमान् और दयामय माना है, जो ईश्वर के ही गुण हैं। भागवत मानते हैं कि ईश्वर की भक्ति करने से उसकी कृपा से सुख मिलता है, जबकि जैनी मानते हैं कि अपने अच्छे या बुरे कर्मों के अनुसार जीवन स्वयं ही सुखी या दुःखी होता है। जैनी पूर्णता की प्राप्ति

ही आत्मा का लक्ष्य मानते हैं। पूर्णता की प्राप्ति एक जन्म के कर्मों के द्वारा सम्भव नहीं, पूर्णता के लिये अनेक जन्मों की आवश्यकता होती है। जैन दार्शनिकों के अनुसार कर्म का प्रवाह ही हमें जीवन के चक्रों में भ्रमण करने को बाध्य करता है। जबकि गीता में इसी पुनर्जन्म के लिये कहा गया है कि जिस प्रकार वस्त्र के जीर्ण-शीर्ण हो जाने पर मनुष्य बदल कर नवीन वस्त्र धारण करते हैं, ठीक उसी प्रकार मनुष्य का शरीर जब दुर्बल और जीर्ण हो जाता है तब उसकी आत्मा इस दुर्बल शरीर को त्याग कर दूसरे शरीर में प्रवेश करने की कामना करती है। भागवत मानते हैं कि मुक्त हुआ जीव वैकुण्ठ में अनादि काल तक सुख भोगता है या ब्रह्म में लीन हो जाता है। जैनी मानते हैं कि मुक्त जीव लोक के अग्रभाग में सदैव विराजमान रहता है। जैन धर्म में द्रव्य, अधर्म, गुणस्थान, मार्गणा आदि अनेक तत्त्व ऐसे हैं जो भागवत में नहीं है तथा जैन न्याय में भी स्याद्वाद, नय, निक्षेप आदि बहुत से तत्त्व ऐसे हैं जो जैनेतर न्याय में नहीं हैं। गीता के दर्शन में जीव और ब्रह्म के बीच एकता की स्थापना करना जीव का एकमात्र लक्ष्य बताया गया है। इसी तरह जैन दर्शन में आत्मा की पूर्णता अर्थात् मोक्ष को एकमात्र लक्ष्य बताया है। इस तरह से थोड़ा बहुत भेद होते हुए भी दोनों धर्मों के अनुयायियों में सांस्कृतिक दृष्टि से आज एकरूपता दिखायी देती है।

## सन्दर्भ


1. उपाध्याय अमर मुनि, प्राक्कथन - गोपीनाथ कविराज, सूक्ति त्रिवेणी, पृ0 13
2. डॉ0 रामजी उपाध्याय, भारतीय धर्म और संस्कृति, पृ0 15
3. भारतीय धर्म और संस्कृति, भूमिका
4. प्रो0 शेषआनन्द मधुकर, भारतीय संस्कृति एवं सांस्कृतिक चेतना, पृ0 1
5. हिन्दी-विश्व-कोश, भाग-2, पृ0 689
6. मार्शल, मोहनजोदड़ो, भाग-2, पृ0 432
7. प्रो0 प्राणनाथ ने इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली भाग 8, खण्ड 2 में यही सिद्ध किया है।
8. रायल एशियाटिक सोसायटी जनरल, 1928
9. भारतीय संस्कृति और सांस्कृतिक चेतना, पृ0 38
10. वही, पृ0 39
11. ज्ञानोदय, पृ0 476, जनवरी, 1953
12. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय 2, श्लोक 22
13. ज्ञानोदय, जनवरी 53, पृ0 479, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
14. भारतीय संस्कृति और सांस्कृतिक चेतना, पृ0 29

15. Sayings of Mohammad and key of knowledge, p. 738.
16. जवाहरात-ई-इस्लाम, पृ. 123
17. ज्ञानोदय, 1953, पृ. 481, जनवरी
18. वही, पृ. 482
19. तत्त्वार्थसूत्र, 1-1
20. The Budha's Patha of Virtue, p. 58
21. Jainism, Christianity and Science, pp. 65-72
22. रत्नकरंडकश्रावकाचार
23. भारतीय संस्कृति और सांस्कृतिक चेतना, पृ0 54
24. वही, पृ0 52
25. वही, पृ0 54
26. Indian Philosophy, Vol. I, p. 287.
27. Indian Antiquary, Vol. 3, p. 901.
28. जैनपथप्रदर्शन, भाग 3, अ0 3, पृ0 106.
29. Historical Gleanings, p. 78.
30. अजैन विद्वानों की सम्मतियाँ, पृ0 31
31. डॉ0 नेमिचन्द्र शास्त्री, तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पृ0 11
32. ऋग्वेद, 10/136/2-3
33. वही, 10/136/1
34. श्रीमद्भागवत, 5/6/28-31
35. ऋग्वेद, 10/102/6
36. डॉ0 हीरालाल जैन, भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान
37. अहिंसा संदेश
38. श्रीमद्भागवत, 1/3/13
39. वराहपुराण, अ0 74, सं0 3
40. स्कन्दपुराण, माहेश्वर खण्ड का कौमार खण्ड, अ0 37
41. यजुर्वेद
42. यजुर्वेद, अ0 26
43. यजुर्वेद, अ0 19, मंत्र 14
44. मुनि महेन्द्र कुमार जी 'प्रथम', तीर्थंकर ऋषभ और चक्रवर्ती भरत, पृ0 99
45. ऋग्वेद, 3/38/5
46. अथर्ववेद, 19/42/4
47. ऋग्वेद, 1/190/1

48. ऋग्वेद, 10/187/1
49. यजुर्वेद, अ० 31, मंत्र 18
50. भक्तामरस्त्रोत, श्लोक 23
51. ऋग्वेद, 3/34/2
52. वही, 3/38/6
53. वही, 31/17
54. श्रीमद्भागवत, 5/4/8
55. वही, 5/6/9
56. ज्ञानोदय, जनवरी 1953, अंक 7, पृ० 475
57. जैन दर्शन और संस्कृति परिषद्, द्वितीय अधिवेशन सन् 1966 की रिपोर्ट कार्यवाही और शोधपत्र, पृ० 52
58. ज्ञानोदय, जुलाई 1953, अंक 1, पृ० 9
59. भारतीय संस्कृति और सांस्कृतिक चेतना ( एक अध्ययन ), पृ० 3
60. ज्ञानोदय, अक्टूबर, 1952 अंक 4, पृ० 256
61. वही
62. ज्ञानोदय, जुलाई, 1953, अंक 1, पृ० 10
63. वही, जनवरी, 1953, अंक 7, पृ० 476-477
64. भारतीय संस्कृति और सांस्कृतिक चेतना, पृ० 53
65. भारतीय धर्म और संस्कृति, पृ० 15-16
66. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पृ० 487
67. गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक 20, पृ० 22
68. समन्तभद्र, रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक 2
69. उपाध्याय अमरमुनि, आरण्यक साहित्य की सूक्तियाँ, सूक्ति त्रिवेणी
70. धर्मसूत्र-ज्ञानोदय, अंक 16, काशी, अक्टूबर, 1950, पृ० 211
71. उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र 9/6
72. भारतीय संस्कृति और सांस्कृतिक चेतना : एक अध्ययन, पृ० 53
73. याज्ञवल्क्यस्मृति, 1/122
74. भारतीय संस्कृति और सांस्कृतिक चेतना : एक अध्ययन, पृ० 39
75. वही, पृ० 39
76. वही, पृ० 39
77. पृथ्वी कुमार अग्रवाल, भारतीय संस्कृति की रूपरेखा, पृ० 18
78. रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृ० 52
79. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध 1/3/13

80. वही, 5/6/9
81. वही, 5/6/10-11
82. गीता,अ० 2, श्लोक 162
83. वही, अ० 3, श्लोक 27
84. वही अ० 7, श्लोक 13
85. वही, अ० 6, श्लोक 21
86. वही, अ० 8, श्लोक 21
87. वही, अ० 4, श्लोक 14
88. वही, अ० 4, श्लोक 22
89. वही, अ० 4, श्लोक 36
90. वही, अ० 2, श्लोक 71
91. वही, अ० 2, श्लोक 57
92. वही, अ० 12, श्लोक 13
93. वही, अ० 12, श्लोक 16
94. वही, अ० 12, श्लोक 17
95. वही, अ० 12, श्लोक 17 का अर्थ
96. वही, अ० 4, श्लोक 39
97. वही गीता, अ० 3, श्लोक 19
98. समयसार, कुन्दकुन्दाचार्य, श्लोक 202
99. समयसार, अमृतचन्द्राचार्य, श्लोक 3-7
100. गीता, अ० 6, श्लोक 10
101. वही, अ० 6, श्लोक 12
102. वही, अ० 6, श्लोक 13, 14, 15
103. जैन धर्म, पं० कैलाश चन्द्र शास्त्री, पृ० 6-7

❀ ❀ ❀

# द्वितीय अध्याय

## (क) हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म : पारस्परिक सम्बन्ध

भारतवर्ष तत्त्वज्ञान के उद्‌भव, विकास और विस्तार की आदि भूमि रहा है। यहाँ के द्रष्टाओं, ज्ञानियों और मनीषियों ने न केवल जीवन के बहिरंग पक्ष को देखा बल्कि अन्तरंग पक्ष का भी अत्यन्त बारीकी से अध्ययन किया है। दर्शन के विभिन्न पक्षों को लेकर यहाँ सहस्रों ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं, जिनकी महत्ता आज भी उतनी ही है।

"भारतीय चिन्तनधारा मुख्यतया तीन स्रोतों में बँटी है -- वैदिक, जैन और बौद्ध। दार्शनिक व्याख्या, विवेचन और निरूपण में तीनों का अपना-अपना क्रम, शैली और प्रकार है।"[1] फिर भी तीनों का चरम लक्ष्य एक ही है -- जीवन का सम्पूर्ण विकास। तीनों के आचार, व्यवहार आदि में काफी समानता या सामंजस्य देखने को मिलता है। इसमें आपस में आदान-प्रदान की कथा भी सदा से चली आ रही है। मुनि श्री छत्रमल जी ने कहा भी है --

"भारतीय धर्मों में हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म ये दो ही धर्म ऐसे हैं जिनके साथ जैन धर्म का गहरा जोड़-तोड़ रहा है। भारतीय होने के नाते तीनों ही साथ-साथ रहे हैं। प्रत्येक ने शेष दोनों के उतार-चढ़ाव के दिन देखें हैं और परस्पर प्रहार किये और झेले हैं। फिर भी एक दूसरे के ऊपर छाप पड़े बिना नहीं रही है।"[2] कुछ ऐसा ही "हिन्दू तत्त्वज्ञाननों इतिहास" के लेखक श्री नर्मदाशंकर देवशंकर मेहता ने जैनों और हिन्दुओं के बीच संस्कारों का पारस्परिक आदान-प्रदान विषय पर बोलते हुए कहा था -- "भारतवर्ष के मुख्य तीन धर्मों -- (1) ब्राह्मण धर्म जिसे हिन्दू धर्म कहते हैं (2) बौद्ध धर्म और (3) जैन धर्म में से बौद्ध धर्म अपनी जन्मभूमि से निष्कासित हो गया और शेष दो धर्म किस कारण से टिके रहे इस पर बहुत से विद्वानों ने विचार किया है। विचारमन्थन के फलस्वरूप यह लगता है कि दूसरे धर्म के आचार और विचारों को अपने में सम्मिलित करने की अद्‌भुत शक्ति ब्राह्मणों में है। इस शक्ति के प्रभाव से वे दूसरों की वस्तु को अपना लेते हैं। जैसे कोई जबरबेल छोटे से झाड़ पर लगी हो, तो उस झाड़ के रस को चूसकर सर्वत्र फैल जाती है और आधार-वृक्ष का दर्शन भी न हो सके, इस तरह उसे हृदयंगम कर लेती है। उसी तरह ब्राह्मणों के आचार-विचार की जटिलता में कोई दूसरे धर्म का आचार विचार प्रविष्ट हो तो जाता है, किन्तु वह ब्राह्मणों का अपना बन जाता है

और तत्पश्चात् वह आचार किसका था इसका निर्णय करना अशक्य हो जाता है। ब्राह्मणों के इस आत्मसात् करने के बल के सामने बौद्ध धर्म टिक नहीं सका। बौद्ध धर्म ने अपना स्व-तत्त्व और व्यक्तित्त्व जगाने के बदले, ब्राह्मण धर्म के खण्डन पर अधिक बल दिया। इससे दोनों धर्म के अनुयायियों में द्वेष और निन्दा का भाव बढ़ गया। दूसरे, ब्राह्मणों ने उस धर्म की ग्रहण करने योग्य बातों को अपना लिया और सामान्य अशिक्षित प्रजा को यह समझाया कि बौद्ध धर्म का जो मुख्य सार कहा जाता है, वह तो वैदिकों का अपना है। बौद्धों ने तो इसे अपने से ही ले लिया है।"[3] ब्राह्मणों ने यह दिखाना चाहा कि इन्होंने किसी से कुछ लिया नहीं सभी इनकी देन है, जैसे --

(1) उन्होंने भगवान बुद्ध को विष्णु का अवतार मान लिया, उनका दयाधर्म वैष्णवों में समा गया।

(2) ब्राह्मणों के यज्ञ और श्राद्ध में गोवध किया जाता था। उसे बलिबाह्य करार दे दिया गया।

(3) बुद्ध के शरीर के अंशों को लेकर जो रथयात्रादि उत्सव होते थे, वे वैष्णवों की रथयात्रा के रूप में परिणत हो गये।

(4) बौद्धों के जाति खण्डन सम्बन्धी आचार-विचार ब्राह्मणवाद में समा गये।

(5) बौद्ध धर्म का पंचबुद्ध शैव धर्म के पंचमुख शिव में समा गया।

(6) अश्वघोष का वज्रसूची प्रकरण तो जाति भेद का विध्वंसक है, वह जाने या अनजाने में ब्राह्मणों के उपनिषदों में जा बैठा।

(7) ब्राह्मणों के परिव्राजक बौद्ध भिक्षु, ब्राह्मण शरमण (श्रमण) रूप से एकमेक हो गये।[4]

इस प्रकार बौद्ध धर्म के मायावाद को इन्होंने इस तरह से अपनाया कि देखने में लगता था, मानों मायावाद सीधे मूल उपनिषद् से ही निकला हो। जो इन्हें थोड़े कठिन लगे वे नहीं अपनाये गये और ऐसे आचार-विचार को इन लोगों ने पाखंड धर्म कह दिया, जैसे क्षणिकवाद, अपोहवाद आदि। ब्राह्मणधर्मी हिन्दुओं ने सिर्फ बौद्ध धर्म से चालाकी की हो ऐसी बात नहीं, जैन धर्म भी इनकी जालसाजी से वंचित न रह सका।

मेहता जी के शब्दों में -- "यज्ञीय हिंसा के प्रति अरुचि दिखाने वाले प्रथम तो सांख्याचार्य कपिल थे। उन्होंने यज्ञधर्म को सदोष कर्म बताया और अमुक यज्ञ से स्वर्ग मिलता हो तो भी वह स्वर्गसुख समय पाकर हिंसा का फल प्रकट किये बिना नहीं रहता।"[5] उसके बाद भागवत सम्प्रदाय में वासुदेव श्रीकृष्ण ने अहिंसा का कथन किया पर कुछ कारणों से सामाजिक जीवन में अहिंसा का पालन न हो सका। इस समय अहिंसा का

पालन करने वाले यतिजन थे, पर वे भी यह मानने को तैयार न थे कि वेद प्रतिपादित हिंसा बाह्यतः हिंसा होने पर भी धर्म रूप है। हिंसा का विरोध और अहिंसा का पालन करने वाले जैन तीर्थंकर ही थे जिन्होंने यह स्पष्ट कहा था कि प्राणी वध के द्वारा देवताओं को सन्तुष्ट करना अधर्म है। इस निश्चय से हिन्दुओं पर ऐसा असर हुआ कि कोई हिन्दू ऐसा कहने को तैयार नहीं कि "हिंसा करना धर्म है" भले ही वे कार्य रूप में उसे अपनाते हों।

मेहता जी के कथन से यह स्पष्ट है कि हिन्दुओं या ब्राह्मणों में यह विशेषता है कि किस तरह से दूसरे की वस्तु को अपनाया जा सके, ताकि वह उनकी अपनी लगे। आज भी उपनिषदों में जो जैन आचार-विचार का पूर्व रूप देखने को मिलता है उसे देखने से ऐसा लगता है कि जैन धर्म उपनिषदों से निकला है। इसलिये वह हिन्दू धर्म की विद्रोही सन्तान है पर ऐसा कहना गलत है, क्योंकि हिन्दू धर्म अर्थात् वैदिक धर्म जो सनातन धर्म कहलाता है, उस हिन्दू शब्द की ऐसी व्याख्याएँ मिलती हैं जिससे जैन धर्म को भी हिन्दू धर्म कहा जाता है या उन व्याख्याओं के पीछे ऐसा भाव पाया जाता है कि जैन धर्म हिन्दू धर्म के नाम से कहे जाने वाले वैदिक धर्म की विद्रोही सन्तान है, किन्तु जिन निष्पक्ष विद्वानों ने जैन धर्म का गहरा अध्ययन किया है वे उसे भारत का स्वतन्त्र धर्म मानते हैं।

वेदों के अध्येता, यूरोप के प्रसिद्ध संस्कृत भाषा के विद्वान प्रो० मैक्समूलर लिखते हैं -- "जैन धर्म हिन्दू धर्म से सर्वथा स्वतन्त्र है"।[6] इसमें कोई शक नहीं कि जैन धर्म बौद्ध धर्म से प्राचीन है। दिनकर जी ने भी लिखा है --

"जैन धर्म बौद्ध धर्म की अपेक्षा कहीं प्राचीन है। बुद्ध ने भी अपने लिये जो मार्ग चुना है, वह बिल्कुल नवीन मार्ग नहीं था। वह जैन साधना के समतुल्य था। योग, कृच्छ्राचार एवं तपस्या की परम्परा भी जैन साधना से ही निकली। इस प्रकार जैन साधना जहाँ एक ओर बौद्ध साधना का उद्गम है, वहीं दूसरी ओर वह शैव मार्ग का भी आदि स्रोत है।[7]

जर्मन के प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ विद्वान डॉ० हर्मन जैकोबी लिखते हैं -- "जैन धर्म सर्वथा स्वतन्त्र धर्म है। मेरा विश्वास है कि वह किसी का अनुकरण नहीं है और इसलिये भारतवर्ष के तत्त्वज्ञान का और धर्मपद्धति का अध्ययन करने वालों के लिये वह बड़े महत्त्व की वस्तु है।"[8] ऐसा ही पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी पुस्तक 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' में लिखा है -- "हिन्दू संस्कृति भारतीय संस्कृति का एक अंश है और जैन तथा बौद्ध यद्यपि पूर्णतया भारतीय हैं, पर हिन्दू नहीं हैं।"[9]

मेजर जनरल जे० पी० आर० फरलौंग, ने जैन धर्म के प्रारम्भकाल के लिये "शॉर्ट स्टोरीज इन साइन्स ऑफ कॉम्परेटिव रिलीजन" नामक सन् 1897 में प्रकाशित

पुस्तक में लिखा है -- "जैन धर्म का प्रारम्भ काल बताना असम्भव है। इस प्रकार भारत का सबसे पहला धर्म जैन धर्म ही जान पड़ता है।"[10]

संसार में सबसे पहले जिस धर्म का प्रचार हुआ था वह धर्म 'जैन धर्म' है, इस बात की पुष्टि सभी ऐतिहासिक एवं धार्मिक ग्रन्थ करते हैं। संसार के प्राणियों को सांसारिक बन्धन से छुड़ाकर मुक्त होने का धर्मोपदेश सबसे पहले भगवान ऋषभनाथ ने सर्वज्ञ हो जाने के बाद दिया। भगवान ऋषभ का नाम हिन्दू ग्रन्थों में भी आता है। पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री जी ने कहा है -- "जैन धर्म एक स्वतन्त्र धर्म है और उसके आद्य तीर्थंकर श्री ऋषभदेव थे जो राम और कृष्ण से भी पहले हो गये हैं और जिन्हें हिन्दुओं ने विष्णु का अवतार माना है।"[11]

ऋषभदेव का नाम आत्मशत्रुओं (काम, मद, मोह, राग, द्वेष आदि) के विजेता होने के कारण 'जिन' या 'जिनेश्वर' प्रसिद्ध हुआ। उनके नाम के अनुसार उनके उपदेशित धर्म का नाम 'जैन धर्म' (जिनस्य अयं जैनः) प्रख्यात हुआ।

प्रसिद्ध पौराणिक शास्त्र 'भागवत' से यह प्रमाणित होता है कि सबसे पहले धर्म उपदेशक भगवान ऋषभनाथ ही हुए। योगचर्या की प्रवृत्ति भी भगवान ऋषभनाथ से ही प्रारम्भ हुई। वे योगियों के आदि गुरु हैं। जैन धर्म उनसे ही आरम्भ हुआ। अर्थात्, जगत् में सबसे पहले जैन धर्म का प्रचार हुआ था। जैन धर्म की प्राचीनता के लिए कहा भी गया है-- "जैन धर्म और उसकी परम्पराएँ प्राचीनतम हैं। अनेक भारतीय विद्वान इस तथ्य की पुष्टि कर चुके हैं। प्राचीन भारतीय वाङ्मय में जो सामग्री उपलब्ध है और विभिन्न उत्खननों में भूगर्भ से जो भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं, वे भी इस परम्परा को वेदपूर्व सिद्ध करते हैं। वैदिक 'पद्मपुराण' में जैनियों के चौबीस तीर्थंकरों के होने की बात कही गई है। युगप्रवर्तक तीर्थंकर ऋषभदेव और उनके बाद के तेईस तीर्थंकरों में से कतिपय तीर्थंकरों के नामों का वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में बड़े गौरव के साथ उल्लेख हुआ है। 'हनुमन्नाटक' में वांछित फलप्राप्ति हेतु जैनों के परमोपास्य अर्हन्त (तीर्थंकरों) की वन्दना की गई है। आचार्य बिनोवा भावे, वाचस्पति गैरोला, स्व० श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' और बुद्ध प्रकाश प्रभृति विद्वान जैन धर्म को अत्यन्त प्राचीन सिद्ध कर चुके हैं।[12] डॉ० बुद्ध प्रकाश ने तो तीर्थंकरों की परम्परा को प्राचीन सिद्ध करते हुए उन्हें ही विष्णु और शिव के रूप में मानने की बात कही है। उन्होंने विष्णु व शिव के नामों का तीर्थंकरों के नामों में मेल भी बिठाया है। वे लिखते हैं -- "महाभारत में विष्णु के सहस्रनामों में श्रेयस्, अनन्त, धर्म, शान्ति और सम्भव नाम आते हैं और शिव के नामों में ऋषभ, अजित, अनन्त और धर्म मिलते हैं। विष्णु और शिव दोनों का एक नाम सुव्रत दिया गया है। वे सब नाम तीर्थंकरों के हैं। लगता है कि 'महाभारत' में तीर्थंकरों को विष्णु और शिव के रूप में सिद्ध कर धार्मिक एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। इससे जैन तीर्थंकरों की परम्परा प्राचीन सिद्ध होती है।"[13]

भारत में पहले जैन संस्कृति ही थी, जिसे द्रविड़ सभ्यता भी कहा गया है। मध्य एशिया से आर्य लोग जब भारत में आये उसके बाद यहाँ वैदिक संस्कृति का प्रचार हुआ। ऐसा ही वैदिक साहित्य से पता चलता है कि जिस समय वैदिक आर्य भारतवर्ष में आये उनका संघर्ष यहाँ के आदिवासियों से हुआ। ये आदिवासी द्रविड़ ही थे। किसी देश में बाहर से आकर बसने वालों और फिर धीरे-धीरे उस देश पर अधिकार जमाने वालों की प्रायः यह प्रवृत्ति होती है कि उस देश के आदिवासियों को जंगली और अज्ञानी ही दिखाने का प्रयत्न करते हैं, ऐसा ही प्रारम्भ में वैदिक आर्यों और उनके उत्तराधिकारियों ने किया है। वे अब भी इसी मान्यता को लेकर चलते हैं कि जैन धर्म का उद्गम बौद्ध धर्म के साथ-साथ या उससे कुछ पहले उपनिषद् काल के बहुत बाद में उपनिषदों की शिक्षा के आधार पर हुआ। जबकि निश्चित रूप से प्रायः सभी इतिहासज्ञों ने यह स्वीकार कर लिया है कि जैनों के तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ 800 ईसा पूर्व में उत्पन्न हुए थे। वे एक ऐतिहासिक महापुरुष थे, पर वे जैन धर्म के संस्थापक नहीं थे।[14] जिसे उपनिषद् काल कहा जाता है। उस काल में तो वाराणसी नगरी में भगवान पार्श्वनाथ का जन्म हुआ था।

जबकि J.A. Dubois ने सत्यता व प्रारम्भिकता के लिये कहा है -- "Yea ! his (Jaina's) religion is only true one upon earth the primitive faith of all mankind."[15]

हिन्दू धर्म के ग्रन्थ जैन धर्म के संस्थापक श्री ऋषभदेव को नवाँ या आठवाँ अवतार मानकर उनकी प्राचीनता वेदों से भी पहले सिद्ध करते हैं, क्योंकि वेदों में चौदहवें वामन अवतार का उल्लेख है। अतः वामन अवतार के बाद वेद बने ऐसा सिद्ध होता है और जैन धर्म नवें अवतार माने जाने वाले श्री ऋषभदेव द्वारा प्रतिपादित हुआ था। भागवत में भी स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि "ऋषभदेव लोक, वेद, ब्राह्मण और गौ सबके परम गुरु थे और उन्होंने सकल धर्म के मूल गुरु ब्राह्मण धर्म का ब्राह्मणदर्शित मार्ग के अनुसार उपदेश दिया था।"[16] भाषा के आधार पर भी यह स्पष्ट हो चुका है कि भारत की प्राचीन भाषा और लिपि ब्राह्मी श्री ऋषभदेव तीर्थंकर की पुत्री ब्राह्मी के नाम से प्रचलित रही है।

सम्प्रति वेद दुनिया में सबसे प्राचीन ग्रन्थ कहे जाते हैं या हिन्दू धर्म की सबसे प्राचीन पोथी वेद है। वेद चार हैं -- ऋक्, यजु, साम, और अथर्व। पौराणिकों का कहना है कि इन चारों वेदों का संकलन वेद व्यास ने यज्ञ की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर किया था।[17] जैन धर्म के संस्थापक ऋषभदेव वेद से बहुत पहले हो चुके थे। वेद जैन धर्म के बहुत पीछे बने थे। आधुनिक यूरोपियन विद्वान उनके विषय में कहते हैं कि वेद उस समय बने थे, जबकि आर्य सभ्यता के नवपल्लव भी विकसित नहीं हुए थे और लोग प्राकृतिक शक्तियों -- अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदि से अत्यन्त भयभीत थे और उनकी पूजा किया करते थे।[18]

समस्त वातावरण विधि-विधानों से बँधा हुआ था। कुछ मन्त्रों का उच्चारण किये बिना या कुछ विधि-विधानों का अनुष्ठान किये बिना कोई न जाग सकता था, न उठ सकता था, न स्नान कर सकता था, न बाल बनवा सकता था, न मुँह धो सकता था और न कुछ खा सकता था। यह वह समय था जब एक क्षुद्र और निष्फल धर्म ने कोरे विश्वास और सारहीन वस्तुओं के द्वारा अपना कोष भर लिया था।[19] वेद में इन्द्र, सूर्य और अग्नि ये तीन देवता मुख्य माने गये हैं। इन्द्र आत्मा को चुङ्गल से सांसारिक भोगों में लिप्त रहने की अवस्था का द्योतक है, तो सूर्य आत्मा को शुद्धात्मस्वरूप केवल ज्ञानावस्था में प्रकट करता है और अग्नि वह तप की अग्नि है जिसके द्वारा कर्म बन्धनों की निर्जरा होकर नवीन कर्मों का बन्ध होना रुक जाता है एवं आत्मा कर्मों से, संसार परिभ्रमण से छुटकारा पा लेता है। जिन ऋषियों ने आत्मा के भिन्न स्वरूपों को इस तरह पहचाना उन्हें आत्मा सम्बन्धी गूढ़ ज्ञान अवश्य था। इस तरह का ज्ञान वेदों में नहीं था, क्योंकि उनमें तो गीतों के अतिरिक्त और कुछ महत्त्वपूर्ण वस्तु देखने में नहीं आती। अतः यह मानना पड़ेगा कि यह ज्ञान उन्हें जैन धर्म से प्राप्त हुआ होगा।

जैन धर्म में कर्म-सिद्धान्त बहुत महत्त्व का है। जैन लोग आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा आदि शब्दों को मुक्ति के मार्ग को समझाने में व्यवहृत करते हैं। जैन धर्म का कर्म-सिद्धान्त और अहिंसक प्रवृत्ति जैन दर्शन का मूल और यथार्थ अंश है। वह हिन्दू दर्शन से प्राचीन है और ये शब्द हिन्दू धर्म में जैन धर्म से लिये गये थे।

भारत के गणमान्य राजनीतिवेत्ता और अग्रगण्य विद्वान लोकमान्य श्री बाल गंगाधर तिलक ने अपने मराठी पत्र ( केसरी ) में जैन धर्म के विषय में ये विचार प्रकट किये थे -- **'अहिंसा परमो धर्मः'** के उदार सिद्धान्त की चिरस्मरणीय छाप जैन धर्म ने ही ब्राह्मण धर्म पर मारी है। भारत में धर्म के नाम पर यज्ञों द्वारा जो असंख्य पशुओं की हिंसा की जाती थी, उसको सदा के लिये विदा कराने का श्रेय भी जैन धर्म के हिस्से में है। ब्राह्मण और हिन्दू धर्म में मांस भक्षण और मदिरापान बन्द हो गया, यह भी जैन धर्म का ही प्रताप है।

हिन्दू ( वैदिक ) धर्म और जैन धर्म को तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर प्राचीन जैन साहित्य में प्राप्त जैन धर्म का स्वरूप वेदों में प्राप्त वैदिक धर्म से अत्यधिक सुसंस्कृत मालूम पड़ता है। वेदों में प्रतिपादित इन्द्रादि देवताओं का स्वरूप और जैनों के आराध्य देव जिनेश्वर का स्वरूप दोनों को देखने पर वैदिक देवता सामान्य मनुष्यों से अधिक शक्तिशाली मालूम पड़ते हैं पर वृत्ति की दृष्टि से वे हीन हैं। इसी तरह कषाय अर्थात्, क्रोध, राग, द्वेष आदि दोष वैदिक देवताओं में प्रचुर परिमाण में मिलते हैं जबकि जैनों के आराध्य देवों में ये सब दोष बिलकुल नहीं हैं। वैदिक देवताओं का पूज्यतत्त्व नाना प्रकार के अनुग्रह निग्रहों के कारण से प्राप्त है जबकि जैनों के आराध्य जिनेश्वर इस प्रकार की

शक्ति के द्वारा पूज्य न होकर वीतराग गुण से ही आराध्य हुए हैं। वीतराग गुण में निहित आदरभाव आराधक को उन आराध्य की पूजा में प्रेरित करता है और वैदिक धर्म में वैदिक देवताओं का भय आराधक को उनकी आराधना में प्रेरित करता है। जैन वेदों, स्मृतिग्रन्थों तथा ब्राह्मण-परम्परा के अन्य प्रमाणभूत ग्रन्थों को भी प्रमाण नहीं मानते हैं। साथ ही जैन धर्म के धार्मिक सिद्धान्त स्पष्ट और निश्चित हैं किन्तु हिन्दू धर्म में परस्पर विरोधी अनेक सिद्धान्त हैं और वे सब अपने में सच्चे होने का दावा करते हैं। हिन्दू ईश्वर को जगत् का रचयिता मानते हैं जबकि जैन ईश्वर को जगत् का रचयिता नहीं मानते हैं। हिन्दू युग-युग में जगत् की सृष्टि और प्रलय को मानते हैं पर जैन जगत् को अनादि, अनन्त मानते हैं। हिन्दू मानते हैं कि सनातन धर्म को ईश्वर की प्रेरणा से ब्रह्मा ने प्रकट किया और जैन मानते हैं कि युग-युग में तीर्थंकर होते हैं और वे अपने जीवन के अनुभव के आधार पर सत्य धर्म का उपदेश देते हैं। हिन्दू मानते हैं कि मुक्त हुआ जीव वैकुण्ठ में अनादि काल तक सुख भोगता है अथवा ब्रह्म में लीन हो जाता है और जैन मानते हैं कि मुक्त जीव लोक के अग्रभाग में सदैव विराजमान रहता है। जैन धर्म में धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, गुणस्थान, मार्गणा आदि अनेक तत्त्व ऐसे हैं जो हिन्दू धर्म में नहीं हैं। इसी तरह हिन्दू धर्म का ब्रह्म शब्द वैदिक है और उपनिषदों में उस ब्रह्म को अद्वितीय कहा गया है। इन उपनिषदों में परमात्मा की अपेक्षा 'ब्रह्म' शब्द का अधिक प्रयोग किया गया है।

उपनिषदों का ब्रह्म एक है जबकि जैन परम्परा अनेक ब्रह्म को स्वीकार करती है। जैन मान्यतानुसार परमात्मा कृतकृत्य हो जाता है और उसे कुछ भी करना शेष नहीं रहता। वह विश्व को केवल जानता और देखता है, क्योंकि जानना और देखना उसका स्वभाव है, किन्तु उपनिषदों का ब्रह्म प्रत्येक वस्तु का उत्पादक और आश्रय है। यद्यपि उपनिषदों के ब्रह्म एवं जैनों के परमात्मा में समानताएँ हैं पर उनके अर्थ में अन्तर है। जैसे उपनिषदों में स्वयम्भू अर्थात्, 'स्वयं पैदा होने वाला' और स्वयं रहने वाला किन्तु जैन मान्यता के अनुसार 'स्वयम्भू' अर्थात्, 'स्वयं परमात्मा होने वाला' है। जैन आत्मा और पुद्गल दोनों को वास्तविक मानते हैं। आत्माएँ अनन्त हैं और मुक्तावस्था में भी प्रत्येक आत्मा अपने स्वतन्त्र अस्तित्व से सम्पन्न रहता है किन्तु उपनिषदों में आत्मा के अतिरिक्त जो कि ब्रह्म का ही नामान्तर है, कुछ भी सत्य नहीं है। जैन दृष्टि में उपनिषदों के समान, आत्मा एक विश्वव्यापी ब्रह्म तत्त्व का अंश नहीं है, किन्तु उसके भीतर परमात्मतत्त्व के बीज विद्यमान रहते हैं और जैसे ही वह कर्मबन्धन से मुक्त होता है परमात्मा बन जाता है। 'गीता' में अच्छे बुरे कर्मों को कर्म कहा गया है, जबकि जैन मान्यता में वह एक प्रकार का सूक्ष्म पदार्थ या मैटर है, जो आत्मा की मानसिक, वाचिक और कायिक क्रिया के कारण आत्मा से सम्बद्ध रहता है और उसे भवचक्र में भ्रमण कराता है। जैन आत्मा और परमात्मा को एक ही मानते हैं क्योंकि ये एक ही वस्तु की दो अवस्थाएँ हैं। इस प्रकार प्रत्येक आत्मा परमात्मा है। यह दृश्यमान संसार अनादि है और अगणित आत्माओं की

लीलाभूमि है। किन्तु वैदिक आत्मा, परमात्मा और विश्व को एक ब्रह्म स्वरूप ही मानते हैं। हिन्दू कर्म को अदृष्ट सत्ता के रूप में मानते हैं। जबकि जैन कर्म को सूक्ष्म पौद्गलिक तत्त्व मानते हैं जो जीव की यौगिक क्रिया से आकृष्ट होकर उसके साथ बँध जाता है। हिन्दू धर्म में धार्मिक कर्मकाण्ड रूपी यज्ञ ही प्रधान रहा जो बिना पशु- हिंसा के पूर्ण नहीं होता था और जैन धर्म में अनशन आदि बाह्य और आभ्यन्तर तप ही प्रधान कर्मकाण्ड हैं। इसमें हिंसा का नाम ही नहीं है। वैदिक यज्ञ देवताओं को सन्तुष्ट करने के लिए किया जाता है और जैन धर्म में धार्मिक अनुष्ठान आत्मोद्धार के लिये किया जाता है। जैनधर्मी किसी भी देवता को सन्तुष्ट करने के लिये कुछ नहीं करते क्योंकि इनके आराध्यदेव वीतरागी हैं। वे पूजादि से प्रसन्न नहीं होते हैं। वे केवल अनुकरणीय रूप में ही आराध्य हैं। जैनों में आज जो कर्मकाण्ड मिलते हैं वो वैदिक धर्म के अनुकरण मात्र हैं, परन्तु ये सभी निश्चय से जैन धर्म के मूल सिद्धान्त के प्रतिकूल हैं, अर्थात्, जैनों के अनुसार अपने अच्छे या बुरे कर्मों के अनुसार जीव स्वयं ही सुखी या दुःखी होता है।

वैदिक लोगों ने नाना प्रकार के इन्द्र आदि देवताओं की कल्पना की थी जो तीनों लोकों में विद्यमान हैं और देवता मनुष्य वर्ग से भिन्न होकर मनुष्यों के लिये आराध्य बने हुए हैं। परन्तु जैनी देव वर्ग को मनुष्य वर्ग से भिन्न मानने पर भी उन्हें आराध्य नहीं मानते। जैनों में कुछ लोग देवताओं को पूजते हैं -- परन्तु वह केवल भौतिक उन्नति की ही दृष्टि से है, आत्मिक उन्नति की दृष्टि से नहीं। जैन धर्म में स्वीकृत वीतरागी मनुष्य की कल्पना देवताओं को भी मान्य है और वही आराध्य है। जैनों ने तो यहाँ तक कहा है कि मोक्ष तो मानवीय अधिकार की वस्तु है। अतः यदि देवताओं को मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा हो तो उन्हें मनुष्य योनि में जन्म लेना होगा और कर्मों के नाश के लिये तप करना होगा, तभी मोक्ष सम्भव है।

वेदाध्ययन में शब्दों का महत्त्व होने से वेद मन्त्र रक्षित हुए। इससे संस्कृत भाषा को महत्त्व प्राप्त हुआ, पर जैन धर्म में शब्दों की अपेक्षा पदार्थों को अधिक महत्त्व दिया गया। इसलिये जैनों में धर्म के मौलिक सिद्धान्त रक्षित होने पर भी शब्द रक्षित नहीं हुए। इसके अलावा जैन लोग संस्कृत भाषा की अपेक्षा लोक भाषा अर्थात्, प्राकृत भाषा को अधिक महत्त्व देते रहे। प्राकृत भाषा अपनी प्रकृति के अनुसार सदा एक ही रूप में नहीं रह सकती, अर्थात्, वह सदा बदलती रहती है।

वैदिक संस्कृति उसी रूप में आज भी वेदों में उपलब्ध है। उपनिषदों के पूर्व वैदिक धर्म में ब्राह्मणों का प्रभुत्व स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, पर जैन धर्म में प्रारम्भिक काल से ही क्षत्रिय लोग प्रमुख स्थान प्राप्त किये हुए दृष्टिगत होते हैं। परन्तु उपनिषत्कालीन वैदिक धर्म में ब्राह्मणों की अपेक्षा क्षत्रियों को प्रमुख स्थान दिया गया प्रतीत होता है। उपनिषदों में आत्म-विद्या को प्रमुख स्थान प्राप्त था। यहाँ पर वस्तुतः ब्राह्मणों

पर क्षत्रियों का प्रभुत्व स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

वैदिक और जैन धर्म में दृष्टिगोचर होने वाले इस विरोध को देखकर प्रारम्भ में कतिपय आधुनिक, पाश्चात्य विद्वानों ने बौद्ध धर्म की तरह जैन धर्म को भी वैदिक धर्म का विरोधी, एक क्रान्तिकारी नूतन धर्म लिखा है। इतना ही नहीं, जैन धर्म को बौद्ध धर्म की शाखा के रूप में भी कहा है परन्तु जैन धर्म और बौद्ध धर्म के मौलिक साहित्य का अध्ययन करने के उपरान्त उन पाश्चात्य विद्वानों ने ही इस भ्रान्ति को स्वयं दूर कर दिया है। आज अध्ययनशील दूरदर्शी पाश्चात्य और भारतीय विद्वान जैन धर्म को वैदिक धर्म से सर्वथा भिन्न एक स्वतन्त्र धर्म मानने लगे हैं।[20]

इन भेदों के बावजूद दोनों के अनुयायियों में सांस्कृतिक दृष्टि से आज भी एकरूपता दिखाई पड़ती है। कई बातों में दोनों के विचार एक से हैं।

समानता

अन्तर्ध्वनि के सम्बन्ध में दोनों कहते हैं -- भगवान महावीर जगत् के नाथ, जगत् के बन्धु और जगत् के पितामह हैं, ऐसा जैनों के नन्दीसूत्र में है --

*"जगनाहो, जगबन्धु जयई जगपिया महोभवव।"*[21]

ऐसा ही गीता में कहा गया है --

*"सर्वलोकमहेश्वरं सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।"*[22]

किसी से विरोध नहीं अर्थात्, मित्रता हो, इसके सम्बन्ध में दोनों कहते हैं --

जैन -- न विरुज्झेज्ज केण वि।[23]

हिन्दू -- मा विद्विषावहै। अर्थात्, परस्पर द्वेष न करें।[24]

दोनों ने आत्मा पर विजय पाने वाले को महान् कहा है।

जैन -- जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए गिरते।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं एस से परमो जओ।।[25]

हिन्दू -- जितं जगत् केन ? मनो हि येन।[26]

नीतिपूर्ण मार्ग को अपनाना चाहिये, इस सम्बन्ध में जैनों का विचार है --

*"सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं।*
*उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं छेयं तं समायरे।।"*[27]

हिन्दुओं का कथन भी ऐसा ही है --

*"अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।*
*तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः।।*[28]

अर्थात्, जो नहीं जानते हैं वे जानने वालों से सुनकर तत्त्व का विचार करते हैं, जो सुनने में तत्पर हैं वे मृत्युरूप संसार-सागर को तर जाते हैं।

इस तरह दोनों में कई बातों में उपर्युक्त समानताएँ दिखायी पड़ती हैं।

इसी तरह बुद्ध धर्म व जैन धर्म के सम्बन्ध के विषय में बौद्धों की कुछ पालि भाषा की पुस्तकों को देखने व थोड़े बहुत अध्ययन से पता लगता है कि गौतम बुद्ध ने कोई नया मत नहीं चलाया था। उन्होंने जैन मत को ही ऐसी सरल व प्रचलित पद्धति से उपदेशित किया कि जिससे दुनियाँ के लोगों ने बहुत जल्दी समझ लिया, अतः जैन धर्म ही वास्तव में बौद्ध धर्म के रूप में प्रचलित हुआ।

## अन्तर

दोनों धर्मों में कुछ मौलिक अन्तर है -- दोनों के धार्मिक ग्रन्थ, इतिहास, कथाएँ आदि सभी अलग-अलग हैं। इनके धार्मिक सिद्धान्त भी बिलकुल भिन्न हैं। जैन धर्म नित्य और अभौतिक जीव तत्त्व का अस्तित्व मानता है। बौद्ध जीव तत्त्व को नहीं मानते, न उसे नित्य मानते हैं। उनके मत से आत्मा कोई नित्य पदार्थ नहीं है किन्तु क्षणिक धर्मों की एक संतान है। उस सन्तान का विनाश ही मोक्ष है। जिस तरह से तेल और बत्ती के जल जाने पर दीपक का विनाश हो जाता है वैसे ही उस सन्तान ( जीव तत्त्व ) का भी नाश हो जाता है। इससे भिन्न जैन भौतिक जीव को पौद्गलिक कर्मों से बँधा मानते हैं और जब तक यह उनसे बँधा रहता है, संसार में रहता है फिर मुक्त होकर ऊपर लोकाकाश में चला जाता है, जहाँ यह अनन्त काल तक आत्मिक गुणों में मग्न रहता हुआ शाश्वत सुख को भोगता है।

महावीर केवल साधु नहीं थे बल्कि वे तपस्वी भी थे, पर बुद्ध ज्ञानप्राप्ति के बाद तपस्वी नहीं रहे केवल साधु ही रहे और उन्होंने अपना पूरा पुरुषार्थ जीवन- धर्म की ओर लगाया। अतः महावीर का लक्ष्य आत्म-धर्म हुआ और बुद्ध का लक्ष्य लोक-धर्म हुआ।

महावीर और बुद्ध के जीवन का विश्लेषण करते हुए जर्मन विद्वान प्रो० लुइमान ने लिखा है -- "महावीर संकुचित प्रकृति के थे और बुद्ध विशाल प्रकृति के थे। महावीर लोक समाज में मिलने से दूर रहते थे और बुद्ध लोक समाज की सेवा करते थे।"[29] बुद्ध को जो खाने का निमन्त्रण देता, स्वीकार कर लेते थे पर महावीर इसे ठीक नहीं मानते थे।

इस तरह से दोनों स्वतन्त्र धर्म हैं। एक ही जगह फले-फूले हैं अतः दोनों में विभिन्नताओं के साथ-साथ कुछ समानताएँ भी हैं जैसे --

कहा जा सकता है कि गौतम बुद्ध के भावों में जैन तत्त्वज्ञान ही भरा था जिसे उन्होंने दूसरे ढंग से प्रकाशित किया। गौतम बुद्ध घर छोड़ने के बाद अपनी 29 वर्ष की

आयु से 35 वर्ष की आयु तक 6 वर्ष के बीच, जैन मुनि भी रहे अर्थात्, जैन मुनि की क्रियाएँ भी पालीं। 6 वर्ष घोर तप करने पर भी जब ज्ञान की प्राप्ति न हुई तो उन्होंने कहा -- "दुःख बुरा है और उससे बचना चाहिये। अति दुःख-रूप होती है। तप भी एक प्रकार की अति है, अतः वह दुःखवर्द्धक है। उसको सहन करने में भी कोई लाभ नहीं है, वह फलहीन है"।[30] 35 वर्ष की आयु में जब वे गया गए वहाँ उन्होंने जैन मुनि की क्रिया में कठिनाई का अनुभव कर सरल और मध्यम मार्ग प्रचलित किया। दिगम्बर जैनों के 'दर्शनसार' ग्रन्थ से यह प्रकट है कि पार्श्वनाथ स्वामी की परम्परा में एक पिहिताश्रव मुनि हुये थे। उनके शिष्य गौतम बुद्ध हुए और नग्न रहकर उन्होंने तपस्या की --

*"सिरि पासणाह तित्थे सरयूतीरे पलास णयरत्थो।*
*पिहियासवस्स सिस्सो महासूदो बुद्धकित्तिमुणो।।*[31]

पिहिताश्रव मुनि बहुत प्रसिद्ध हैं। यूनान देश में एक प्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी पैथागोरस, पिथागुरु व पिहित गुरु हो गए हैं, ये पक्के शाकाहारी थे। लैटिन भाषा के कवि औविद ने पिथागुरु का चरित्र व उनकी शिक्षाएँ 'मेट्रामोरफोसिस' नाम की पुस्तक में दी हैं। यह समिया के साधु प्रसिद्ध थे, जैन गजट में इनके द्वारा किया गया व्याख्यान देखने से लगता है कि उनका तत्त्वज्ञान वही था जो जैनों का था। निम्नलिखित वाक्य से लगता है कि बहुत सम्भव है कि वे पिथागुरु ही पिहिताश्रव मुनि हों --

(1) मरने पर शरीर नष्ट हो जाएगा परन्तु आत्माएँ कभी नहीं मर सकतीं। आत्माओं को पुराना घर छोड़ कर नए घरों में जाना पड़ता है।

(2) सकल वस्तुएँ परिणमनशील हैं, किसी का सर्वथा नाश नहीं होता (All things change there is no death anywhere)। आत्मा पशु से मानव व मानव से पशु हो जाती है। यह कभी मरती नहीं है। जैसे मोम को भिन्न-भिन्न आकृतियों में बदला जा सकता है, फिर भी वह उतना ही मोम बना रहता है। इसी तरह आत्मा भिन्न-भिन्न पर्यायों में भिन्न-भिन्न आकृतियों में रहती हुई सदा वही बनी रहती है। इससे स्पष्ट है कि पिथागुरु द्रव्य को नित्य व अनित्य मानते थे। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप मानते थे तथा अनेक आत्माओं को मानते थे। वे आत्मा को एक प्रकार का आकारधारी होकर संकोच-विस्तार करने वाला मोम के समान मानते थे। यही जैनों का विशेष सिद्धान्त है।

(3) अपनी जिह्वा के लोभ से धर्म का लोप मत करो। अपने साथी प्राणियों की हिंसा मत करो। रुधिर पीकर जीवन यापन मत करो।

(4) मांस खाना हिंसाकारक है। इससे अपने शरीर को अपवित्र मत करो। वृक्ष से फलादि मिलते हैं, दूध मिलता है। इस पृथ्वी पर बहुत अधिक पवित्र भोज्य पदार्थ है जो बिना रुधिर बहाए मिल सकता है। जो मांस खाते हैं वे पशुतुल्य हैं। बहुत से पशु मांस

नहीं खाते हैं। जैसे -- घोड़ा, भेड़, गाय, भैंस आदि घास पर ही निर्भर रहते हैं।

'मज्झिमनिकाय' पालि ग्रन्थ के बारहवें महासिंहनादसूत्र में नीचे लिखे वाक्यों से बुद्ध का दिगम्बर जैन मुनि होना सिद्ध है --

*"सो तत्तो सो सीनो एको मिंसन के वने।*
*नग्गो न च अग्गि आसीनो एसना पशु तो मुनीति।।"*[32]

मैं हाथ पर भोजन करता था, मांस-मछली नहीं खाता था, कभी एक दिन, कभी दो दिन, कभी पन्द्रह दिन में आहार लेता था, सिर व दाढ़ी के केशों का हाथ से लोच करता था, हिंसा न हो जाय इसका सदैव ध्यान रखता था।

महात्मा बुद्ध ने बुद्धत्व के लिये शक्ति से अधिक तप कर लिया था, ऐसा अनुमान किया जाता है। जैन शास्त्रों में कहा गया है कि -- शक्ति के अनुसार तप करें जिससे आत्मा में आनन्द बने, क्लेश भाव पैदा न हो। अधिक तप करने से गौतम बुद्ध की समझ में बाहरी कठिन तपस्या से आकुलता हो गयी। उनकी समझ में यह आया कि वस्त्र रख के बाहरी सुगम मार्ग पर चलते हुए भी आत्मा का ध्यान किया जा सकता है। सबसे पहले महात्मा बुद्ध ने 35 वर्ष की अवस्था में मध्यम मार्ग का उपदेश बनारस ( सारनाथ) में दिया था। वहीं ग्यारहवें जैन तीर्थंकर श्री श्रेयांसनाथ की जन्म-भूमि है। बुद्ध के अन्तरंग में जैन तत्त्वज्ञान भरा था। उसी को वे स्वयं पालते थे। उसी के उपदेश को सरल भाषा में उन्होंने जनता तक पहुँचाया।

याकोबी ने जैन धर्म और बौद्ध धर्म को एक दूसरे की शाखा न बताकर यह सिद्ध कर दिया है कि ये दोनों दो स्वतन्त्र धर्म हैं और इन दोनों में कुछ समानताएँ हैं। इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि किसी एक धर्म में से कोई दूसरा धर्म निकला है।

(1) जैन धर्म और बौद्ध धर्म दोनों वेद को नहीं मानते।

(2) दोनों यज्ञ-हिंसा के विरोधी हैं।

(3) दोनों जगन्नियन्ता ईश्वर की सत्ता को नहीं मानते।

(4) दोनों महापुरुषों में देवत्व की स्थापना करके उसकी पूजा करते हैं।

(5) दोनों के धर्म संस्थापक 'अर्हत्' या 'जिन' कहलाते हैं।

(6) दोनों अहिंसा-सिद्धान्त के अनुयायी हैं।

(7) दोनों के संघ में साधु और साध्वी को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

(8) दोनों समकालीन थे, दोनों का जन्म बिहार में हुआ था।[33]

एकमात्र अनिर्वचनीय अनुभवगम्य तत्त्व ही सार है, पर पदार्थ त्यागने योग्य है।

सभी प्रकार के राग-द्वेष, मोह को, सर्वप्रकार की तृष्णा को हरा देने पर जो कुछ भी शेष रहता है वही सत्य तत्त्व है। इसलिये ऐसे ज्ञाता को क्षीणास्रव, कृतकृत्य, सत्यव्रत को प्राप्त, व सम्यग्ज्ञान द्वारा मुक्त कहा जाता है। इस दशा में सर्व प्रकार के राग-द्वेष, मोह-तृष्णा, किसी प्रकार का चिन्तन कुछ शेष नहीं रहता अर्थात् मूल पदार्थ जो आप हैं सो अपने को ही प्राप्त हो जाता है। यही निर्वाण का मार्ग है और इसी की पूर्णता निर्वाण है। निर्वाण के लिये 'मज्झिमनिकाय' के पासरासिसुत्तं के सूत्र सं0 26 से विदित होता है कि निर्वाण --

"अजातं, अनुत्तरं, योगक्खेमं, अजरं, अब्याधिं, अमतं, असोकं, असंकिलिट्ठं, निब्बानं अधिगतो, अधिगतारवो मे अयधम्मो दुद्दसो, दुरनुबोधो, संतो, पणीतो, अतक्का-वचरो, निपुणो, पंडितवेदनीयो"[34] -- अर्थात् निर्वाण अजात है, पैदा नहीं हुआ है, अनुपम है, परम कल्याण रूप है, जरारहित है, व्याधिरहित है, मरणरहित है, अमर है, शोक व क्लेशों से रहित है। मैंने उस धर्म को जान लिया जो धर्म गम्भीर है, शान्त है, उत्तम है, तर्क से बाहर है, निपुण है, पण्डितों के द्वारा अनुभवगम्य है।

"Bliss is Nibban, Nibban is highest bliss."[35]

जैन सिद्धान्त में भी निर्वाण को एक अनुभवगम्य, अविनाशी, आनन्दमय और परमशान्त पदार्थ माना है।

बौद्ध ग्रन्थों में निर्वाण प्राप्त करने के आठ मार्ग बताये गये हैं --

(1) सम्यक् दर्शन
(2) सम्यक् संकल्प
(3) सम्यक् वचन
(4) सम्यक् कर्म
(5) सम्यक् आजीव
(6) सम्यक् व्यायाम
(7) सम्यक् स्मृति और
(8) सम्यक् समाधि

जैन सिद्धान्त में निर्वाण या मोक्ष प्राप्त करने के तीन मार्ग बताये हैं --

(1) सम्यक् दर्शन
(2) सम्यक् ज्ञान व
(3) सम्यक् चारित्र

ये बौद्धों के अष्टांग-मार्ग से पूरे मिलते हैं -- जैसे सम्यक् दर्शन में सम्यक् दर्शन गर्भित है, सम्यक् ज्ञान में सम्यक् संकल्प और सम्यक चारित्र में शेष छः गर्भित हैं।

जैन सिद्धान्त में सम्यक् चारित्र आत्मध्यान या समाधि को कहते हैं। मन, वचन और काय की शुद्धि, शुद्ध भोजन, तप का प्रयत्न और तत्त्व का स्मरण आदि को व्यवहार-चारित्र कहते हैं। इस तरह से दोनों दर्शनों में समाधि के लिये सभी प्रकार से अर्थात्, अपने से, पर से, मोह छुड़ाना आवश्यक बताया है। 'समयसार' में मुमुक्षु की भावना व्यक्त करते हुए कहा गया है --

*"अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइओ सदारूवी।*
*णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणु मित्तं वि।।"*[36]

अर्थात्, मैं एक अकेला हूँ, निश्चय से शुद्ध हूँ, दर्शन व ज्ञान स्वरूप हूँ, सदा ही अन्य परमाणु अमूर्तिक हूँ। अन्य परमाणु मात्र भी मेरा कोई नहीं है।

इस प्रकार का भेद-ज्ञान हो जाने पर मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है। अन्यथा मानव संसार के जाल में फँसता ही जाता है। अतः संसार के दुःखों का मूल कारण शरीर को जानते हुए ममत्व त्याग कर इन्द्रियों से उपयोग को हटाकर भेद विज्ञान द्वारा अपने भीतर प्रवेश करकें आत्मा का ध्यान करे। कुछ ऐसा ही 'ज्ञानार्णव' में भी लिखा गया है--

*"आशा अन्योन्यपंकाय शिवायाशाविपर्ययः।*
*इति सम्यक्समालोच्य यद्धितं तत्समाचर।।"*[37]

अर्थात्, आशा-तृष्णा संसार में फँसानेवाली हैं तथा आशा-तृष्णा का त्याग निर्वाण देने वाला है, ऐसा भली प्रकार विचार कर जिसमें तेरा हित हो वैसा आचरण कर।

मानव को इस प्रकार से विचार कर जिसमें हित नजर आये वैसा आचरण करना चाहिये।

'मज्झिमनिकाय' के चेतोखिलसूत्र में निर्वाण के मार्ग में चलने वाले के लिये 15 बातें उपयोगी बताई गई हैं --

(क) पाँच चेतोखिल

(1) शास्ता (आचार्य)

(2) धर्म

(3) संघ

(4) शील

(5) सब्रह्मचारियों के विषय में कुपित आदि नहीं होना चाहिये क्योंकि ऐसा होने से उनका चित्त तीव्र उद्योगों के लिये नहीं झुकता। इसी तरह से जिस किसी भिक्षु के पाँच चित्त बन्धन कटे नहीं होते हैं वह धर्म विनय में बुद्धि को नहीं प्राप्त हो सकता।

(ख) पाँच चित्तबन्धन

(1) काम में तृष्णा

(2) काय-भोगों में अतिराग

(3) रूप में तृष्णा

(4) शय्या-सुख, स्पर्श-सुख

(5) आगामी देवगति को प्राप्त करने में उलझा रहना, आदि से साधक का चित्त वैराग्य-युक्त होना चाहिये।

(ग) पाँच उद्योग

(1) छन्द समाधि

(2) वीर्य समाधि

(3) चित्त समाधि

(4) इन्द्रिय समाधि

(5) विमर्श समाधि आदि की भावना करने वाला भिक्षु वैराग्य, परमज्ञान, निर्वाण की प्राप्ति के लिये योग्य है। जो ठीक-ठीक उद्योग करेगा वह फल न चाहते हुए भी फल पाएगा। जैन सिद्धान्त भी ऐसा ही कहता है। मुनि को स्नेह रहित, लोभ रहित, मोह रहित, विकार रहित, क्रोध रहित, भय रहित और आशा-तृष्णा रहित होना चाहिये तभी वह परमपद की प्राप्ति कर सकता है।

'रत्नमाला' में कहा गया है -- "कल्याणकारी पदार्थों पर श्रद्धा रखना प्राणिमात्र का कल्याण करने वाला है। प्रथम पदार्थ सच्चा देव है जो निर्विकल्प हो, चिदानन्दपूर्ण हो, परमात्मपदधारी हो, स्वरूप की अपेक्षा सनातन हो, सर्वरागादि दोष रहित हो और कर्म विजयी हो वही देव है। उसी का उपदेशित वचन सच्चा शास्त्र या धर्म है। जो वस्त्रादि परिग्रह रहित हो, खेती आदि आरम्भ से मुक्त हो, नित्य आनन्द पद का अर्थी हो, धर्म की तरफ दृष्टि रखता हो वही साधु या गुरु कर्मों को जलाने वाला बुद्धिमानों द्वारा कहा गया है। इस तरह देव, शास्त्र या धर्म तथा साधु पर श्रद्धा रखना पुण्य का कारण है। इसी को सम्यग्दर्शनरूपी परम तत्त्व कहा गया है। यही श्रद्धा परमपद का कारण है।"[38]

'मज्झिमनिकाय' के सब्बासवसूत्र में सारे आस्रवों के संवर का उपदेश गौतम बुद्ध ने दिया है। आस्रव और संवर शब्द जैन सिद्धान्त के शब्दों में यथार्थ अंश में दिखाये गये हैं। जैन सिद्धान्त में परमाणुओं के स्कन्ध बनते रहते हैं, उनमें से सूक्ष्म स्कन्ध कार्मण वर्गणाएँ हैं जो सर्वत्र लोक में व्याप्त हैं। मन, वचन, काम की क्रिया होने से ये अपने पास खिंच आती हैं और पाप या पुण्य रूप में बँध जाती हैं। जिन भावों से ये आती हैं उनको भावास्रव कहते हैं व उनके आने को द्रव्यास्रव कहते हैं। उनके विरोधी रोकने वाले भावों को भावसंवर कहते हैं और कर्मवर्गणाओं के रुक जाने को द्रव्यसंवर कहते हैं। इस बौद्ध सूत्र में भावास्रवों का कथन इस तरह से किया है --

"भिक्षुओ ! जिन धर्मों के मन में करने से उसके भीतर अनुत्पन्न कामास्रव (कामना रूपी मल) उत्पन्न होता है और उत्पन्न काम आस्रव बढ़ता है। अनुत्पन्न भाव आस्रव ( जन्मने की इच्छारूपी मल) उत्पन्न होता है और उत्पन्न भाव आस्रव बढ़ता है। अनुत्पन्न अविद्या आस्रव (अज्ञानरूपी मल) उत्पन्न होता है और उत्पन्न अविद्या आस्रव बढ़ता है, उन धर्मों को न करना ही योग्य है।"[39]

जैन सिद्धान्त में भी इन्द्रियों और मन के विषयों में रमने से आस्रव होना बताया है व उनके रोकने से संवर होता है, ऐसा दिखाया है। और इन छहों (मन और पाँच इन्द्रिय) के रोकने से समाधि होती है। और बन्ध के कारण तत्त्वार्थसूत्र में इस तरह से बताया गया है --

*"मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः।"*[40]

अर्थात्, मिथ्यादर्शन, अविरति (आसक्ति)[41] प्रमाद, कषाय और योग, ये पाँच कर्मबन्ध के कारण हैं।

*"शंकाकांक्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचाराः।।"*[42]
*"आस्रवनिरोधः संवरः।"*[43]
*"स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः।।"*[44]

अतः आस्रव ही संसार भ्रमण के कारण हैं व इनके रोकने से संसार का अन्त है। जैन और बौद्ध सिद्धान्त के ये कथन एक से ही हैं।

'मज्झिमनिकाय' के अनंगणसूत्र में शुद्ध चित्त होकर धर्म साधन की महिमा द्वारा यह बतलाया गया है कि जो ज्ञान है वह अपने दोषों को मिटा सकता है। जो अपने भावों को पहचानता है कि मेरा यह भाव शुद्ध और वह भाव अशुद्ध है, वही अशुद्ध भाव को मिटाने का उद्योग करेगा और प्रयत्न करते-करते ऐसा समय आयेगा कि वह दोषमुक्त व वीतरागी हो जायेगा। जैन सिद्धान्त में भी व्रती के लिये विषयकषाय शल्य व गौरव आदि दोषों को मिटाने का उपदेश है, उसे पाँच इन्द्रियों की इच्छा का विजयी और क्रोध, मान, माया, लोभरहित होना चाहिये,साथ ही मिथ्यात्व भोगों की इच्छारूप निदान शल्य से तथा मान-बड़ाई व पूजा आदि की चाह से रहित होना चाहिये।[45] ये काम सम्यग्दृष्टि ही कर सकता है क्योंकि उसे शुद्ध भावों की पहचान है, वह मैलेपन को भी जानता है। अतः वही भावों का मल हटाकर उन्हें शुद्ध कर सकता है।

'मज्झिमनिकाय' के वत्थसूत्र में गौतम बुद्ध का उपदेश इस प्रकार है -- "जैसे कोई मैला-कुचैला वस्त्र हो, उसे रंगरेज के पास ले जाकर जिस किसी भी रंग में डालें वह मैला ही रहेगा। ऐसे ही चित्त के मलिन होने से दुर्गति अनिवार्य है, परन्तु जो उजला साफ वस्त्र हो उसे रंगरेज के पास ले जाकर किसी भी रंग में डालेंगे तो वह सुरंग ही

निकलेगा क्योंकि वस्त्र शुद्ध है। ऐसे ही चित्त के निर्मल होने पर सुगति अनिवार्य है।" ऐसा ही जैन सिद्धान्त भी कहता है --

*"वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो।*
*मिच्छत्तमलोच्छण्णं तह सम्मत्तं खु णादव्वं।।*
*वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो।।*
*अण्णाण मलोच्छण्णं तह णाणं होदि णायव्वं।।*
*वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो।*
*कसायमलोच्छण्णं तह धारित्तं पि णादव्वं।।"*[46]

अर्थात्, जैसे वस्त्र का उजलापन मल के मैल से ढका होने से नाश हो जाता है वैसे ही मिथ्यादर्शन के मैल से ढका हुआ जीव का सम्यक्त्व भी नष्ट हो जाता है। जैसे वस्त्र का उजलापन मल के मैल से ढका हुआ नाश को प्राप्त हो जाता है वैसे ही अज्ञान के मैल से ढका हुआ जीव का ज्ञान गुण जानना चाहिये। जैसे वस्त्र का उजलापन मल के मैल से ढका हुआ होने के कारण नाश हो जाता है वैसे ही कषाय के मल से ढका हुआ जीव का चारित्र गुण जानना चाहिये।

पवित्रता के लिये जैन और बौद्ध सिद्धान्त एक सी बात कहते हैं। अर्थात्, बौद्ध सिद्धान्त भी यह नहीं मानता कि जल के स्नान से मानव पवित्र हो जाता है, पर जिसकी आत्मा हिंसादि पापों से रहित है, वही पवित्र है। ऐसा ही जैन सिद्धान्त भी कहता है --

*"आत्मानं स्नापयेन्नित्यं ज्ञाननीरेण धारणा।*
*येन निर्मलतां याति जीवो जन्मान्तरेष्वपि।।"*[47]

अर्थात्, पवित्र ज्ञानरूपी जल से आत्मा को सदा स्नान कराना चाहिये। इस स्नान से यह जीव परलोक में भी पवित्र हो जाता है।

'मज्झिमनिकाय' के अनुमानसूत्र में भिक्षुओं को यह शिक्षा दी गई है कि वे अपने भावों को दोषों से मुक्त करें। उन्हें शुद्ध भाव से अपने भावों की शुद्धता पर स्वयं ही ध्यान देना चाहिए। जैसे व्यक्ति अपने मुख को सदा स्वच्छ रखने की इच्छा से दर्पण में देखा करता है, मैल दिखाई देने पर मुख को रुमाल से पोंछता है, या पानी से धोकर साफ करता है। इसी तरह साधु को अपने दोषों की जाँच करनी चाहिये, दोष दिखने पर उन्हें दूर करने की कोशिश करनी चाहिये। यदि दोष न हों तो भी उसे यह ध्यान रखना चाहिये कि आगे दोष न हों। यह प्रयत्न सत्संगति और शास्त्रों के अभ्यास पर निर्भर है। दोष दिखाने वाले पर क्रोध या द्वेष भाव नहीं रखना चाहिये, क्योंकि मोक्षमार्ग के साधक दोषों के बताने वाले पर सन्तुष्ट होकर अपने दोषों को दूर करने का उद्योग करते हैं।

जैन सिद्धान्त में भी ऐसा ही कहा गया है कि कषाय के कारण मानसिक,

वाचिक और कायिक दोष हो जाते हैं। इसलिए साधु को नित्य सबेरे व सन्ध्या को प्रतिक्रमण अर्थात्, पश्चात्ताप करना चाहिये ताकि आगे दोष न हों। मोक्ष का साधक समभाव या शान्त भाव रखता है। राग-द्वेष, मोहभाव आदि मोक्षमार्ग में बाधक हैं, ऐसा समझकर उसे अपने भावों की शुद्धि का सदा प्रयत्न करना चाहिये। जैन सिद्धान्त में कहा गया है --

*"यथा च जायते धैतः सम्यक्शुद्धिं सुनिर्मलाम्।*
*तथा ज्ञानविदा कार्यं प्रयत्नेनापि भूरिणा।।"*[48]

अर्थात्, जिस तरह यह मन भलीभाँति शुद्धि या निर्मलता को धारण करे, उसी तरह ज्ञानी को बहुत प्रयत्न करके आचरण करना चाहिये।

जिसका मन रागादि मलों से रहित है, उसी को इस जगत् में मुख्य फल प्राप्त हुआ है। 'सार-समुच्चय' में कहा गया है --

*"विशुद्धपरिणामेन शान्तिर्भवति सर्वतः।*
*संक्लिष्टेन तु चित्तेन नास्ति शान्तिर्भविष्यपि।।"*[49]

अर्थात्, निर्मल भावों के होने से चारों ओर शान्ति रहती है परन्तु क्रोधादि के दुःखित परिणामों से भव में भी शान्ति नहीं मिल सकती।

साधक को नित्य प्रति अपने दोषों को विचारकर अपने भावों को निर्मल करना चाहिये। साधु का कर्त्तव्य है कि --

*"धर्मस्य संचये यत्नं कर्मणां च परिक्षये।*
*साधूनां चेष्टितं चित्तं सर्वपापप्रणाशनम्।।"*[50]

अर्थात्, साधुओं का उद्योग धर्म के संग्रह करने में तथा कर्मों के क्षय करने में होता है तथा उनका चित्त ऐसे चारित्र के पालन में होता है, जिससे समस्त पापों का नाश हो जाये।

वह हमेशा सोचता है कि जिस तरह से ओझा (मान्त्रिक) सर्प के विष को मन्त्र पढ़कर दूर कर देता है वैसे ही मैं भी मन, वचन, काय तथा क्रोधादि कषायों के द्वारा किये गये पापों को अपनी निन्दा, गर्हा और आलोचना आदि से दूर करता हूँ अथवा प्रायश्चित्त लेकर उस पाप को धोता हूँ।

'मज्झिमनिकाय' के वितक्कसंठानसूत्र में राग-द्वेष, मोह को दूर करने का विधान है। वास्तव में निमित्तों के आधीन भाव होते हैं, भावों की सँभाल के लिये निमित्तों को बचाना चाहिये।[51] यहाँ पाँच तरह से निमित्तों को टालने का उपदेश दिया है।

(1) जिस निमित्त से मन में राग-द्वेष, मोह वाले पापकारक अकुशल वितर्क (भाव) उत्पन्न होते हैं, उन्हें छोड़कर वैराग्य के निमित्त मिलावें ताकि अकुशल वितर्क नष्ट हो जाएँ।

(2) कुशल भाव मन में करने पर भी राग-द्वेष, मोह सम्बन्धी अकुशल वितर्क उत्पन्न हों तो उनके फल को विचारे।

(3) ऐसा करने पर भी राग-द्वेष आदि भाव पैदा हों, तो उनका स्मरण नहीं करना चाहिये। जैसे ही मन में ये भाव आवें मन को वहाँ से हटा लेना चाहिये और मन को तत्त्व विचारादि में लगा देना चाहिये।

(4) ऐसा करने पर भी राग-द्वेष मोहादि भाव उत्पन्न होते हों तो, भिक्षु को संस्कार के कारणों को विचारना चाहिये।

(5) ऐसा करने पर भी यदि राग-द्वेषादि भाव उत्पन्न होते हों, तो उसे दाँतों पर रखकर जिह्वा को तालु से चिपकाकर, चित्त का निग्रह करना चाहिये। ऐसा करने से वे राग-द्वेष, मोहभाव नाशक होते हैं। जैसे, बलवान पुरुष दुर्बल को सिर से पकड़ कर निग्रहीत करता है। इस तरह पाँच निमित्तों के द्वारा भिक्षु वितर्क के नाना मार्गों को वश में करने वाला कहा जाता है। वह जिस वितर्क को चाहेगा उसका वितर्क करेगा और जिसे नहीं चाहेगा उस वितर्क को नहीं करेगा।

जैन सिद्धान्तानुसार भी यही बात है कि राग-द्वेष, मोह को त्यागे बिना वीतरागता सहित ध्यान नहीं हो सकेगा। अतः उपयुक्त तरीकों से इन भावों को दूर करने के साथ-साथ दूसरा प्रयत्न आत्मध्यान का है जितना आत्मध्यान द्वारा भाव शुद्ध होगा उतना ही राग-द्वेष कषायादि भाव नहीं होगा। 'समाधिशतक' में कहा गया है --

*"अविद्याभ्याससंस्कारैरवंशं क्षिप्यते मनः।*
*तदेव ज्ञानसंस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते।।"*[52]

अर्थात्, अविद्या के अभ्यास के संस्कार से मन लाचार होकर रागी, द्वेषी हो जाता है, परन्तु यदि ज्ञान का संस्कार डाला जाय, सत्य ज्ञान के द्वारा विचारा जाय, तो यह मन स्वयं ही आत्मा के सच्चे स्वरूप में ठहर जाता है।

अतः जब तपस्वी के मन में राग-द्वेष मोहादि भाव पैदा हों, तो उसे आत्मभावना करनी चाहिये और संसार के अकुशल धर्मों को छोड़ना चाहिये। जैसे --

(1) हिंसा से बचने के लिये इन पाँच भावों पर ध्यान देना चाहिये --

*"वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्या*
*लोकितपानभोजनानि पंच।।"*[53]

(2) असत्य से बचने के लिये --

*"क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पंच।।"*[54]

(3) चोरी से बचने के लिये --

*"शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरण भैक्ष्यशुद्धिसधर्मा विसंवादाः पंच।।"*[55]

(4) कुशील से बचने के पाँच भाव --

*"स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहरांगनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरण*
*वृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पंच।।"*[56]

(5) परिग्रह से बचने की पाँच भावनाएँ --

*"मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेष वर्जनानि पंच।।"*[57]

जो इन भावनाओं पर ध्यान रखता है वह उन पाँच पापों से बच सकता है। क्योंकि जिन्होंने इन भावों को बुझा कर सन्तोष रूपी अमृत पिया है, उन्हें निर्वाण सुख की प्राप्ति सहज ही हो सकती है।

'मज्झिमनिकाय' के रथविनीतसुत्तं में सच्चे भिक्षु का लक्षण बताया गया है कि सच्चे भिक्षु को अल्पेच्छु (निर्लोभी), एकान्त चिन्तनशील, अनासक्त, उद्योगी, शीलसम्पन्न या सदाचारी, ज्ञान-दर्शन-सम्पन्न, सहधर्मियों के लिये उपदेशक संदर्शक, समादायक, समुत्तेजक, सम्प्रहर्षक अर्थात् उत्साह देने वाला होना चाहिये। जैन सिद्धान्त का भी सार यही है कि जब कोई साधक शुद्धात्मानुभवरूप समाधि को प्राप्त होगा जहाँ सन्देशरहित मोक्षमार्ग का ज्ञान दर्शन स्वरूप अनुभव है तब ही मल से रहित वह अर्हत् केवली होगा, अर्थात्, अनन्त ज्ञान व अनन्त दर्शन का धनी होगा। फिर आयु के अन्त में शरीररहित, कर्मरहित, सर्व-उपाधिरहित, शुद्ध परमात्मा सिद्ध या निर्वाण स्वरूप हो जायेगा। भावार्थ यही है कि व्यवहारशील व चरित्र के द्वारा निश्चय स्वात्मानुभव रूप सम्यक् समाधि ही निर्वाण का मार्ग है।[58]

ऐसा ही भावपाहुड़ में कहा है --

*"जो जीवो मार्वतो जीव सहायं सुभाव संजुतो।*
*सो जरमरण, विणा संकुणइ फुडं लहइणिव्वाणं।।"*[59]

अर्थात्, जो जीव आत्मा के स्वभाव को जानता हुआ आत्मा के स्वभाव को पाने की भावना करता है, वह जरा-मरण का नाश करता है और निर्वाण पाता है। ज्ञानभूषण भट्टारक ने 'तत्त्वज्ञानतरंगिणी' में कहा है --

*"संगत्यागो निर्जनस्थानकं च तत्त्वज्ञानं सर्वचिंताविमुक्तिः ।*
*निर्बाधित्वं योग रोधो मुनीनां मुक्तये ध्याने हेतवोऽमीनिरुक्ताः ।।*[60]

अर्थात्, परिग्रह का त्याग, निर्जनस्थान, तत्त्वज्ञान, सर्वचिन्ताओं का निरोध, बाधारहितपना, मन-वचन-काय योग की गुप्ति यही मोक्ष के हेतु ध्यान के साधन कहे गये हैं।

'मज्झिमनिकाय' के महासारोपमसुत्त में बताया गया है कि साधक को एकमात्र निर्वाण-लाभ का ही उद्देश्य रखना चाहिये, जब तक निर्वाण लाभ न हो तब तक सन्तोष नहीं करना चाहिये। यदि शील, व्यवहार और चरित्र की योग्यता प्राप्त हो भी जाय तब भी अभिमान नहीं करना चाहिये और न सन्तोष मानकर बैठ ही जाना चाहिये, बल्कि आगे समाधि प्राप्ति का उद्यम करना चाहिये। समाधि की योग्यता हो जाये तो समाधि के बल से ज्ञानदर्शन की आराधना करनी चाहिये। अर्थात्, शुद्ध ज्ञान दर्शनमय होकर रहना चाहिय फिर उससे मोक्ष भाव का अनुभव करना चाहिये। इस तरह वह (साधक) मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

जैन सिद्धान्तानुसार भी यही भाव है कि साधु को ख्याति, लाभ और पूजा का रागी न होकर व्यवहार, चारित्र अर्थात्, शील का भलीभाँति पालन कर ध्यान समाधि को बढ़ाकर कर्मध्यान की पूर्णता करके फिर शुक्लध्यान में आकर शुद्ध ज्ञानदर्शन -- स्वभाव का अनुभव करना चाहिये। इसी के अभ्यास से शीघ्र ही वह मोक्षरूप अर्हत् पद को प्राप्त होकर मुक्त हो जायेगा, फिर मुक्ति से कभी च्युत नहीं होगा।[61] ऐसे योगी के लिये श्री नागसेन ने 'तत्त्वानुशासन' में कहा है --

*"रत्नत्रयमुपादाय त्यक्त्वा बन्ध-निबन्धनम् ।*
*ध्यानमभ्यस्यतां नित्यं यदि योगिन् मुमुक्षसे ।।*
*ध्यानाऽभ्यासप्रकर्षेण मुट्यन्मोहस्य योगिनः ।*
*चरमांगस्य मुक्तिः स्यात्तदैवाऽन्यस्य च क्रमात् ।।"*[62]

अर्थात्, हे योगी ! यदि तू निर्वाण चाहता है तो तू सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय धर्म को धारण कर तथा राग-द्वेष मोहादि सर्व बन्ध के कारण भावों का त्याग कर और भली प्रकार सदा ध्यान समाधि का अभ्यास कर। जब ध्यान का उत्कृष्ट साधन हो जायेगा तब उसी शरीर से निर्वाण पाने वाले योगी का सर्व मोह क्षय हो जायेगा तथा जिसको ध्यान का उत्तम पद न प्राप्त होगा वह क्रम से निर्वाण को पायेगा।

'मज्झिमनिकाय' का महागोसिंगसुत्त साधुओं के लिये शिक्षारूप में उपयोगी है। अर्थात्, साधु को एकान्त में ही ध्यान का अभ्यास करना चाहिये। उन्हें परमसन्तोषी, संसर्ग रहित और इच्छा रहित होना चाहिये। निर्जन स्थानों में तीन काल पर्यन्त एकाग्रचित्त हो

ध्यान करना चाहिये। उन्हें शास्त्रों का ज्ञाता होना चाहिए तभी वे यथार्थ उपदेश दे सकते हैं। उपदेश का हेतु ऐसा हो जिससे राग-द्वेष मोह दूर हों व आत्मा को ध्यान की सिद्धि हो, परस्पर साधुओं की शान्ति बढ़ाने के लिये धर्म चर्चा करें। जैन सिद्धान्त भी ऐसा ही कहता है। साथ ही जैन साधु तो सर्वपरिग्रहत्यागी निर्ग्रन्थ होते हैं, वे वस्त्र भी नहीं रखते एवं मुक्त होते हैं, ध्यान या अभ्यास के लिये यहाँ कहा गया है कि उन्हें पूर्वाह्न, मध्याह्न व सन्ध्या को एकाग्रचित्त हो ध्यान का अभ्यास करना चाहिये। कुछ ऐसा ही जैनों के 'तत्त्वज्ञानतरंगिणी' में कहा गया है --

*"व्रतानि शास्त्राणि तपांसि निर्जन निवासमेतर्बहिः संगमोचनम्।*
*मौनं क्षमातापनयोगधारणं विधिन्तयात्मा कलयन् शिवं श्रयेते।।"*[63]

अर्थात्, जो कोई शुद्ध चैतन्य स्वरूप के मनन के साथ-साथ व्रतों को पालता है, शास्त्रों को पढ़ता है, तप करता है, निर्जन स्थान में रहता है, बाहरी-भीतरी परिग्रह का त्याग करता है, मौन धारण करता है, क्षमा-पालता है और आतापन योग धारता है वही मोक्ष को पाता है।

'मज्झिमनिकाय' के महागोपालकसुत्तं में मूर्ख और चतुर ग्वालों का दृष्टान्त देकर अज्ञानी साधु और ज्ञानी साधु की शक्ति का उपयोगी वर्णन किया गया है। जो साधु निम्न बातों पर ध्यान देता है वही निर्वाण-प्राप्ति में सफल होता है। जैसे --

(1) सर्व पौद्गलिक रचना का ज्ञाता होकर मोह त्यागना चाहिये।
(2) पण्डित के लक्षणों को जानकर स्वयं पण्डित रहना चाहिये।
(3) क्रोधादि कषायों का त्यागी होना चाहिये।
(4) पाँच इन्द्रिय व मन का संयमी होना चाहिये।
(5) परोपकारादि धर्म का उपदेशक होना चाहिये।
(6) विनय सहित बहुज्ञाता से शंका निवारण करते रहना चाहिये।
(7) धर्मोपदेश के सार को समझना चाहिये।
(8) मोक्षमार्ग का ज्ञाता होना चाहिये।
(9) धर्मरक्षक भावनाओं को स्मरण करना चाहिये।
(10) सन्तोषपूर्वक अल्पाहारी होना चाहिये।
(11) बड़ों की सेवा मैत्रीयुक्त भाव से एवं मन-वचन-काय से करनी चाहिये।[64]

जैन सिद्धान्त भी इन गुणों का समर्थन करता है कि ये सब गुण साधु में होने चाहिये। 'सारसमुच्चय' में कहा गया है --

*"ज्ञानध्यानोपवासैश्च परीषहजयैस्तथा।*
*शीलसंयमयोगैश्च स्वात्मानं भावयेत् सदा।।"*[65]

अर्थात्, साधु को चाहिये कि शास्त्र-ज्ञान, आत्म-ध्यान तथा उपवासादि तप करते हुए तथा क्षुधा, तृष्णा, दुर्वचन आदि परिषहों को जीतते हुए शील, संयम तथा योगाभ्यास के साथ अपने शुद्धात्मा की भावना करे।

वीतरागी साधु के भीतर ऐसा कोई अपूर्व परमानन्द पैदा होता है जिसके सामने तीनों लोकों का अचिन्त्य ऐश्वर्य भी तृण के समान है।

'मज्झिमनिकाय' के चूलगोपालकसुत्तं में यह बताया है कि उपदेशदाता को मोक्षमार्ग व संसारमार्ग का ज्ञाता होना चाहिये, क्योंकि जो स्वयं अज्ञानी होगा वह अपने साथ दूसरों को भी डुबोयेगा। अतः सम्यग्ज्ञान होना बहुत जरूरी है, सम्यग्ज्ञान सच्चा ज्ञान है जो उस विज्ञान से भिन्न है जो रूप के द्वारा वेदना, संज्ञा और संस्कार से पैदा होता है, उस सम्यग्ज्ञानी के आस्रव क्षीण हो जाते हैं। सम्यग्ज्ञान को जैन सिद्धान्त में केवल ज्ञान कहा है। क्षीणास्रवी साधु संयोग-केवली जिन हो जाता है। वह सर्वज्ञ, वीतराग, कृतकृत्य, अर्हत् हो जाता है। वही शरीर के अभाव में सिद्ध परमात्मा निर्वाण रूप हो जाता है। 'सारसमुच्चय' में कहा गया है --

*"संसारावासनिर्वृत्ताः शिवसौख्यसमुत्सुकाः।*
*सद्भिस्ते गदिताः प्राज्ञाः शेषाः शास्त्रस्य वंचकाः।।"*[66]

अर्थात्, जो साधु संसार के वास से उदास हैं तथा कल्याणमय मोक्ष के सुख के लिये सदा उत्साही हैं, वे ही साधुओं के द्वारा बुद्धिमान् पंडित कहे गये हैं। इनको छोड़कर शेष सब अपने पुरुषार्थ के ठगने वाले हैं।

सच्चे साधु निर्भय भाव से मन, वचन, काय से शुद्ध व समाधिभाव के अभ्यासी होते हैं, वे लोभी नहीं हैं, हिंसक नहीं हैं, उद्धत नहीं हैं, संशयसहित नहीं हैं, परनिन्दक नहीं हैं, भीरु नहीं हैं, शरीर, संस्कार व लोभ के भूखे नहीं हैं, स्मृतिवान हैं, निराकुल हैं, प्रज्ञावान हैं, वे वन में रहते हुए भी किसी बात का भय नहीं करते, पर जिन साधुओं का मन-वचन-काय का आचरण व भोजन अशुद्ध होता है उनको वन में भय लगता है।

समाधि और प्रज्ञा को सम्पदा बताया गया है। अपने आपको, निर्वाण को स्व पर से भिन्न जानने को प्रज्ञा या भेद-विज्ञान कहते हैं। फिर निर्वाणस्वरूप पदार्थ के साथ एकाग्र हो जाना समाधि है। जैन सिद्धान्त भी ऐसा ही कहता है कि प्रज्ञा द्वारा समाधि होती है। बौद्ध ग्रन्थों में चौदस, अष्टमी व पूर्णमासी की रात को प्रसिद्ध रात मानकर वन में निर्भय हो, समाधि के अभ्यास की बात कही गई है। ऐसा ही जैन ग्रन्थों में भी चौदस, अष्टमी को पर्व मानकर महीने में चार दिन उपवास करने का व ध्यान का विशेष अभ्यास करने की बात कही गई है। सम्यग्दृष्टि जीव ही साहस कर अकेला वन में ध्यान करता है। वह किसी भय को आते देख घबराता नहीं। ऐसे योगी के लिए 'तत्त्वसार' में कहा गया है --

*"झाणट्ठिओ हु जोई जइ णो संवेइ णियय-अप्पाणं।*
*तो ण लहइ तं सुद्धं भग्गविहीणो जहा रयणं।।*
*देहसुहे पडिबद्धो जेण य सो तेण लहइ ण हु सुद्धं।*
*तच्चं वियाररहियं णिच्चं चिय झायमाणो हु।।"*[67]

अर्थात्, ध्यानी योगी यदि अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव नहीं प्राप्त करे तो वह शुद्ध स्वभाव को नहीं पहुँचेगा। जैसे -- भाग्यहीन रत्न को नहीं पा सकता। जो देह के सुख में लीन है, वह विचाररहित अविनाशी व शुद्ध तत्त्व का ध्यान करता हुआ भी उसे नहीं पा सकता है।

धर्म और दर्शन के क्षेत्र में द्वैतवाद, अद्वैतवाद, शून्यवाद, क्षणिकवाद, जड़वाद, क्रियावाद, ज्ञानवाद, प्रभृतिवादों ने उद्भूत होकर मानव के मानस में आपाततः भेदपरकता का बीजारोपण किया। तटस्थ बुद्धि से दर्शन के क्षेत्र में देखा जाय तो लगता है कि स्याद्वाद या अनेकान्तवाद आदि ने तो मानव को पुष्पित और विकसित बनाया होगा। हिन्दू, जैन एवं बौद्ध के भेद की बात तो दूर जैनों में भी आपस में बहुत भेद देखने को मिलेंगे, पर यहाँ हम लोगों का लक्ष्य भेद खोजना नहीं है। जब अभेद अर्थात्, समानता की दृष्टि रखकर हम इन विभिन्न परम्पराओं और संस्कृतियों की ओर देखते हैं, तब कुछ पद्य ही नहीं सन्दर्भ के सन्दर्भ मिलते-जुलते प्राप्त होते हैं या हम कह सकते हैं कि --

"कई नदियाँ ऐसी भी हैं, जो ऊपर से देखने में भिन्न सी प्रतीत होती हैं पर मूल को पकड़ो तो तत्त्व-साम्य या समन्वय से भरा ही सिद्ध होगा।"[68] क्योंकि जैसा कि हमने देखा है जैन दर्शन में जो स्थान आत्मार्पण का है वही अन्य दर्शनों में ईश्वरार्पण का रहा है। अर्थात्, जहाँ सब कुछ ईश्वर को ही समर्पण कर फलाशंसा, अहंवृत्ति और नैराश्य से बचकर सुख की साँस लेने का प्रयत्न किया गया, मौलिक बात एक ही है। उदाहरणार्थ-- "आयरिय पाया पुण अप्पसन्ना अबोहिं आसायण नत्थि मोक्खो" में और अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः" में तथा "आरुग्ग बोहि लाभं सिद्धा सिद्धि मम दिसंतु" में और "ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा" में मौलिक अन्तर है। अन्तर है तो केवल यही है कि एक का घोष है "अप्पा सो परमप्पा" जन से जिन, वहीं दूसरे का उद्गान है --

*"त्वमेव सर्वं मम देव देव।"*

आत्मा के सम्बन्ध में जैन धर्म कहता है -- आत्मा ही मित और आत्मा ही अमित शत्रु है "अप्पा मित्तममित्तं च"[69] वहीं बौद्ध धर्म कहता है -- आत्मा ही अपना नाथ है "अत्ताहि अत्तनो नाथो"[70] और हिन्दू धर्म कहता है -- आत्मा ही अपना बन्धु है और वही अपना शत्रु है-- "आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।"[71]

इसी तरह आत्मा की महानता बताते हुए जैनी कहते हैं कि -- " अप्पा कत्ता विकत्ता य दुक्खाण य सुहाण य।"[72] बौद्ध दर्शन कहता है --

*"अत्तना व कतं पापं अत्तना संकिलिस्सति।*
*अत्तना अकतं पापं अत्तना वा विसुज्झति।।"*[73]

और हिन्दू धर्म कहता है --

*"उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।"*[74]

आत्मा से आत्मा का उद्धार करें, उसे गिराएँ न।

कर्मफल के सम्बन्ध में तीनों का विचार है --

जैन -- "कम्मसच्चा हु पाणिणो।"[75]

बुद्ध -- "यादिसं वपते बीजं, तादिसं हरते फलं।"[76]

हिन्दू -- "अन्यदुप्तां जातमन्यद्, इत्येतन्नोपपद्यते।"[77] (बोया जाये कुछ, लगे कुछ, ऐसा नहीं होता)।

इसी तरह तीनों कर्मों का फल, अर्थात्, जैसा बोये वैसा भोगना भी पड़ता है, मानते हैं।

जैन -- "कडाण कम्माण न मोक्खु अत्थि।"[78] (बिना भोगे, किये, कर्मों से मोक्ष या छुटकारा नहीं होगा)।

बुद्ध -- "नहि नरसति कस्स वि कम्मं।"[79]

हिन्दू -- "अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।"[80]

तीनों ने विचार को महान् बताया है जैसे --

जैन -- "परिणामे बंधो, परिणामे मोक्खो।" (विचारों से ही बन्ध होता है और विचारों से ही मोक्ष)।

हिन्दू -- "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।" (मन ही मनुष्यों के बन्धन एवं मोक्ष का कारण है)।

अतः मन पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है, ऐसा सभी ने कहा भी है।

जैन -- "जे एगं नामे से बहु नामे।"[81]
"सव्वमप्पे जिए जियं।"[82]

हिन्दू -- "जितं जगत् केन ? मनो हि येन।"[83]

जीवन एक यात्रा है, जैसे यात्री को यात्रा सम्पन्न करने के लिये सम्बल चाहिये। उसी प्रकार जीवन की मंजिल पर आगे बढ़ते हुए मनुष्य को ऐसा सहारा चाहिये ताकि

उसकी यात्रा सुख, शान्ति और आत्मस्थिरता के साथ पूरी हो। अर्थात्, धर्म के शाश्वत पदार्थ जो बदलते नहीं एक से रहते हैं, की सहायता की आवश्यकता होती है। अतः तीनों धर्मों ने शाश्वत पदार्थ के लिये ऐसा कहा है --

जैन -- "सोही उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।"[84]

बुद्ध -- "यो वे ठिततो तसरेव उज्जु।"[85]

हिन्दू -- "मनः पूतं समाचरेत्।"[86]

मनुष्य को मन की पवित्रता पर ध्यान देना चाहिये क्योंकि उसके मन में सत् या असत् का द्वन्द्व चलता रहता है और असत् अर्थात्, काम, क्रोध, मद, माया, प्रमाद की प्रबलता हो जाती है, तो उसके आत्मा के गुणों का ह्रास होने लगता है। अतः इन पर विजय पाना महत्त्व की बात है, ऐसा ही तीनों धर्मों ने कहा है --

जैन -- "सव्वमप्पे जिए जियं।" (अपने आत्मा पर विजय पा लेने से सब पर विजय हो जाता है)।[87]

बुद्ध -- "अत्ता ह वे जितं सेय्यो, या चायं इतरा पजा।" (एक आत्मा जीता हुआ श्रेयस्कर है न कि अन्य प्रजा)।[88]

हिन्दू -- "जितं जगत् केन ? मनो हि येन।" (जगत् को किसने जीता ? जिसने अपने मन को जीता)।[89]

अतः मनुष्य को आत्म-विजय के लिये अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच महाव्रत रूप जिनदेशित धर्म का आचरण करना चाहिये।

अहिंसा परम धर्म है, वह अमृत है, दिव्यत्व है, जगत् में सर्वज्ञ अति सुख एवं निर्भयता की सृष्टि का अनन्य हेतु है। अतः अहिंसा में सर्व भूतों का क्षेम समाया हुआ है। ऐसा ही कुछ अहिंसा के लिये तीनों ने कहा है --

जैन -- "अत्तसमे मन्नेज्ज छप्पि काए" (छहों कायों के जीवों को अपने समान समझो)।[90]

बुद्ध -- "अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये" (सब जीवों को आत्मतुल्य समझ घात न करो)।[91]

हिन्दू -- "सर्वभूतेषु वर्तितव्यं यथात्मनि" (सभी प्राणियों से आत्मतुल्य व्यवहार करो)।[92]

इसी तरह,

जैन -- "सव्वेसिं जीवियं पियं" (सबको जीवन प्रिय है)।[93]

बुद्ध -- "सब्बेसं जीवितं पियं" (जीना सबको प्रिय है)।[94]

अतः,

जैन -- "न हणे पाणिणो पाणे" (किसी प्राणी का प्राणघात न करो)।[95]

हिन्दू -- "मा हिंस्यात् सर्वभूतानि।[96]

सत्य पर सभी धर्मों ने जोर दिया है। सत्य जीवन का सार है, आत्म-विकास का फल है, सत्योन्मुख व्यक्ति जीवन में शान्ति एवं आनन्द शाश्वत रूप से लेने लगता है। ऐसा तीनों धर्म कहते हैं। यथा --

जैन -- "सच्चं खु भगवं" (सत्य ही भगवान है)।[97]

बुद्ध -- "सच्चं वे अमता वाचा" (सत्य ही अमृत वचन है)।[98]

हिन्दू -- "सत्येमेवेश्वरो लोके" (सत्य ही संसार में ईश्वर है)।[99]

गाँधी जी ने भी ऐसा ही कहा था "सत्य ही राम है, नारायण है, ईश्वर है, खुदा है, अल्लाह है।"[100]

*"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।"*

सत्य बोलना चाहियें, प्रिय बोलना चाहिये किन्तु जो अप्रिय हो वैसा सत्य भी नहीं बोलना चाहिये, सभी इस बात में एक मत हैं। तथाहिः --

जैन -- "अप्पणट्ठा परट्ठा वा कोहा वा जइ वा भया।"
हिंसगं न मुसं बूया नो वि अन्नं वयावए।।"[101]

अपने लिये या दूसरों के लिये क्रोध या भय से असत्य न बोलो या बुलवाओ।

बुद्ध -- "अभूतवादी निरयं उपैति,
यो वापि कत्वा 'न करोमी ति' चाह।।"[102]

हिन्दू -- "आत्महेतोः परार्थे वा, नर्महास्यात्रयातथा।
ये मृषा न वदन्तीह, ते नराः स्वर्गगामिनः।।"[103]

अपने लिये या दूसरों के लिये हास्य, क्रीड़ा आदि कारणों से भी जो झूठ नहीं बोलते वे स्वर्गगामी होते हैं।

## अस्तेय

जब मनुष्य के कर्म में लालसाओं और वासनाओं के कारण मलिनता आ जाती है, वैसी मनःस्थिति में उत्पन्न होने वाले असत् कर्मों में चोरी भी एक है, इसके त्याग को 'अचौर्य' कहते हैं। चोरी आत्मा के कलुषित होने का परिचायक है। चोरी करने वाला हमेशा बच नहीं सकता, कभी-न-कभी पकड़ में आ ही जाता है, ऐसा सभी धर्म कहते हैं--

जैन -- "दंतसोहणमाइस्स अदत्तस्स विवज्जणं।"[104]
(दन्तशोधन के लिये तृण भी बिना दिये न लें)।

बुद्ध -- "सव्वं अदिन्नं परिवज्जयेय्य।"[105]
(सभी प्रकार की चोरी का त्याग करें)।

हिन्दू -- "सर्वतः शंकते स्तेनो, मृगो ग्राममिवेयिवान्।"[106]
(ग्राम में गए हुए हिरण के समान चोर सदैव शंकित रहता है।)

विषय-सेवन जीवन का स्वाभाविक पक्ष नहीं है, यह दुर्बल पक्ष है, अतः इससे बचने के लिये व्यक्ति को बड़ी जागरूकता व सावधानी बरतनी पड़ती है। तीनों का विचार इस विषय में भी एक है --

जैन -- "कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं,
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स।।"[107]
(समृद्धिशाली देवताओं से लेकर सामान्य प्राणियों तक जो दुःख है, वह विषय-लोलुपता का है)।

बुद्ध -- "उपादान -- पच्चयाभावो भूतो दुक्खं निगच्छति।"[108]
(आसक्ति के कारण ही प्राणी संसार में दुःखी है)।

हिन्दू -- "वैरं पंचसमुत्थानं, तत्त्व बुध्यन्ति पंडिताः।
स्त्रीकृतं वास्तुजं वाग्जं, ससापत्नापराधजम्।।"[109]
(वैर के पाँच कारण हैं -- स्त्री, घर-जमीन, जातिगत-द्वेष, कठोरवाणी और अपराध)।

अतः जैन धर्म कहता है तपों में सर्वोत्तम तप ब्रह्मचर्य है। बौद्ध कहता है कि शील सर्वश्रेष्ठ आभूषण है, सर्वोत्तम सौरभ है और मुक्ति का उत्तम पाथेय है। इन दोनों की तरह हिन्दू धर्म कहता है -- मन, वचन और काया से, अर्थात् समस्त इन्द्रियों के संयम, अथवा शील रूपी सर्वोत्तम धर्म से देवताओं ने मृत्यु को जीता है।

आवश्यकताएँ सागर की तरह अनन्त होती हैं, जिन्हें अन्याय और अनीति द्वारा जुटाया जा सकता है। मानव की मनःस्थिति अनेक पीढ़ियों के लिये भौतिक सुख की सामग्री, सम्पदा आदि संचित करना चाहती है और इन वस्तुओं के संचय के साथ उसकी तृष्णा भी बढ़ती जाती है। इसीलिए तत्त्व-द्रष्टाओं ने तृष्णा को दुःख का मुख्य कारण बताया और उसे सर्वथा हेय कहा।

जैन -- "लोहो सव्वविणासग्गो।" (लोभ सब कुछ नष्ट कर देता है)।[110]
बुद्ध -- "मेथं ब्रूमि महोघोत्ति" (लोभ को महागर्त कहा है)[111]
हिन्दू -- "लोभो धर्मस्य नाशाय" (लोभ से धर्म नष्ट हो जाता है)।[112]

तृष्णा ही संसार का बन्धन है, ये दो अक्षरों का नाम 'मम' -- यह मेरा है, ऐसा

भाव मृत्यु है और तीन अक्षरों का 'न-मम' यह मेरा नहीं है, ऐसा भाव मोक्ष है। अतः तीनों धर्म कहते हैं --

जैन -- "तण्हा हया जस्स न होई लोहो।
लोहो हओ जस्स न किंचणाइ।।"[113]
(जिसने तृष्णा व लोभ का नाश किया उसे कोई दुःख नहीं)।

बुद्ध -- "तण्हक्खयो सब्बदुक्खं जिनाति।"[114]

हिन्दू -- "तृष्णा च दुःखस्य बीजम्।"[115]
(तृष्णा समस्त दुःखों का बीज है)।

तृष्णा का संसार इतना अधिक विस्तृत है कि व्यक्ति जीवन भर उससे छूट नहीं पाता, पर विवेक की दृष्टि से देखने पर एषणा, भोग-वासना सभी दुःखमय व नश्वर लगते हैं और वह सोचता है कि रोग, शोक, बुढ़ापा और मृत्यु इनसे होने वाले दुःखों में कोई भी उसका साथ नहीं देंगे। अपने द्वारा आचरित पाप-कर्मों का फल स्वयं उसे ही भोगना पड़ेगा। सत्पुरुष उसे मोह एवं राग- भय-बन्धनों से छुड़ाने के लिये सदा उद्‌बोधन देते हैं। सत्पुरुषों की वाणी में जहाँ सांसारिक वस्तुओं की उपेक्षा है, वहाँ वीतराग भाव की ओर अग्रसर होने का दिशा-दर्शन भी है। सभी धर्म एक बात कहते हैं, जैसे --

जैन -- "पच्छ पुरा व चइयव्वे फेण-बुब्बुय-सन्निभे।"[116] (अर्थात्, शरीर पानी के बुदबुदे के समान है)।

बुद्ध -- "फेणूपमं कायमिमं विदित्त्वा।"[117] (अर्थात्, शरीर को पानी के बुदबुदे के समान समझने का प्रयत्न करो)।

हिन्दू -- "नलिनी-दल-गत-जल-लव-तरलं किं, यौवनं धनमथायुः।"[118] (अर्थात्, यह शरीर कमल के पत्ते पर पड़ी बूंद के समान क्षणिक है)।

जैन -- "जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं रोगा य मरणाणि य।
अहो ! दुक्खो हु संसारो जत्थ कीसंति जंतवो।।"[119]

ऐसा ही बुद्ध कहते हैं --

"किच्छ वतायं लोको, आपन्नो जायति च जीयति च।
नियति च चवति च, उपजंति च।"[120]

दिनकर जी ने लिखा है --

"रोग शोक संताप जरा, सब आते ही रहते हैं
पृथ्वी के प्राणी विषाद, नित पाते ही रहते हैं।"[121]

रात्रि भोजन निषेध हो ऐसा तीनों धर्म कहते हैं --

जैन -- "अत्थंगयम्मि आइच्चे पुरत्था य अणुग्गए।
आहारमइयं सव्वं मणसा वि न पत्थए।।"[122]

(अर्थात्, सूर्य अस्त होने से सूर्य उदय होने तक सर्व प्रकार के खान-पान की मुमुक्षु मन से भी इच्छा न करे)।

बुद्ध -- "रत्तिं न भुंजेय्य विकाल भोजनं।" (अर्थात्, रात्रि भोजन विकाल भोजन है, जो नहीं करना चाहिये)।

हिन्दू -- "वर्जनीया महाराजन् ! निशीथे भोजन-क्रिया।"[123] (अर्थात्, हे राजन् ! रात में भोजन करना छोड़ना चाहिये)।

मुनि का धर्म कैसा हो, इसमें भी सभी की राय एक है। जब तक मानव संसार में रहता है अर्थात्, जब तक देह है तब तक तदनुकूल कर्म भी है, पर आत्मोन्मुख साधक जलस्थित कमल की तरह कर्म से लिप्त नहीं होता क्योंकि उसमें आसक्ति नहीं होती। कर्त्तव्यता और लिप्तता में अन्तर है। लिप्त बँधता जाता है, कर्त्तव्यशील छूटता जाता है। अतः तीनों इस तरह से कहते हैं --

जैन -- "जहा पोमं जले जायं नोवलिप्पइ वारिणा।"[124] (अर्थात्, साधक को जल में कमल की तरह संसार से निर्लिप्त रहना चाहिये)।

बुद्ध -- "नो लिम्पति लोकेन तोयेन पद्मं यथा।"[125] (अर्थात्, विद्वान पानी में कमल की तरह लोक में लिप्त नहीं होते)।

हिन्दू -- "पद्मपत्रमिवाम्भसा।"[126] अर्थात्, साधक पानी में कमल की तरह संसार से निर्लिप्त रहे।

मुनियों के भ्रमण के बारे में भी तीनों का एक मत है --

जैन -- "जहा दुमस्स पुप्फेसु भमरो आवियई रसं।
न य पुप्फं किलामेइ सो य पीणेइ अप्पयं।।"[127]

(अर्थात्, जिस तरह से भौंरा वृक्ष के पुष्पों को संक्लेश देता हुआ रस ग्रहण करता है और अपने को परितृप्त करता है, वैसे ही साधु अपनी जीवन-यात्रा को निभाए)।

बुद्ध -- "यथापि भमरो पुप्फं वण्णगन्धं अहेठयं।
पलेति रसमादाय एवं गामे मुनी चरे।।"[128]

हिन्दू -- "यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः।
तद्वदर्थान् मनुष्येभ्य आदद्यादविहिंसया।।"[129]

(जैसे भौंरा फूलों की रक्षा करते हुए मधु-संग्रह करता है, वैसे ही मनुष्य

किसी को कष्ट न देता हुआ अर्थोपार्जन करे)।

मनुष्य को संसार में सत्पुरुषों की संगति में रहना, किसी के साथ दुर्व्यवहार न करना, प्रमाद, आलस्य आदि का त्याग करना, रहन-सहन, खान-पान, बातचीत आदि सभी दैनन्दिन कार्यों में परिष्कार लाना, चंचल व अस्थिर मनोवृत्ति का त्याग करना, निन्द्यकर्मों से परे रहना, अपने उच्च ज्ञान के अनुरूप कर्म में उच्चता लाना आदि ऐसे क्रम हैं जिनसे जीवन में सुव्यवस्था एवं संयमन का संचार होता है। ये सब नीतियाँ मनुष्य को सत् की ओर ले जाती हैं। जब तक नीति का आदर नहीं होगा,तब तक जीवन अव्यवस्थित और असन्तुलित रहेगा। इसलिये जो सुखी जीवन जीना चाहते हैं उन्हें नीति-मार्ग को जानना आवश्यक है।

इस तरह हम कह सकते हैं कि हिन्दू, जैन और बौद्ध तीनों धर्म एक ही लक्ष्य का सम्पूर्ण विकास करते हुए जीवन के आचार, व्यवहार या कर्तव्यपथ का चिन्तन करते हैं। तीनों ही अर्थात्, वैदिक परम्परा ब्रह्म-साक्षात्कार, जैन परम्परा आत्म-परिष्कार तथा बौद्ध परम्परा दुःख-परिहार के सन्दर्भ में अग्रसर हुए। इनके तात्त्विक उपासनात्मक एवं विश्लेषणात्मक जो भी भेद रहे हों जहाँ मानव के दैनन्दिन आचार या जीवन क्रम की बात आई है, तीनों का स्वर लगभग एक जैसा है --

*"दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये।*
*स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे।।"*[130]

अर्थात्, देश और काल से अमर्यादित अनन्त, चिन्मात्र जिसका स्वरूप है, जो अपने अनुभव के सार-रूप में प्राप्त होता है, उस शान्त ब्रह्म को नमस्कार है। इस तरह सभी के अन्तःमन की एक ही पुकार है।

शैव लोग जिसको 'शिव' के नाम से, वेदान्ती 'ब्रह्म' के नाम से, बौद्ध लोग 'बुद्ध' के नाम से, प्रमाण-पटु नैयायिक 'कर्त्ता' के नाम से, जैन-सम्प्रदाय के लोग 'अर्हत्' के नाम से तथा मीमांसक 'कर्म' के नाम से उपासना करते हैं, वह तीनों लोकों के नाथ हरि हमें इच्छित फल दें।

## (ख) जैन धर्म में चारित्रिक आदर्श का महत्त्व

संसार एक अनन्त अविराम प्रवाह है और नाना-जीव अनादि काल से अनन्त काल तक धर्मविमुख हो इधर-उधर टक्करें खाते रहते हैं। अतः जीवन को सुव्यवस्थित और नियंत्रित बनाने के लिये धर्म की आवश्यकता होती है।

धर्म शब्द धृ+मन् से निष्पन्न है। धियते लोकोऽनेन इति, धरति लोकं वा धर्मः अथवा इष्टे स्थाने धरते इति धर्मः। इस तरह से धर्म सुख का कारण है। धर्म और सुख में

दीपक और प्रकाश के समान सहभावी भाव हैं। जहाँ दीपक हो वहाँ प्रकाश अवश्य रहता है। इसी प्रकार जहाँ धर्म होगा, वहाँ सुख अवश्य होगा और जहाँ धर्म नहीं वहाँ सुख भी नहीं रहेगा। धर्म का एक वस्तु स्वभाव भी है। जिस प्रकार अग्नि का धर्म जलाना है, जल का शीतलता है, वायु का बहना है उसी प्रकार आत्मा का धर्म या स्वभाव चैतन्य है। स्वभाव रूप धर्म जड़ हो या चेतन विश्व की सभी वस्तुओं में है, पर आचार रूप-धर्म तो केवल चेतन-आत्मा में ही पाया जाता है। जीव को आचार द्वारा अभ्युदय (लोक-कल्याण) और निःश्रेयस (कर्मबन्धन से मुक्ति) की प्राप्ति होती है। अतः धर्म का सम्बन्ध आत्मा से है। धर्म आत्मा को परमात्मा बनने का मार्ग बताता है। समन्तभद्रस्वामी ने धर्म का वर्णन करते हुए लिखा है --

*"देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिबर्हणम्।*
*संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।।"*[131]

इसमें तीन बातें देखने को मिलती हैं --

(1) संसार में दुःख है।

(2) उस दुःख का कारण प्राणियों के अपने-अपने कर्म हैं।

(3) धर्म प्राणी को दुःख से छुड़ाकर उत्तम सुख प्राप्त कराता है।

संसार में दुःख है, सब लोग सुख के इच्छुक हैं, उसी के लिए वे दिन-रात प्रयत्न करते रहते हैं, फिर भी सब दुःखी हैं। निर्धन धन के लिये परेशान हैं, धनी धन की सुरक्षा, तृष्णा या किसी न किसी दुःख से पीड़ित हैं। निःसन्तान सन्तान के लिये तो कोई पारिवारिक परेशानियों में उलझे हैं। इस तरह प्रत्येक किसी-न-किसी दुःख से दुःखी हैं और अपनी समझ के अनुसार उसे दूर करने की चेष्टा करते हैं, पर दुःख से छुटकारा तो नहीं मिलता और सारा जीवन सुख की चाह को पूरा करने में बीत जाता है, फिर भी चाह पूरी नहीं होती।

सुख के तीन साधन हैं -- धर्म, अर्थ और काम। इनमें धर्म ही मुख्य है। शेष दोनों गौण। क्योंकि शुभाचरण रूप धर्म के बिना अर्थ और काम की प्राप्ति नहीं होती और यदि इनकी प्राप्ति हो भी जाती है तो अधर्मपूर्ण साधनों से उपार्जित अर्थ और काम कभी सुख का कारण नहीं हो सकता, बल्कि दुःखों का ही कारण बनता है। यथार्थ में अर्थ और काम से सुख तभी हो सकता है जब उसमें सन्तोष हो, सन्तोष के बिना धन कमाने से धन की तृष्णा बढ़ती ही जाती है और तृष्णा की ज्वाला से जलते हुए मनुष्यों को सुख लेशमात्र भी नहीं मिल सकता। अर्थ और काम तो सदा ठहरने वाले नहीं हैं। इनका स्वभाव ही नश्वरता है, किन्तु मनुष्यों ने उन्हें ही सुख का कारण मान रखा है। यदि वहाँ कोई धर्म-कार्य करता भी है तो अर्थ और काम के लिये ही करता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य का दुःखी होना स्वाभाविक है। इन दोनों से भिन्न धर्म के द्वारा अर्थ और काम की मर्यादा रखी

जाय तो वे सुख के साधन हो सकते हैं। परन्तु धर्म की मर्यादा बिना वे दुःख के साधन हो सकते हैं। अर्थ और काम तो जीवन में भोग उत्पन्न कर सकते हैं -- जीवन को वे उदात्त नहीं बना सकते। अतः सुख के इन साधनों में धर्म ही प्रधान है, जो अर्थ और काम का नियन्त्रक है, वह मानव-जीवन को उदात्त बना सकता है।

"शास्त्रों में जो सुख का विचार किया गया है, उस पर दृष्टि डालने से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। शास्त्रों में सुख को जीव का स्वभाव बताया गया है क्योंकि सुख जीव के भीतर से ही प्रकट होता है। बाहर संसार में कहीं भी सुख का स्थान नहीं है।"[132] सुख या दुःख का अस्तित्व स्वयं हमारे भीतर विद्यमान है। सुख का खजाना कहीं दूसरी जगह से लाना नहीं है। यह तो हमारे भीतर ही छिपा हुआ है। जो सुख की खोज में इधर-उधर भटकते हैं, वे ही दुःख का कारण बनते हैं। साथ ही यह भी देखने में आता है कि एक ही वस्तु किसी के सुख का साधन होती है और किसी के दुःख का। जैसे, पुत्र जब तक माता-पिता का आज्ञाकारी रहता है तब तक उनके सुख का साधन होता है और जब वही उद्दण्ड हो जाता है, तो दुःख का कारण बन जाता है। अतः यदि बाह्य वस्तु सुखस्वरूप होती तो उससे सब को सदा सुख ही होना चाहिये था किन्तु ऐसा नहीं होता। इससे यह स्पष्ट होता है कि सुख जीव का ही स्वभाव है, जड़ का नहीं। इसलिये वह अन्दर से उत्पन्न होता है किन्तु बाहर से जिस वस्तु का सहारा पाकर सुख उत्पन्न होता है, व्यक्ति अज्ञानवश उसे ही सुख मान बैठता है परन्तु बाहरी वस्तुओं में न सुख है और न वे सुख का साधन ही हैं। शरीर में उत्पन्न होने वाले विकारों की क्षणिक शान्ति के उपायों को मनुष्य भ्रम से सुख का साधन मानता है। वास्तव में वे सुख के साधन नहीं हैं। बाह्य वस्तुओं का संग्रह तो शरीर और मन के अन्दर उत्पन्न होने वाली दुःखजनित चंचलता को मिटाना मात्र है। सच्चा सुख तो बाह्य वस्तुओं की अपेक्षा नहीं करता। वह तो अपने अन्दर से स्वतः विकसित होता है। उसके लिये इन बाहरी वस्तुओं का कोई महत्त्व नहीं है। अतः न अर्थ सुख का साधन है और न काम अपितु इच्छा का विरोध ही सच्चे सुख का साधन है, पर जो इस बात को नहीं समझते, वे इच्छा को न रोककर अर्थात् जितना प्राप्त है उससे सन्तुष्ट न होकर अप्राप्त के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। किन्तु केवल प्राप्ति का यत्न करने से ही इष्ट और अभिलषित वस्तुएँ प्राप्त नहीं होतीं, यदि प्राप्त होती भी हैं तो उनसे उनकी तृष्णा बढ़ती ही जाती है -- जैसे जलती हुई अग्नि में इन्धन डालने से अग्नि बढ़ती है। महाकवि बनारसीदास जी कहते हैं --

*"रे मन ! कर सदा संतोष, जाते मिटत सब दुःख-दोष।*
*बढ़त परिग्रह मोह बाढ़त, अधिक लिखना होति।।*
*बहुत ईंधन जरत जैसे, अगिनि ऊँची जोति।"*[133]

अतः प्रत्येक प्रकार की इच्छाओं का नियमन ही सुख का सच्चा उपाय है। धर्म इच्छाओं का नियमन करके सुखी ही नहीं पूर्ण सुखी बनाने में मदद करता है क्योंकि इन्द्रियों

द्वारा प्राप्त होने वाला सुख तो पराधीन है, उसके सेवन से पूर्ण सन्तुष्टि नहीं मिलती। फिर उसके लिये मन विकल हो उठता है। अतः इस प्रकार से प्राप्त होने वाला सुख, सुख नहीं है अपितु वह तो दुःख ही है। सच्चा सुख वह है जिसे एक बार प्राप्त कर लेने पर फिर दुःख का भय ही नहीं रहता। इसी से कहा है --

*"तत्सुखं यत्र नादुःखम्।"*

सुख वही है जिसमें दुःख न हो। धर्म से ऐसे ही स्थायी सुख की प्राप्ति होती है। अतः धर्म का स्वभाव जीव को मुक्ति की ओर ले जाना है और अधर्म का स्वभाव मनुष्य को संसार में लाना है। इस तरह के धर्म की परिभाषाएँ ये हैं--

*"चारितं खलु धम्मो-धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।*
*मोहक्खोह-विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो।।"*[134]

(1) वस्तु स्वभाव।

(2) रत्नत्रय -- सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र।

(3) उत्तम क्षमादि दश लक्षणरूप धर्म।

(4) दया।

आचार्य समन्तभद्र के अनुसार --

*"सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।*
*यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भव-पद्धतिः।।"*[135]

उमास्वामी ने सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र को मोक्ष का मार्ग कहा है। अर्थात्, मुक्ति का मार्ग-दुःखों और उनके कारणों से छूटने का उपाय ही धर्म है।

## (1) सम्यक्-दर्शन

धर्म का मूल स्तम्भ सम्यक्-दर्शन है, जैसा कि 'नियमसार' में कहा गया है --

सम्यक्-दर्शन आत्मसत्ता की आस्था है और स्वरूप विषयक दृढ़ निश्चय है। मैं कौन हूँ ? क्या हूँ ? कैसा हूँ ? आदि का निर्णय इसी के द्वारा होता है। जड़-चेतन की भेद-प्रतीति भी इससे ही होती है। आत्मा कभी पुद्गल नहीं हो सकता और पुद्गल कभी आत्मा नहीं हो सकता। यह भी सत्य है कि पुद्गलों की सत्ता सर्वत्र विद्यमान है और उनकी सत्ता को कभी भी नष्ट नहीं किया जा सकता। इस विश्व के कण-कण में अनन्तकाल से पुद्गलों की सत्ता रही है और रहेगी। अतएव पुद्गलों के रहते हुए उनसे भिन्न आत्मा के स्वरूप की आस्था करना सम्यक्-दर्शन है।[136] सम्यक्-दर्शन के लिये आवश्यक है --

(1) तत्त्वार्थ श्रद्धा -- सात तत्त्वों और नौ पदार्थों की यथार्थ प्रतीति।

(2) स्वपर श्रद्धा -- 'स्व' और 'पर' की रुचि।

(3) परमार्थ देवशास्त्र गुरु की प्रतीति।

(4) आत्मश्रद्धान -- श्रद्धागुण की निर्मल परिणति।

(5) अनन्तानुबन्धी तथा दर्शनमोहनीय की चार तथा तीन प्रकृतियाँ। इन सात प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम या क्षय से प्रादुर्भूत या श्रद्धा गुण की निर्मल परिणति।

"आत्म-कल्याण के लिये सात तत्त्व या नौ पदार्थ प्रयोजनीय हैं। इनके स्वरूप का वास्तविक निर्णय करना, प्रतीति करना सम्यक् दर्शन है। इन सात तत्त्वों में जीव-अजीव का संयोग संसार है और इसके कारण आस्रव एवं बन्ध हैं। जीव से अजीव का वियोग पृथक् भाव है, उसका कारण संवर एवं निर्जरा है। जिस प्रकार रोगी मनुष्य को रोग, उसके कारण, रोग-मुक्ति और उसके कारण इन चारों का ज्ञान आवश्यक है, उसी प्रकार जीव को संसार, संसार के कारण -- मुक्ति और मुक्ति के कारण इन चारों का परिज्ञान अपेक्षित है।"[137] सम्यक्-दर्शन प्राप्त करने की योग्यता चारों गति वाले भव्य जीवों में होती है।

"सम्यक्-दर्शन को मोक्ष के मार्ग में कर्णधार बताया गया है। जैसे, नाव को ठीक दिशा में ले जाना खेने वालों के हाथ में नहीं होता, किन्तु नाव के पीछे लगे हुए डाँड का संचालन करने वाले मनुष्य के हाथ में होता है। वह उसे जिधर को घुमाता है, नाव की गति उधर को हो जाती है"।[138] ऐसी ही बात सम्यक्-दर्शन के साथ भी है। इसी कारण जैन-सिद्धान्त में सम्यक्-दर्शन का बहुत महत्त्व है।

सम्यक्-दृष्टि जीव को आत्मा का श्रद्धान तथा देवशास्त्र गुरु का श्रद्धान होता है। आत्मा का श्रद्धान होना निश्चय सम्यक् दर्शन है और देवशास्त्र गुरु का श्रद्धान होना व्यवहार सम्यक्-दर्शन है। धर्म तो आत्मा का स्वभाव है यह किसी दूसरे के अधीन नहीं है और न दूसरे के अवलम्बन से प्राप्त होता है। यह तो अपने आपको जानने देखने से अपने में ही प्रादुर्भूत होता है। इसी कारण ऐसे महापुरुषों और उनकी वाणी का आश्रय करना पड़ता है। जिन्होंने अपने में पूर्ण रूप से धर्म प्रकट किया है।

सम्यक्-दर्शन के आठ अंग हैं जिनके पालन करने से ही संसार-सन्तति का उन्मूलन होता है। इन आठ अंगों में विभक्त उन्नति के लिये प्रारम्भिक चार अंग और समाज सम्बन्धी उन्नति के लिये उपगूहनादि चार अंग आवश्यक हैं।"[139] जिस तरह बिना आठ अंगों[140] के शरीर नहीं बनता, वैसे ही इन आठ अंगों के बिना सम्यग्दर्शन भी नहीं बनता।

**(1) निःशंकित अंग**

सर्वप्रथम जिस सत्य मार्ग का सम्यग्दृष्टि ने अवलम्बन किया है, उसके सम्बन्ध

में उसे निःशंक होना चाहिये। जब तक उसे यह शंका लगी होती है कि यह मार्ग ठीक है या गलत, उसकी आस्था दृढ़ नहीं कही जा सकती। यदि श्रद्धा में कुछ भी शंका बनी रहती है,तो उसे तत्त्वज्ञान के रहने पर भी अभीष्ट प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। शंका दो प्रकार से उत्पन्न होती है -- (1) अज्ञानमूलक एवं (2) दौर्बल्यमूलक।

दुर्बलता का कारण इहलोक भय, परलोक भय, आदान भय, अकस्मात् भय, वेदना भय, मरण भय और अश्लोक भय -- ये सात भय बताये गये हैं। जो इन भयों से मुक्त हो जाता है वही निःशंक हो सकता है, क्योंकि निःशंकता में अकम्पता का रहना आवश्यक है। श्रद्धा में चलिताचलित वृत्ति का पाया जाना वर्जित है।

*(2) निःकांक्षित अंग*

दूसरा किसी भी प्रकार के लौकिक सुखों की इच्छा नहीं करनी चाहिए। अर्थात्, निष्काम होकर कार्य करना चाहिये। सांसारिक सुखों की आकांक्षा न करना 'निःकांक्षित अंग' है। वस्तुतः सांसारिक सुख व्यक्ति के अधीन न होकर कर्मों के अधीन है। कर्मों के तीव्र, मन्द उदय के समय यह घटता बढ़ता रहता है। सांसारिक सुख आकुलता उत्पन्न करने वाला है, वह अनेक प्रकार के दुःखों से मिश्रित है और बाधा उत्पन्न करने वाला है। प्रवचनसार में भी ऐसा ही कहा है --

*"सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।*
*जं इंदियेहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा।।"*[141]

शुद्ध सम्यग्दृष्टि अपने शुद्ध आत्मपद के सिवाय अन्य किसी भी पद को अपना स्वतन्त्र, स्वाधीन, सर्वथा, निराकुल और उपादेय नहीं मानता। आत्मा में पर-पुद्गल के सम्बन्ध से विकार हैं या होते हैं, वे वास्तव में आत्मा के नहीं है। शुद्ध आत्मा का स्वरूप तत्त्वतः उन सभी विकारों से रहित है। इस प्रकार निःशंक और निश्चल आत्मा सभी प्रकार के आकांक्षाओं से रहित होता है। अतएव सम्यग्दृष्टि सांसारिक सुखों या भोगों की आकांक्षा नहीं करता।

**(3) निर्विचिकित्सा अंग**

तीसरा मुनिजन, रोगी, दुःखी और दरिद्रों के मलिन शरीर को देखकर उससे ग्लानि न करना 'निर्विचिकित्सा अंग' है। रत्नकरण्डकश्रावकाचार में कहा है --

*"स्वभावतोऽशुचौ काये।"*[142]

अतएव मलिन शरीर की ओर ध्यान न देकर रत्नत्रययुक्त आत्मा की ओर दृष्टि रखना, बाह्य मलिनता पर ध्यान न देकर गुणों पर दृष्टि देनी चाहिये। निर्विचिकित्सा के अनेक कारण हो सकते हैं जैसे -- (क) जन्मजन्य, (ख) जराजन्य और (ग) रोगजन्य।

(4) अमूढ़दृष्टि अंग

सम्यक्-दृष्टि व्यक्ति की प्रत्येक प्रवृत्ति विवेकपूर्ण होती है। वह किसी का अन्धानुकरण नहीं करता है। वह न तो कुमार्ग पर चलने वालों की प्रशंसा करता है और न उसे उपादेय ही मानता है। कोई उसे सन्मार्ग से च्युत करने का प्रयत्न करे तो वह उसकी बातों पर ध्यान नहीं देता। वह श्रद्धालु तो होता है पर अन्धश्रद्धालु नहीं होता। अमूढ़दृष्टि अन्धश्रद्धा का पूर्ण त्याग करता है।

(5) उपगूहन अंग

इस अंग का नाम उपबृंहण भी है, जिसका अर्थ "आत्म गुणों की वृद्धि करना" होता है। सम्यक् दृष्टि गुणी, संयमी, ज्ञानी व धर्मात्मा व्यक्तियों की प्रशंसा करता है, प्रोत्साहन देता है। अपने गुणों को बढ़ाने और दूसरे के अवगुणों को ढँकने का प्रयत्न करता है। अज्ञानी और असमर्थ जनों के द्वारा रत्नत्रय और रत्नत्रय के धारक व्यक्तियों में आये हुए दोषों का प्रच्छादन करना 'उपगूहन अंग' है।

(6) स्थितिकरण अंग

सांसारिक कष्टों में पड़कर, प्रलोभनों के वशीभूत होकर या अन्य किसी बाधा से कोई धर्मात्मा सन्मार्ग से च्युत हो रहा हो, या चरित्र से भ्रष्ट होने जा रहा हो तो उसके कष्टों को दूर करने की कोशिश कर उसे धर्म में स्थिर करना 'स्थितिकरण अंग' है।

(7) वात्सल्य अंग

अपने सहयोगियों एवं अहिंसामयी धर्म से, साधर्मी बन्धुओं से सम्यक् दृष्टि के प्रति निश्छल और आन्तरिक स्नेह करना वात्सल्य है। धूर्तता, मायाचार, चंचलता आदि को छोड़कर सद्भावना पूर्वक साधर्मियों का आदर, सत्कार, पुरस्कार, विनय, वैयावृत्य, भक्ति, सम्मान प्रशंसा आदि करना 'वात्सल्य अंग' है।

(8) प्रभावना अंग

संसार में फैल धर्म सम्बन्धी भ्रम को दूर करना और धर्म की महत्ता स्थापित करना प्रभावना है। सम्यक्-दृष्टि से आशय रत्नत्रय के तेज से आत्मा को प्रभावित करते हुए दान, तप, विद्या, जिनपूजा, मंत्रशक्ति आदि के द्वारा लोक में जिन शासन का माहात्म्य प्रकट करना है। ऐसे कार्यों का वह आचरण करता है जिनसे जिन-शासन की महिमा की अभिव्यक्ति होती है।

सम्यक्-दर्शन के इन आठ अंगों के विपरीत शंका, आकांक्षा, विचिकित्सा, मूढ़दृष्टि, दोष-व्यक्तिकरण, अस्थितिकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना आदि दोष श्रद्धा को मलिन बनाते हैं। अतः सम्यक् दृष्टि इनसे अपने को वंचित रखने की पूरी कोशिश

करता है, वह अपने ज्ञान, तप, आदर-सत्कार, बल, ऐश्वर्य, कुल, जाति, सौन्दर्य आदि का मद न तो करता है और न मद में आकर किसी भी सहधर्मी का अपमान करता है।

सम्यक्-दर्शन आत्मा के श्रद्धागुण का निर्मल पर्याय है। इसे धारण कर नीच कुल में उत्पन्न चाण्डाल भी महान् बन जाता है और श्वान जैसा निंद्य प्राणी भी देवों द्वारा पूज्य बन जाता है।

## (2) सम्यक्-ज्ञान

ज्ञान आत्मा का गुण है। जानना उसका पर्याय अर्थात् कार्य है। ज्ञान के दो भेद हैं -- (अ) सम्यक्-ज्ञान और (ब) मिथ्या-ज्ञान।

### (अ) सम्यक्-ज्ञान

सम्यक्-दर्शन से युक्त ज्ञान को 'सम्यक्-ज्ञान' कहते हैं। सम्यग्ज्ञान का सम्बन्ध आत्मोत्थान के साथ है। जिस ज्ञान का उपयोग आत्म-विकास के लिये किया जाता है और जो पर-पदार्थ से पृथक् कर आत्मा का बोध कराता है, वह सम्यक्-ज्ञान है। सम्यक्-ज्ञान के पाँच भेद हैं --

*"मतिश्रुताऽवधिमनःपर्यायकेवलानि ज्ञानम्।"*[143]

(1) *मतिज्ञान* -- इन्द्रिय और मन के द्वारा यथायोग्य पदार्थों को जानने वाला।

(2) *श्रुतज्ञान* -- श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम होने पर, मन एवं इन्द्रियों के द्वारा अधिगम अर्थात् मतिज्ञान से जाने गये पदार्थ को विशेष जानना।

(3) *अवधिज्ञान* -- सीमितरूपी पदार्थ को इन्द्रियों की सहायता के बिना जानने वाला।

(4) *मनःपर्यायज्ञान* -- अन्य व्यक्ति के मन में स्थित पदार्थों को जानने वाला।

(5) *केवलज्ञान* -- समस्त पदार्थों को अवगत करने वाला ज्ञान।"[144]

### (ब) मिथ्याज्ञान या कुज्ञान

मिथ्यादर्शन से युक्त ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहते हैं। मिथ्याज्ञान के तीन प्रकार हैं-- (1) कुमति, (2) कुश्रुत और (3) कुअवधि।

*"मतिश्रुताऽवधयो विपर्ययश्च।"*[145]

इस प्रकार सम्यक्-दृष्टि के पाँच और मिथ्यादृष्टि के तीन कुल ज्ञान आठ प्रकार के होते हैं। यथाहि --

*"णाणं अट्ठवियप्पं, मदिसुदओही अणाणणाणाणि।*
*मणपज्जय केवलमवि, पच्चक्खपरोक्खभेयं च।।"*[146]

इस प्रकार सम्यक्-ज्ञान की परिभाषा अनेक प्रकार से उपलब्ध होती है --

(1) जिस-जिस प्रकार से जीवादि पदार्थ अवस्थित हैं, उस-उस प्रकार से उनका जानना, 'सम्यक्-ज्ञान' है।"[147]

(2) जो ज्ञान वस्तु के स्वरूप को न्यूनता रहित, अधिकता रहित, विपरीतता रहित, जैसा का तैसा सन्देह रहित जानता है, उसे 'सम्यक्-ज्ञान' कहते हैं।"[148]

(3) आत्मा और अनात्मा का संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित ज्ञान ही 'सम्यक्-ज्ञान' है।"[149]

(4) आत्मस्वरूप को यथार्थरूप से जानना ही सम्यक्-ज्ञान है। ( आप रूप को जानपनो, सो सम्यग्ज्ञान कला है )।[150]

सम्यग्ज्ञान की सभी परिभाषाएँ एक जैसी ही हैं। सम्यग्ज्ञान एक प्रकार से सच्चा तत्त्वज्ञान या आत्मज्ञान ही है। सम्यग्ज्ञान में परद्रव्यों को जानना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना आत्मतत्त्व को जानना।

जिनागम में सम्यग्ज्ञान के लिये कहा है --

*"कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे,*
*ज्ञानी के छिन माँहिं त्रिगुप्ति तें सहज टरैं ते।।"*[151]

इसी तरह नाटक समयसार में --

*"महिमा सम्यग्ज्ञान की, अरु विरागबल जोय।*
*क्रिया करत फल भुंजते, करमबंध नहिं होय।।"*[152]

सम्यग्ज्ञान की तरह आत्मज्ञान की आवश्यकता के लिये भी कहा है जैसे --

*"जो णवि जाणदि अप्पं, णाणसरूवं सरीरदो भिण्णं।*
*सो णवि जाणदि सत्थं, आगमपाढं कुणंतो वि।।"*[153]

ऐसा ही छहढाला में कहा है --

*"मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायौ।*
*पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायौ।।"*[154]

"वीतराग विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका" में कहा है --

*"आत्मज्ञान ही ज्ञान है, शेष सभी अज्ञान।*
*विश्वशांति का मूल है, वीतराग विज्ञान।।"*[155]

अतः स्व और पर का भेद-विज्ञान यथार्थतः सम्यग्ज्ञान है। अर्थात्, सम्यग्ज्ञान का मूल 'ज्ञेय पर' से विभक्त और 'निज' से अविभक्त आत्मा ही है। यही कारण है कि कुंदकुंदाचार्य ने समयसार में उक्त एकत्व विभक्त आत्मा को ही निज वैभव से दिखाने की प्रतिज्ञा की है। यह स्पष्ट है कि वस्तु अनेकान्तात्मक होती है। अतः उसे निज वैभव बनने के लिये आगम, उपदेश, तर्क और अनुभव की आवश्यकता तो पड़ेगी ही।

## (3) सम्यक् चारित्र

इसका मुक्ति के मार्ग में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके बिना तीर्थंकर भी सिद्ध नहीं हो सकते और इसके अभाव में रागी जीव तो भटकते ही हैं तथा जन्म-मरण के दुःख उठाते हैं, जैसा कि पूजन में कहा है --

*"जिस बिना नहिं जिनराज सीझें,*
*तू रुल्यों जग कीच में।"*[156]

अतः मोह, राग-द्वेष आदि विकारी परिणामों से रहित आत्मा का परिणाम ही साम्यभाव है और वही चारित्र है।

सम्यक् चारित्र के लिये ऐसे भी कहा जा सकता है कि सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान सहित व्रत, गुप्ति, समिति आदि का अनुष्ठान करना, उत्तम क्षमादि दशधर्मों का पालन करना, मूलगुण और उत्तरगुणों को धारण करना, सम्यक् चारित्र है। 'द्रव्यसंग्रह' में इसके लिये कहा है --

"विषय, कषाय, वासना, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहरूप क्रियाओं से निवृत्ति करना सम्यक् चारित्र है।"[157]

चरित्र वस्तुतः आत्मस्वरूप है -- "आपरूप में लीन रहे थिर, सम्यक् चारित्त सोई"[158], यह कषाय और वासनाओं से सर्वथा रहित है।

"मोह और क्षोभ से रहित जीव की जो निर्विकार परिणति होती है, जिससे जीव में साम्यभाव की उत्पत्ति होती है, वह चरित्र है।"[159] प्रत्येक व्यक्ति अपने चरित्र के बल से ही अपना सुधार या बिगाड़ करता है। अतः मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को सर्वदा शुभ रूप में रखना आवश्यक है। मन से किसी का बुरा न सोचना, वचन से किसी को बुरा न कहना और शरीर से कोई निन्द्यकार्य न करना, सदाचार है।

विषय तृष्णा, अहंकार की भावनाएँ मनुष्य को सम्यक् आचरण से रोकती हैं। अज्ञानी मनुष्य तृष्णा को शान्त करने के लिये भयंकर से भयंकर पाप कर डालता है। अतः अज्ञानपूर्वक धारण किये गये चारित्र को सम्यक् चारित्र नहीं कहा गया। अतः सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति के लिये ही चारित्र की आराधना करनी पड़ती है। "सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान से रहित चारित्र कोई काम का नहीं होता, जिस प्रकार अन्धे पुरुष का दौड़ना उसके पतन का कारण होता है, उसी प्रकार अज्ञानपूर्वक किया गया चारित्र उसके पतन का कारण होता है।"[160] इसीलिये कहा है --

*"सम्यग्ज्ञानी होय, बहुरि दृढ़ चारित लीजे।"*[161]

सबसे पहले सम्यक्त्व की उपासना करनी चाहिये। उसके होने पर ही ज्ञान और चारित्र सम्यक् होते हैं। 'रयणसार' में कहा है --

*"सम्मविणा सण्णाणं सच्चारित्तं ण होइ णियमेण।"*[162]

अतः अज्ञानान्धकार के समाप्त हो जाने पर ही जीव सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान प्राप्त करता है तथा विषय की पूर्ण रूप से निवृत्ति रूप चारित्र को धारण करता है।

मनुष्य के सामने दो मार्ग विद्यमान हैं -- शुभ और अशुभ। जो राग-द्वेष मोह को घटाकर शुभोपयोग रूप परिणति करता है, वह शुभमार्ग का अनुगामी माना जाता है और जो राग-द्वेष कषाय रूप परिणति में संलग्न रहता है, वह अशुभमार्ग का अनुसरण करता है। एक ही कर्म शुभ और अशुभ प्रवृत्तियों के कारण दो रूपों में परिणत हो जाता है। शुभ और अशुभ एक ही पुद्गलद्रव्य के स्वभावभेद हैं। यह जीव शुद्ध निश्चय से वीतराग, सच्चिदानन्द स्वभाव वाला है और व्यवहारनय से रागादिरूप परिणमन करता हुआ शुभोपयोग और अशुभोपयोग रूप है। चैतन्य, अखण्ड, आत्मस्वभाव का अनुभव करना शुद्धोपयोग है। शुद्धोपयोग का नाम वीतराग चारित्र है। शुभोपयोग सदाचार और अशुभोपयोग कदाचार है। यथार्थ में चारित्र के दो भेद हैं -- (1) निवृत्तिमूलक और (2) प्रवृत्तिमूलक।

निवृत्तिमूलक आचार से कर्मों का बन्ध नहीं होता, यह मार्ग कठिन है पर जल्दी लक्ष्य तक पहुँचाने वाला है। इस मार्ग या आधार को त्याग-मार्ग या श्रमण-मार्ग कहते हैं। इसमें त्यागी को समस्त पदार्थों से मोह-ममत्व त्यागकर वीतराग आत्म-तत्त्व की उपलब्धि के हेतु अरण्यवास स्वीकार करना होता है और इन्द्रिय तथा मन को अपने अधीनकर आत्मस्वरूप में रमण करना होता है, यह निवृत्ति या त्यागमार्ग है। इसकी साधना बिरले जितेन्द्रिय ही कर सकते हैं। यह कंटकाकीर्ण मार्ग है, जो सर्व साधारण के लिये सुलभ नहीं। इसके अनुसरण से राग-द्वेष मोहादि से रहित निर्मल आत्मतत्त्व की उपलब्धि शीघ्र ही होती है। इस आचार मार्ग का नाम सकल-चारित्र या मुनिधर्म भी है।

द्वितीय मार्ग प्रवृत्ति मार्ग है। यह बन्ध का कारण है। प्रवृत्ति का अर्थ होता है 'इच्छापूर्वक किसी कार्य में लगना'। प्रवृत्तियाँ अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की होती हैं। यह मार्ग सरल तो है पर दूरवर्ती है। इस मार्ग द्वारा आत्मतत्त्व की प्राप्ति में बहुत समय लगता है। इस मार्ग में किसी का भय नहीं रहता। इसे पुष्पाकीर्ण मार्ग कहते हैं। प्रवृत्ति के दो रूप हैं -- शुभ और अशुभ। अशुभ प्रवृत्ति का त्याग कर शुभ प्रवृत्ति का अनुसरण करना विकलाचरण है। साधारणतः आचार को दो भागों में बाँटा गया है --

(1) मुनि या साधु का आचार-साध्वाचार या मुन्याचार।

(2) गृहस्थ या श्रावक का आचार-श्रावकाचार।

## श्रावकाचार

"जैन आचारशास्त्र में व्रतधारी, गृहस्थ को श्रावक, उपासक, अणुव्रती,

देशविरत, सागार आदि नामों से जाना जाता है। चूँकि वह श्रद्धापूर्वक श्रमणों से निर्ग्रन्थ-प्रवचन का श्रवण करता है, अतः उसे श्रावक कहते हैं। श्रमणवर्ग की उपासना करने के कारण वह श्रमणोपासक या उपासक कहलाता है।"[163]

श्रावक का आचार एक प्रकार से मुनि-आचार की नींव है। उसी के ऊपर आगे चलकर मुनि-आचार का भव्य प्रासाद खड़ा होता है। श्रावक तीन वर्गों के संयोग से बना है -- (1) श्रद्धालु (2) विवेकी और (3) क्रियावान्। अर्थात्, जिसमें इन तीनों का समावेश पाया जाता है वह श्रावक है। श्रावक के आचार का वर्गीकरण कई दृष्टियों से किया जाता है, पर इस आचार के तीन आधार प्रमुख हैं -- (1) द्वादश व्रत (2) एकादश प्रतिमाएँ और (3) पक्ष, चर्या और साधन।

## द्वादश व्रत

जीवन को सुन्दर बनाने वाली और आलोक की ओर ले जाने वाली मर्यादाएँ नियम कहलाती हैं। जो मर्यादाएँ सार्वभौम हैं, प्राणिमात्र की हितैषी हैं और जिनसे 'स्व'-'पर' का कल्याण होता है, उन्हें नियम या व्रत कहा जाता है। अतः सेवनीय विषयों का संकल्परूप से यम या नियम से त्याग करना या पात्रदान आदि प्रशस्त कार्यों में प्रवृत्त होना 'व्रत' है। जैसा कि 'सागारधर्मामृत' में कहा है --

*"संकल्पपूर्वकः सेव्यो नियमो शुभकर्मणः।*
*निवृत्तिर्वा व्रतं स्याद्वा प्रवृत्तिः शुभकर्मणि।।"*[164]

जिस प्रकार सतत प्रगतिशील प्रवाहित होनेवाली नदी के प्रवाह को नियन्त्रित करने के लिये दो तटों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार जीवन को नियंत्रित मर्यादित बनाये रखने के लिये व्रतों की आवश्यकता होती है।

श्रावक के द्वादश व्रतों में पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों की गणना की गयी है। वस्तुतः इन व्रतों का मूलाधार अहिंसा है। अहिंसा से ही मानसिक विकास और उत्थान होता है, यही संस्कृति की आत्मा है, आध्यात्मिक जीवन की नींव है।

### (अ) अणुव्रत

श्रमण या साधु के लिये पाँच महाव्रत आधार का काम करते हैं। वैसे ही गृहस्थ या श्रावक के लिये पाँच अणुव्रत या लघुव्रत बताये गये हैं। जैसे इन महाव्रतों के बिना साधु का जीवन निर्जीव सा प्रतीत होता है, वैसे ही पाँच अणुव्रतों के अभाव में श्रावक का धर्म निष्प्राण सा लगता है। इन्हीं कारणों से अणुव्रत को श्रावक का मूलगुण कहा जाता है। अणुव्रत पाँच हैं --

(क) *अहिंसाणुव्रत* -- जिसमें मन, वचन, काय से त्रस और स्थावर जीवों का

घात स्वप्न में भी न हो, उसे अहिंसा महाव्रत नामक प्रथम महाव्रत कहा जाता है। वहीं हिंसा का एकदेश त्याग अहिंसा अणुव्रत है।

(ख) *सत्याणुव्रत* -- करुणा से भरे आकुलता रहित, ग्राम्यादि असभ्यता सम्बन्धी दोषों से रहित, गौरव सहित और अविरुद्ध यथातथ्य जैसे-के-तैसे वचन, सत्य कहलाते हैं। ऐसे ही वचनों की शास्त्रों में प्रशंसा की गई है।

(ग) *अचौर्याणुव्रत* -- जो पुरुष बुद्धिमान है और संसार-समुद्र से पार जाने की इच्छा रखता है, वह मन, वचन, काय से निःशंकित होकर बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण नहीं करता -- अचौर्यअणुव्रत पालन करता है।

(घ) *अपरिग्रहाणुव्रत* -- बाह्य चेतन-अचेतनरुप दो प्रकार के परिग्रह हैं और अंतरंग में पर-पदार्थों में (चेतना द्वारा) निजबुद्धि होना परिग्रह है। साधु जन पूर्ण परिग्रह के त्यागी होते हैं और गृहस्थ जन परिग्रह-भोगोपयोग की वस्तुओं का परिमाण करते हैं। इस परिग्रह का मन, वचन, काय से त्याग करना अपरिग्रह-व्रत है।

(ङ) *ब्रह्मचर्याणुव्रत* -- जिसका आलम्बन करके योगीजन परम आत्मतत्त्व को प्राप्त करते हैं और जिसको धीरे-धीरे पुरुष ही धारण कर सकते हैं, वह ब्रह्मचर्य व्रत है। (पर-स्त्री व पर-पुरुष के प्रति विषय-भोग त्याग का नियम खण्डित न करना ब्रह्मचर्य व्रत है)।

(ब) गुणव्रत

अणुव्रतों की वृद्धि और रक्षा के लिये तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत बताये गये हैं। इनका पालन करने से श्रावक को मुनिव्रत के ग्रहण करने की अभ्यासरूप शिक्षा मिलती है। गुणव्रत तीन हैं --

(क) दिग्व्रत,
(ख) देशव्रत और
(ग) अनर्थदण्डव्रत।

(क) *दिग्व्रत* -- अपनी त्यागवृत्ति के अनुसार व्यवसायादि प्रवृत्तियों के निमित्त दिशाओं की मर्यादा निश्चित करना 'दिग्व्रत' है। अर्थात्, दिशा-परिमाण-व्रत है। इससे अणुव्रत की रक्षा होती है। मनुष्य की आशा तो आकाश के समान असीम है और उसी आशा की तृष्णा के वश में होकर मनुष्य विभिन्न देशों में परिभ्रमण करता है। अतः तृष्णा को नियंत्रित करने के लिये दिग्व्रत का विधान किया गया है। मनुष्य को नदी, नगर, ग्राम आदि की मर्यादा बाँधकर उससे बाहर न जाना ही दिग्व्रत है, ऐसा कर लेने से क्षेत्र मर्यादा के बाहर हिंसादि पापों का त्याग हो जाता है। दिग्व्रत के पाँच अतिचार हैं --

(1) ऊर्ध्वव्यतिक्रम -- लाभादिवश ऊर्ध्व प्रमाण का अतिक्रम।

(2) अधोव्यतिक्रम -- वापी, कूप, खदान आदि की अधः मर्यादा का अतिक्रम।

(3) तिर्यग्व्यतिक्रम -- तिरछे रूप में क्षेत्र का अतिक्रम।

(4) क्षेत्रवृद्धि -- एक दिशा से क्षेत्र घटाकर दूसरी दिशा में क्षेत्र प्रमाण की वृद्धि।

(5) स्मृत्यन्तर्धान -- निश्चित की गई क्षेत्र की मर्यादा का विस्मरण।[165]

(ख) *देशव्रत (देशावकाशिक व्रत)* -- "दिग्व्रत में जीवन भर के लिये मर्यादित दिशाओं के परिमाण में कुछ घंटों या दिनों के लिये विशेष मर्यादा क्रम निश्चित करना अर्थात्, विशेष कमी करना देशावकाशिक व्रत है।"[166] देश अर्थात्, क्षेत्र का एक अंश और अवकाश अर्थात्, स्थान। इस व्रत में एक अंशरूप स्थान की कुछ समय के लिये विशेष मर्यादा निश्चित की जाती है। इस व्रत के भी पाँच अतिचार हैं --

(1) आनयन प्रयोग -- मर्यादा से बाहर की वस्तु का बुलाना, मँगाना।

(2) प्रेष्य प्रयोग -- मर्यादा से बाहर स्वयं न जाना, पर सेवक द्वारा वहीं बैठे हुए ही काम करा लेना 'प्रेष्यप्रयोग' है।

(3) शब्दानुपात -- मर्यादा के बाहर स्थित किसी व्यक्ति को शब्द द्वारा बुलाना।

(4) रूपानुपात -- मर्यादित क्षेत्र के बाहर से आकृति दिखाकर संकेत द्वारा बुलाना।

(5) पुद्गलक्षेप -- मर्यादा के बाहर स्थित व्यक्ति को अपने पास बुलाने के लिये पत्र, तार आदि संकेतों का प्रयोग करना।

(ग) *अनर्थदण्डव्रत* अर्थात्, निरर्थक पापपूर्ण प्रवृत्तियों का त्याग करना। अतः बिना प्रयोजन के कार्यों का त्याग करना 'अनर्थदण्डव्रत' कहलाता है। अर्थात्, जिनसे कोई लाभ तो न हो पर पाप का संचय होता हो उन्हें त्यागना 'अनर्थदण्डव्रत' कहलाता है। इस व्रत के भी पाँच अतिचार हैं --

(1) कन्दर्प -- विकारवर्द्धक वचन बोलना या सुनना 'कन्दर्प' है।

(2) मौखर्य -- असंबद्ध एवं अनावश्यक वचन बोलना 'मौखर्य' है।

(3) कौत्कुच्य -- विकारवर्द्धक चेष्टाएँ करना या देखना 'कौत्कुच्य' है।

(4) असमीक्ष्याधिकरण -- बिना देखे शोधे उपकरणादिक रख देना।

(5) उपभोगाधिक्य -- आवश्यकता से अधिक उपभोग एवं परिभोग की सामग्री संग्रह करना उपभोग-परिभोगातिरिक्त है।

ये सब अतिचार निरर्थक हिंसा का पोषण करने वाले होते हैं। अतः श्रमणोपासक को इनसे बचना चाहिए।[167]

**(स) शिक्षाव्रत**

शिक्षा का अर्थ अभ्यास है। श्रावक को विद्यार्थी के समान कुछ व्रतों का बार-बार अभ्यास करना पड़ता है। इसी अभ्यास के कारण इस व्रत को शिक्षाव्रत कहा गया है। अणुव्रत और गुणव्रत तो एक ही बार ग्रहण किये जाते हैं और जीवन भर के लिये होते हैं, जबकि शिक्षा व्रत बार-बार ग्रहण किये जाते हैं और अमुक सीमित समय के लिये ही होते हैं। शिक्षाव्रत के चार भेद हैं --

(1) सामायिक
(2) पौषधोपवास
(3) भोगोपभोगपरिमाण और
(4) अतिथिसंविभाग।

*(1) सामायिक*

सामायिक पद के मूल में 'समाय' शब्द है। समाय शब्द 'सम' और 'आय' के संयोग से बना है। अर्थात्, समभाव या समता और आय अर्थात्, लाभ या प्राप्ति। अतः समाय का अर्थ हुआ "समभाव या लाभ" या समता की प्राप्ति। समाय सम्बन्धी भाव या क्रिया को सामायिक कहते हैं। इस प्रकार सामायिक आत्मा का वह भाव या शरीर की वह क्रिया है जिससे मनुष्य को समभाव की प्राप्ति होती है। दूसरे शब्दों में जो त्रस और स्थावर सभी जीवों के प्रति समभाव रखता है, वह सामायिक का आराधक होता है। सामायिक के लिये मानसिक स्वस्थता और शारीरिक शुद्धि दोनों आवश्यक है। सामायिक करने वाले के मन, वचन, काय तीनों पवित्र होते हैं। सामायिक करने वाला मनुष्य धीरे-धीरे समभाव का अभ्यास करते-करते अपने पूरे जीवन को समतामय बना लेता है। जब तक समता जीवनव्यापी नहीं हो जाती इसका अभ्यास चलता रहता है। यही सामायिक का सार है। सामायिक व्रत के निम्नलिखित पाँच अतिचार हैं --

(क) कायदुष्प्रणिधान -- सामायिक करते समय हाथ-पैर आदि शरीर के अवयवों को निश्चल न रखना, नींद का झोंका लेना।

(ख) वचनदुष्प्रणिधान -- सामायिक करते समय गुनगुनाने लगना।

(ग) मनोदुष्प्रणिधान -- मन में संकल्प-विकल्प उत्पन्न करना एवं मन को गृहस्थी के कार्य में फँसाना।

(घ) अनादर -- सामायिक में उत्साह न करना।

(ङ) स्मृत्यनुपस्थापन -- एकाग्रता न होने से सामायिक की स्मृति न रहना या विधि भूल जाना।

*(2) पौषधोपवास*

पौषध अर्थात्, पर्व के दिन उपवास करना पौषधोपवास है। इस व्रत में उपवास का मुख्य प्रयोजन आत्मतत्त्व का पोषण करना होता है। तब इसे 'पौषधोपवास व्रत' कहते हैं। आत्म-तत्त्व के निमित्त पौषधोपवास को अंगीकार करने वाला श्रावक भौतिक प्रलोभनों से दूर रहता है या व्रत में अविचलित रहता है। इस व्रत में स्थित साधक साधनारत होता है। वह आहार के परित्याग के साथ शारीरिक श्रृंगार, अब्रह्मचर्य और हिंसक क्रिया का भी त्याग करता है। इसके भी पाँच अतिचार हैं --

(क) अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग -- जीव जन्तु को देखे बिना और कोमल उपकरण द्वारा बिना प्रमार्जन के ही मल-सूत्र और श्लेष्म का त्याग करना।

(ख) अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान निक्षेप -- बिना देखे और बिना प्रमार्जन किये ही पूजा के उपकरण आदि को ग्रहण करना।

(ग) अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जित संस्तरोपक्रम -- बिना देखे और बिना प्रमार्जन किये ही भूमि पर चटाई आदि बिछाना।

(घ) अनादर -- पौषधोपवास करने में उत्साह न दिखाना।

(ङ) स्मृत्यनुपस्थान -- पौषधोपवास करने के समय चित्त का चंचल रहना।[168]

*(3) भोगोपभोगपरिमाण*

जो वस्तु एक बार भोगने योग्य हो उसे 'भोग' कहते हैं और जिन वस्तुओं को बार-बार भोगा जा सके वे 'उपभोग' कहलाते हैं। इस भोग और उपभोग की वस्तुओं का कुछ समय के लिये अथवा जीवनपर्यन्त के लिये परिमाण करना 'भोगोपभोगपरिमाणव्रत' कहलाता है। इस व्रत का पालन करने से लोलुपता एवं विषय-वांछा घटती है। इस व्रत के पाँच अतिचार हैं --

(क) सचित्ताहार -- अमर्यादित (सचित्त) वस्तुओं का उपयोग करना और पदार्थों का भक्षण करना।

(ख) सचित्त सम्बन्धाहार -- जिस अचित्त वस्तु का सचित्त वस्तु से सम्बन्ध हो गया हो उसका उपयोग करना।

(ग) सचित्तसम्मिश्राहार -- चींटी आदि क्षुद्र जन्तुओं से मिश्रित वस्तु का व्यवहार।

(घ) अभिषवाहार -- इन्द्रियों को मद उत्पन्न कराने वाली वस्तुओं का सेवन।

(ङ) दुष्पक्वाहार -- अर्धपक्व आहार का सेवन करने पर दुष्पक्वाहार का दोष लगता है।

*(4) अतिथिसंविभाग*

जो संयम की रक्षा करते हुए विहार करता है या जिसके आने की कोई निश्चित तिथि नहीं है, वह अतिथि है। इस प्रकार के अतिथि को शुद्धचित्त से निर्दोष विधिपूर्वक आहार देना 'अतिथिसंविभाग व्रत' है। जिस प्रकार निर्ग्रन्थ अतिथि को दान देना श्रावक का कर्त्तव्य है उसी प्रकार अच्छे भाव से अन्य अतिथियों या व्यक्तियों की समुचित मदद करना, दीन-दुःखियों की सहायता करना भी श्रावक का धर्म है। इससे करुणावृत्ति का पोषण होता है, जो अहिंसाधर्म के उपयुक्त विकास एवं प्रचार के लिये आवश्यक है। इसके अतिचार ये हैं --

(क) सचित्तनिक्षेप -- सचित्त कमलपत्र आदि पर रखकर आहार-दान देना।

(ख) सचित्तपिधान -- आहार को सचित्त कमलपत्र आदि से ढकना।

(ग) परव्यपदेश -- स्वयं दान न देकर दूसरे से दिलवाना अथवा दूसरे का द्रव्य उठाकर स्वयं दे देना।

(घ) मात्सर्य - आदरपूर्वक दान न देना अथवा अन्य दाताओं से ईर्ष्या करना ।

(ङ) कालातिक्रम -- भिक्षा के समय को टालकर अयोग्य काल में भोजन देना।

जीवन के अन्तिम समय में तप आदि की आराधना करना संलेखना कहलाता है। संलेखना अर्थात्, जिसके द्वारा कषायादि कृश हों वैसी सम्यक् आलोचनायुक्त तपस्या। इस संलेखनापूर्वक होने वाली मृत्यु को जैन आचारशास्त्र ने समाधिमरण या पंडितमरण कहा है, इसे संथारा भी कहते हैं। संथारा अर्थात, संस्तारक। इसका अर्थ बिछौना होता है। चूँकि इसमें व्यक्ति आहारादि का त्याग कर बिछौना बिछाकर शान्त चित्त से एक स्थान पर लेटा रहता है। इस प्रकार क्रोध रहित होकर प्रसन्न चित्त से आहारादि का त्याग कर आत्मिक चिन्तन करते हुए समभावपूर्वक प्राणोत्सर्ग करना ही इस व्रत का महान उद्देश्य है। संलेखनाव्रत के निम्नलिखित अतिचार हैं --

(क) जीविताशंसा -- जीवित रहने की इच्छा।

(ख) मरणाशंसा -- सेवा-सुश्रूषा के अभाव में शीघ्र मरने की इच्छा।

(ग) मित्रानुराग -- मित्रों के प्रति अनुराग जाग्रत करना।

(घ) सुखानुबन्ध -- भोगे हुए सुखों का पुनः-पुनः स्मरण करना।

(ङ) निदानकरण -- तपश्चर्या का फल भोग रूप में चाहना।[169]

## श्रावक या गृहस्थ के आवश्यक कार्य

श्रावक अपना सर्वांगीण विकास निर्लिप्त भाव से स्वकर्तव्य का सम्पादन करते हुए घर में रहकर भी कर सकता है। अतः उसे आत्म-शुद्धि के लिये कर्मों का संवर व निर्जरा करने के लिये एवं शुभ कर्म संचय करने के लिए छः कार्य प्रतिदिन करने चाहिये। जैसे --

(1) देव पूजा,
(2) गुरु उपासना,
(3) स्वाध्याय,
(4) संयम,
(5) तप और
(6) दान।

### (1) देवपूजा

प्रतिदिन प्रातःकाल स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहनकर भगवान की पूजा, अभिषेक आदि करना 'देवपूजा' है। पूजा दो प्रकार की होती है -- (क) भाव पूजा और (ख) द्रव्य पूजा।

अष्टद्रव्यों से वीतराग और सर्वज्ञदेव की पूजा करना 'द्रव्यपूजा' है। बिना द्रव्य के केवल सर्वज्ञदेव के गुणों का चिन्तन और मनन करना ' भाव-पूजा' है। पूजा सम्यग्दर्शन गुण को तो विशुद्ध करती ही है साथ ही वीतराग आदर्श की प्राप्ति के लिये भी प्रेरित करती है।

### (2) गुरु उपासना

गुरु अर्थात्, अज्ञानरूपी अन्धकार को नष्ट करनेवाला। यह निर्ग्रन्थ, तपस्वी और आरम्भपरिग्रह रहित होता है। जीवन में संस्कारों का प्रारम्भ गुरु चरणों की उपासना से ही सम्भव है। गुरु-उपासना से प्राणी को स्व-पर प्रत्यय की उपलब्धि होती है। अतः श्रावक को प्रतिदिन गुरु-उपासना एवं गुरु-भक्ति करना आवश्यक है।

### (3) स्वाध्याय

अर्थात्, स्व-आत्मा का अध्ययन, चिन्तन और मनन। स्वाध्याय से व्यक्ति रत्नत्रय की प्राप्ति करने में समर्थ होता है। स्वाध्याय से बुद्धिबल आत्मबल का विकास होता है। हेय-उपादेय और शेष की जानकारी स्वाध्याय द्वारा होती है। अतः अपना ज्ञान बढ़ाने के लिये धार्मिक शास्त्र श्रद्धा के साथ पढ़ना एवं सुनना ही 'स्वाध्याय' है।

**(4) संयम**

सावधानी से कार्य करना ताकि जीवों की हत्या न हो तथा अपनी इन्द्रियों को विषय-वासनाओं से रोकना, नाच-गाना, तमाशा, सिनेमा, खान-पान आदि पर नियन्त्रण लगाना 'संयम' है।

**(5) तप**

इच्छा-निरोध को 'तप' कहते हैं। तप से आत्मा शुद्ध होती है। अहंकार और ममकार का त्याग भी तप के द्वारा ही सम्भव है। श्रावक को रत्नत्रय की प्राप्ति के लिये शक्ति के अनुसार तप का अभ्यास करना चाहिये।

**(6) दान**

सम्पत्ति की सार्थकता दान में ही है। श्रावक का व्रती पुरुषों को श्रद्धा, भक्ति, विनय से आहार, शास्त्र आदि उपकरण देना तथा दीन, दुःखी, दरिद्र, अनाथ, अपाहिज जीवों को दया-भाव से भोजन-वस्त्र आदि देकर उनका दुःख दूर करना 'दान' है।[170]

श्रावक अपने आचार के विकास के लिये या आध्यात्मिक उन्नति के लिये बताये गये सोपानों या प्रतिमाओं का आरोहण अपने आचार के विकास में करता जाता है और इस तरह वह मुनि बनने लायक या मुनि जीवन के निकट पहुँचने का अधिकारी हो जाता है। प्रतिमा का अर्थ प्रतिज्ञा विशेष, व्रत विशेष, तप विशेष या अभिग्रह विशेष होता है। सोपान या प्रतिमाएँ ग्यारह हैं --

**(1) दर्शन प्रतिमा**

प्रथम प्रतिमा में सम्यग्दृष्टि प्राप्त होती है। इसमें सर्वगुणविषयक प्रतीति होती है फिर भी उसे शीलव्रत, गुणव्रत, प्रत्याख्यान, पौषधोपवास आदि की सम्यक् आराधना नहीं होती। रात्रि-भोजन का त्याग, जल छानकर पीना, सप्तव्यसनों का त्याग आदि बातों पर ध्यान रखना होता है। ऐसा श्रावक नियन्त्रित रूप में ही विषय-भोगों का सेवन करता है।

**(2) व्रत प्रतिमा**

इसमें अणुव्रत, गुणव्रत आदि सम्यक्तया धारण तो किये जाते हैं, किन्तु उनका सम्यक् पालन नहीं होता।[171]

**(3) सामायिक प्रतिमा**

सामायिक का उद्देश्य आत्मा की शक्ति का केन्द्रीकरण करना है। इस प्रतिमा का अभ्यासी श्रावक तीनों सन्ध्याओं में सामायिक करता है और कठिन से कठिन कष्ट आ पड़ने पर भी ध्यान से विचलित नहीं होता। सामायिक प्रतिमा का धारण करने वाला 'सामायिकी' कहलाता है।

**(4) पौषध प्रतिमा**

प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को उपवास कर मुनि के समान जीवन जीना 'पौषधप्रतिमा' है।

**(5) रात्रि-भोजन त्याग प्रतिमा**

इसमें श्रावक पाँच नियमों का विशेषरूप से पालन करता है। जैसे --

(क) स्नान न करना।
(ख) रात्रि भोजन न करना।
(ग) धोती की लाँग न लगाना।
(घ) ब्रह्मचारी रहना।
(ङ) एक रात्रि की प्रतिमा का पालन करना।[172]

**(6) ब्रह्मचर्य प्रतिमा**

इसमें श्रावक दिन की भाँति रात्रि में भी ब्रह्मचर्य का पालन करता है। इस प्रतिमा में सर्व प्रकार के सचित्त आहार का परित्याग नहीं होता। आत्मशक्ति को केन्द्रित करने के लिये ब्रह्मचर्य एक वस्तु है। ब्रह्मचर्य अर्थात्, पंचेन्द्रियों के विषय भोगों का त्याग करना।

**(7) सचित्त-विरत प्रतिमा**

इसमें सभी प्रकार के सचित्त आहार का परित्याग कर दिया जाता है किन्तु आरम्भ अर्थात्, कृषि, व्यापार आदि में होने वाला आत्म-हिंसा का त्याग नहीं किया जाता।

**(8) आरम्भत्याग प्रतिमा**

इसमें उपासक स्वयं तो आरम्भ का त्याग कर देता है। अर्थात्, आजीविका के साधन कृषि, व्यापार एवं नौकरी आदि के करने-कराने का त्याग कर देता है किन्तु दूसरों से आरम्भ करवाने का त्याग नहीं कर सकता।

**(9) परिग्रहत्याग प्रतिमा**

आठों प्रतिमाओं के आधार का पालन करने के साथ-साथ भूमि, गृह आदि से अपना स्वत्व छोड़ना 'परिग्रहत्याग प्रतिमा' है। अष्टम प्रतिमा में अपने उद्योग धन्धों को पुत्रों को सौपकर जो व्यक्ति सम्पत्ति को अपने ही अधिकार में रखता था, इस प्रतिमा में उसका भी त्याग कर देता है।[173]

**(10) अनुमतित्याग प्रतिमा**

अनुमतित्याग प्रतिमा में स्थित श्रावक का घर के किसी भी कारोबार में किसी

प्रकार की अनुमति न देना 'अनुमतित्याग प्रतिमा' है। इस प्रतिमा का धारक अर्थात्, श्रावक घर में न रहकर मन्दिर में निवास करने लगता है और अपना समय स्वाध्याय में व्यतीत करता है। मध्याह्न काल में आमन्त्रण मिलने पर अपने या दूसरों के घर भोजन कर आता है। भोजन में उसकी अपनी कोई भी रुचि नहीं रहती।

**( 11 ) उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा**

अपने उद्देश्य से बनाये गये आहार को ग्रहण न करना 'उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा' है। इस प्रतिमा के दो भेद हैं -- ( क ) क्षुल्लक और ( ख ) ऐलक।

क्षुल्लक लँगोटी के साथ चादर भी रखता है और कैंची या छुरे से अपने केशों को बनवाता है। जिस स्थान पर क्षुल्लक बैठता या उठता है, उस स्थान को कोमल वस्त्र आदि से स्वच्छ कर लेता है, जिससे किसी जीव को पीड़ा न हो । ऐलक केवल एक लँगोटी ही रखता है तथा केश, लुंच करता है।[174]

श्रावक का तीसरा आधार पक्ष चर्या साधन है। हिंसा की शुद्धि के तीन प्रकार हैं --

वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी देव, निर्ग्रन्थ गुरु और दयामयी निर्ग्रन्थ धर्म को मानना पक्ष है। ऐसे पक्ष को रखने वाला श्रावक पाक्षिक कहलाता है। "ऐसे श्रावक की आत्मा में मैत्री, प्रमोद, करुणा व माध्यस्थ्यवृत्ति होती है। जीवहिंसा न करते हुए न्यायपूर्वक आजीविका का उपार्जन करना तथा श्रावक के बारह व्रतों एवं ग्यारह प्रतिमाओं का पालन करना 'चर्या' अथवा 'निष्ठा' है। इस प्रकार की चर्या का आचरण करने वाले गृहस्थ को नैष्ठिक श्रावक कहते हैं। जीवन के अन्त में आहारादि का सर्वथा त्याग करना साधन है। इस प्रकार के साधन को अपनाते हुए ध्यानशुद्धिपूर्वक आत्मशोधन करने वाले गृहस्थ को साधक श्रावक कहते हैं।"[175]

## श्रमणाचार

श्रमण, भिक्षु, मुनि, निर्ग्रन्थ, अनगार, संयत, विरत आदि शब्द एकार्थक श्रमण के पर्यायवाची हैं। श्रमण के व्रत महाव्रत अर्थात्, बड़े व्रत कहलाते हैं क्योंकि वह हिंसादि का पूर्णतः त्यागी होता है।[176]

श्रमण या मुनि का आचार पुरुषार्थमार्ग का द्योतक है। मुनि परम पुरुषार्थ के हेतु ही निर्ग्रन्थ पद धारण करते हैं। वे विमल स्वभाव की प्राप्ति हेतु अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग करते हैं। एक तरह से श्रमण संस्था आत्म-कल्याण और समाजोत्थान दोनों ही दृष्टियों से उपयोगी है। साधु के मूल गुण 28 होते हैं --

1. पाँच महाव्रत,
2. पाँच समिति,

3. पाँच इन्द्रियदमन,
4. छः आवश्यक कर्म तथा
5. सात शेष गुण।

**पाँच महाव्रत**

हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह का पूर्ण रूप से त्याग करना पाँच महाव्रत है।

*(1) अहिंसा महाव्रत*

त्रस तथा स्थावर जीवों की हिंसा का पूर्ण त्याग करना 'अहिंसा महाव्रत' है। गृहस्थाश्रम का परित्याग हो जाने के कारण आरम्भी, उद्योगी, विरोधी तथा संकल्पी-हिंसा साधुओं के द्वारा नहीं हुआ करती। भोजन वे स्वयं नहीं बनाते, पानी भी भोजन करते समय पीते हैं। शुद्धि के हेतु कमण्डलु और प्राणिरक्षा के लिये मयूरपंख की पिच्छी ग्रहण करते हैं। मुनि प्राणिवध का त्याग करते हैं इसलिये उनकी समस्त क्रियाएँ सावधानीपूर्वक होती हैं। क्योंकि जो जीव-अजीव को जानता है, वही वस्तुतः संयम को जानता है। इसीलिये कहा गया है --

*"पहले ज्ञान है फिर दया।"*[177]

पुनश्च,

*"दया-दया सब कोई कहे, दया न जाने कोय,*
*जीव जाति जाने बिना, दया कहाँ से होय।।*

अर्थात्, वह व्यक्ति दया (अहिंसाव्रत) का पालन नहीं कर सकता, जो जगत् के सम्पूर्ण जीवों की जाति, स्थिति, अवगाहना, योनि आदि से परिचित न हो।

इस व्रत की सुरक्षा के लिये पाँच भावनाएँ बताई गई हैं --

(क) ईर्याविषयक समिति (गमनागमन सम्बन्धी सावधानी),
(ख) मन की निरवद्यता (मानसिक विकार रहितता),
(ग) वचन की निरवद्यता (वाणी की विशुद्धता),
(घ) आदाननिक्षेपण समिति (पात्रादि उपकरण सम्बन्धी सावधानी) एवं
(ङ) भक्तपान विषय आलोकितता (खान-पान सम्बन्धी सचेतता)।[178]

*(2) सत्य महाव्रत*

असत्य बोलने का सर्वथा त्याग कर देना सत्य महाव्रत है। साधु सम्यक्तया निश्चय वाणी बोलते हैं। वे वाणी में सत्य, मृदु एवं निर्दोष भाषा काम में लेते हैं। "सत्य होने पर भी अवज्ञासूचक शब्दों का प्रयोग न कर सम्मानसूचक शब्द काम में लेते हैं।"[179]

सत्य व्रत की रक्षा के लिये पाँच भावनाएँ हैं --

(क) वाणी-विवेक,
(ख) क्रोध-त्याग,
(ग) लोभ-त्याग,
(घ) भय-त्याग और
(ङ) हास्य-त्याग।[180]

*(3) अचौर्य महाव्रत*

मुनि जल, मिट्टी, तिनका जैसी वस्तुओं को भी उस वस्तु के स्वामी से पूछे बिना ग्रहण नहीं करते, क्योंकि उनको किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं होती। "वे बिना अनुमति के एक तिनका उठाना भी चोरी समझते हैं।"[181] अचौर्य व्रत की दृढ़ता एवं सुरक्षा के लिये पाँच भावनाएँ बताई गई हैं --

(क) सोच-विचार कर वस्तु की याचना करना।
(ख) आचार्य आदि की अनुमति से भोजन करना।
(ग) परिमित पदार्थ स्वीकार करना।
(घ) पुनः-पुनः पदार्थों की मर्यादा करना।
(ङ) साधर्मिक से परिमित वस्तुओं की याचना करना।[182]

*(4) ब्रह्मचर्य महाव्रत*

मुनि के लिये मन, वचन और काय से मैथुन का सेवन करने, करवाने तथा अनुमोदन करने का निषेध है। मैथुन को अधर्म का मूल, महादोषों का स्थान कहा गया है। इससे अनेक प्रकार के पाप उत्पन्न होते हैं, हिंसादि दोषों और कलह-संघर्ष-विग्रह का जन्म होता है। यह सब समझकर निर्ग्रन्थ मुनि मैथुन का सर्वथा त्याग करते हैं।[183]

*(5) परिग्रहत्याग महाव्रत*

किसी भी वस्तु का ममत्वमूलक संग्रह 'परिग्रह' कहलाता है। मुनि न तो इस प्रकार का संग्रह करता है, न कराता है और न करने वालों का समर्थन करता है। वह पर पदार्थों से पूर्णतया अनासक्त एवं अकिंचन होता है। इतना ही नहीं वह अपने शरीर से भी ममत्व नहीं रखता है। संयम-निर्वाह के लिये वह जो कुछ भी अल्पतम उपकरण अपने पास रखता है उन पर भी उसका ममत्व नहीं होता।[184] ममत्व या आसक्ति आन्तरिक ग्रन्थि है जो साधक इसका छेदन करता है, वही निर्ग्रन्थ कहलाता है। अपरिग्रह व्रत की पाँच भावनाएँ हैं --

(क) श्रोत्रेन्द्रिय के विषय शब्द के प्रति राग-द्वेष रहितता अर्थात्, अनासक्त भाव।

(ख) चक्षुरिन्द्रिय के विषय रूप के प्रति अनासक्त भाव।
(ग) घ्राणेन्द्रिय के विषय गंध के प्रति अनासक्त भाव।
(घ) रसनेन्द्रिय के विषय रस के प्रति अनासक्त भाव।
(ङ) स्पर्शनेन्द्रिय के विषय स्पर्श के प्रति अनासक्त भाव।[185]

इस तरह से मुनि अन्तरंग और बहिरंग सभी प्रकार के परिग्रह के त्यागी होते हैं।

**पाँच समितियाँ**

सावधानी से आहार-विहार आदि क्रियाएँ करना 'समिति' है।

*"ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः।"*[186]

*(क) ईर्या*

चलते समय चार हाथ आगे की पृथ्वी को देखकर सावधानी से चलना, जिससे कि पैर के नीचे आकर चींटी आदि जीव-जन्तुओं का घात न होने पावे, ये 'ईर्या समिति' है।

*(ख) भाषा-समिति*

हित-मित-प्रिय वचन बोलना 'भाषा समिति' है, मुनि ऐसे ही वचन बोलते हैं।

*(ग) एषणा*

वे मुनि दिन में एक बार श्रावक के घर जाकर श्रावक द्वारा श्रद्धा और भक्ति के साथ भोजन के लिये निवेदन किये जाने पर विधिपूर्वक 46 दोषरहित प्राप्त हुआ थोड़ा निर्दोष व सादा भोजन करते हैं। उसमें मुनि स्वाद नहीं लेते और न किसी प्रकार का विचार करते हैं। ये शरीर, मुनिकार्य में कार्यकारी बना रहे केवल इसी उद्देश्य से थोड़ा सा भोजन निस्पृहता के साथ करते हैं।

*(घ) आदान-निक्षेपण*

अपने कमण्डलु और पिच्छी को देख-भालकर हाथ में लेते हैं और देख-भालकर रखते हैं, जिससे छोटे जीवों को कष्ट या घात न होने पावे।

*(ङ) उत्सर्ग-समिति*

मल-मूत्र वगैरह ऐसे स्थान पर करते हैं, जहाँ किसी को उससे कष्ट पहुँचने की सम्भावना न हो, इसे 'उत्सर्ग समिति' कहते हैं।

**पाँचों इन्द्रियों को वश में रखना**

जो विषय इन्द्रियों को अच्छे लगते हैं, उनसे वे राग नहीं करते और जो विषय इन्द्रियों के प्रतिकूल हैं, उनसे द्वेष नहीं करते । इस तरह वे पाँचों इन्द्रियों को वश में रखते हैं। पाँचों इन्द्रियों का दमन 'इन्द्रियदमन' कहलाता है।

**छः आवश्यक कार्य**

(क) सामायिक,
(ख) स्तुति,
(ग) वन्दना,
(घ) प्रतिक्रमण,
(ङ) स्वाध्याय और
(च) कायोत्सर्ग।

*"समता सम्हारें, थुति उचारें, वन्दना जिनदेवको,*
*नित करे श्रुतिरति करै, प्रतिक्रम तजैं, तन अहमेवको।"*[187]

(क) समस्त पदार्थों के राग-द्वेष को त्यागकर समताभाव से आत्मा का ध्यान करना, 'सामायिक' है।

(ख) अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, मुनि, इन पाँचों का प्रतिदिन स्तवन करना, 'स्तुति' है।

(ग) पाँचों परमेष्ठियों को हाथ जोड़कर मस्तक झुकाकर प्रतिदिन नमस्कार करना, 'वन्दना' है।

(घ) आहार-विहार, भाषण आदि कर्मों में होने वाले दोषों का प्रतिदिन शोधन करना, 'प्रतिक्रमण' है।

(ङ) पाठ करना, शास्त्र पढ़ना, स्वाध्याय करना, जिससे तत्त्व ज्ञान तथा आध्यात्मिक ज्ञान की वृद्धि हो, 'स्वाध्याय' कहलाता है।

(च) सीधे खड़े होकर हाथों को नीचे लटकाकर दोनों पैरों में चार अंगुल का अन्तर रख कर, नेत्रों की दृष्टि नाक पर रखकर ध्यान करना, 'कायोत्सर्ग' है। मुनि कायोत्सर्ग प्रतिदिन करते हैं।

**सात शेष गुण**

(क) स्नान-त्याग,
(ख) दातोन-त्याग,
(ग) भूमि-शयन,
(घ) वस्त्र-त्याग,

(ङ) केश-लुंच,

(च) दिन में एक बार खड़े होकर भोजन लेना और

(छ) नग्न रहना।

यथाहि --

*"जिनके न न्हौन न दंतधौवन लेश अम्बर आवरण।*
*भूमांहि पिछली रयन में कछु शयन एकासन करन।*
*इक बार दिन में लें अहार खड़े अलप निज पान में।*
*कचलुंच करत न डरत परिषह सो लगे निज ध्यान में।"*[188]

निश्चल आत्मा का ध्यान करने के लिये मुनियों द्वारा जो कष्ट सहे जाते हैं ताकि कर्मों की निर्जरा हो, उन्हें परिषह-जय कहते हैं। परिषह 22 हैं --

*"क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्री-*
*चर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनाऽलाभरोगतृण-*
*स्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि।"*[189]

(1) भूख में कष्ट का अनुभव न करना, 'क्षुधा-परिषह जय' है।

(2) प्यास में कष्ट का अनुभव न करना, 'तृष्णा-परिषह जय' है।

(3) ठण्डक के कष्ट से दुःखी न होना, 'शीत-परिषह जय' है।

(4) गर्मी के दुःख से विचलित न होना, 'उष्ण-परिषह जय' है।

(5) डाँस, मच्छर आदि से क्लेशित न होना, 'दंशमशक-परिषह जय' है।

(6) लज्जा, विकार आदि को जीत कर निर्विकार रूप से नग्न रहना, 'नग्न-परिषह जय' है।

(7) वन, गुफा आदि असुहावने स्थान पर रहते हुए भी मन में अरुचि न आने देना, 'अरति-परिषह जय' है।

(8) ब्रह्मचर्य में दृढ़ रहना, 'स्त्री-परिषह जय' है।

(9) नंगे पैर चलने से दुःखी न होना, 'चर्या-परिषह जय' है।

(10) एक ही आसन से ध्यान करते समय शारीरिक कष्ट का अनुभव न करना, 'आसन-परिषह जय' है।

(11) पृथ्वी, शिला या तख्ते पर एक ही करवट सोने में दुःख का अनुभव न करना, 'शय्या-परिषह जय' है।

(12) किसी के द्वारा अपमानकारक गाली आदि सुनकर भी मन में क्रोध न आना, 'आक्रोश-परिषह जय' है।

(13) कोई व्यक्ति शारीरिक कष्ट दे, तो भी चित्त में अशान्ति न लाना, 'वध-परिषह जय' है।

(14) कैसा भी कष्ट हो कोई चीज दूसरे से न माँगना, शान्त रहना,

'याचना-परिषह जय' है।

(15) भोजन न मिलने पर दुःख न मानना, 'अलाभ-परिषह जय' है।

(16) शरीर में कोई रोग होने पर दुःख न मानना, 'रोग-परिषह जय' है।

(17) नुकीली घास, काँटे आदि के चुभने पर भी दुःखी न होना, 'तृणस्पर्श-परिषह जय' है।

(18) शरीर मैला हो जाने पर दुःख न मानना, 'मल-परिषह जय' है।

(19) कोई आदर न दे तो भी दुःख न मानना, 'संस्कार-पुरस्कार- परिषह जय' है।

(20) अवधि-ज्ञान होने पर अभिमान न करना, 'प्रज्ञा-परिषह जय' है।

(21) दीर्घ काल तक तप करने पर भी विशेष ज्ञान प्राप्त न होने पर दुःखी न होना, 'अज्ञान-परिषह जय' है।

(22) कठिन तपस्या करने के पश्चात् भी ऋद्धि प्राप्त न होने से तथा अन्य किसी कारण से जिन वचन में अश्रद्धा न आने देना, 'अदर्शन-परिषह जय' है।

इस प्रकार मुनि 22 परिषहों को शान्तिपूर्वक सहता है। "यदि कोई उसकी पूजा करता है तो उसे आशीर्वाद देता है और यदि कोई उस पर तलवार से वार करता है तो उसे भी वह आशीर्वाद देता है। उसे न किसी से राग है न किसी से द्वेष। वह राग-द्वेष को दूर करने के लिये ही साधु आचरण धारण करता है।"[190] जैसा कि आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है --

*"मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।*
*रागद्वेषनिवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः।।*
*रागद्वेषनिवृत्तेर्हिंसादिनिवर्त्तना कृता भवति।*
*अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन्।।"*[191]

साधुओं का जीवन अकृत्रिम और स्वाभाविक रहता है। किसी भी प्रकार का आडम्बर उनके पास नहीं होता। सिर, दाढ़ी, मूछों के केशों को दूसरे, चौथे और छठे महीनों में अपने हाथ से उखाड़ते हैं। प्रवचनसार में कहा है --

*"जधजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं।*
*रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं।।*
*मुच्छारंभविमुक्कं जुत्तं उवजोगजोगसुद्धीहिं।*
*लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जेण्हं।।"*[192]

साधु आचार की रक्षा करने के लिये गुप्ति, अनुप्रेक्षा और चरित्र का पालन आवश्यक है।

*"सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ।"193*

गुप्ति का जीवन के निर्माण में बहुत बड़ा हाथ है क्योंकि भाव-बन्ध से मुक्ति गुप्तियों के द्वारा ही सम्भव है। गुप्ति प्रवृत्ति मात्र का निरोध करती है। शारीरिक क्रिया का नियमन, मौनधारण और संकल्प-विकल्प से जीवन का संरक्षण, काय, वचन और मनोगुप्ति है।

संसार एवं संसार के कारणों के प्रति विरक्त होकर धर्म के प्रति गहरी आस्था उत्पन्न करना 'अनुप्रेक्षा' है। अनुप्रेक्षा अर्थात्, पुनः-पुनः चिन्तन करना। साधु संसार की अनित्यता आदि के साथ ही आत्मशुद्धि के कारणभूत भिन्न-भिन्न साधनों के विषय में पुनः पुनः चिन्तन करते हैं, जिससे उन्हें संसार से विरक्ति और धर्म के प्रति आस्था उत्पन्न होती है। अनुप्रेक्षाएँ बारह हैं--

*"अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुचित्वास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधि दुर्लभधर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ।।"194*

**(1) अनित्यानुप्रेक्षा**

संसार में सदा कोई बना नहीं रहता, सभी को काल के मुख में जाना होता है, ऐसा विचार 'अनित्यानुप्रेक्षा-भावना' है।

**(2) अशरणानुप्रेक्षा**

इस संसार में कोई किसी की मृत्यु से रक्षा करने वाला नहीं है, ऐसा विचार करना 'अशरणानुप्रेक्षा-भावना' है।

**(3) संसारानुप्रेक्षा**

यहाँ सभी को किसी-न-किसी प्रकार का दुःख है, कोई किसी बात से तो कोई किसी अन्य बात से, ऐसा विचारना 'संसारानुप्रेक्षा-भावना' है।

**(4) एकत्वानुप्रेक्षा**

जीव अकेला जन्म लेता है और अकेला मरता है, कोई भी सगा साथी नहीं बनता, ऐसा विचार करना 'एकत्वानुप्रेक्षा-भावना' है।

**(5) अन्यत्वानुप्रेक्षा**

संसार का कोई पदार्थ आत्मा का अपना नहीं है, यहाँ तक कि शरीर भी अपना नजर नहीं आता। ऐसा विचार 'अन्यत्वानुप्रेक्षा-भावना' है।

**(6) अशुचित्वानुप्रेक्षा**

यह शरीर अपवित्र है, अपवित्र पदार्थ इसमें भरे हुए हैं, ऐसा विचारना 'अशुचित्वानुप्रेक्षा भावना' है।

**(7) आस्रवानुप्रेक्षा**

मन, वचन और काय की क्रिया से कर्मों का आस्रव होता है, आस्रव के कारण जीव को संसार में भ्रमण करना पड़ता है। अतः शुभ-अशुभ सभी प्रकार की क्रियाएँ त्याज्य हैं, ऐसा विचारना 'आस्रवानुप्रेक्षा-भावना' है।

**(8) संवरानुप्रेक्षा**

ये आस्रव का विरोधी है। उत्तमक्षमादि संवर के साधन हैं। संवर के बिना आत्मशुद्धि सम्भव नहीं है। ऐसा चिन्तन करना 'संवरानुप्रेक्षा-भावना' है।

**(9) निर्जरानुप्रेक्षा**

फल देकर कर्मों का झड़ जाना निर्जरा है। निर्जरा जीव को बन्धन से मुक्त करती है। निर्जरा के गुण-दोष को विचारना 'निर्जरानुप्रेक्षा-भावना' है।

**(10) लोकानुप्रेक्षा**

अनादि, अनिधन और अकृत्रिम लोक के स्वभाव का चिन्तन करना 'लोकानुप्रेक्षा-भावना' है।

**(11) बोधिदुर्लभत्वानुप्रेक्षा**

धन, मित्र, परिवार आदि का मिल जाना तो सरल है, पर आत्मानुभव-ज्ञान कठिन है। ऐसा विचार करना 'बोधिदुर्लभत्वानुप्रेक्षा-भावना' है।

**(12) धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा**

काम, क्रोध, लोभ आदि दुर्भाव अर्थात्, अधर्म को हटाने वाले कार्य धर्म हैं। धर्म से अक्षय सुख की प्राप्ति होती है, ऐसा विचार करना 'धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा-भावना' है।

"इन अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन से वैराग्य की सिद्धि होती है। ये अनुप्रेक्षाएँ जीव को माता के समान हितकारिणी और आत्म-आस्था को उद्बुद्ध करने वाली होती हैं।"[195]

*"सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्परायथाख्यातमिति चारित्रम्।।"*[196]

**चारित्र**

संयमी व्यक्ति के कर्मों के निवारणार्थ जो अन्तरंग और बहिरंग प्रवृत्ति होती है, वह 'चारित्र' है। परिणामों की विशुद्धि के तारतम्य की अपेक्षा और निमित्तभेद से चारित्र के पाँच भेद हैं। मुनि इन पाँचों का पालन करता है --

(1) सामायिक चारित्र -- भेदरहित सम्पूर्ण पापों के त्याग करने को

'सामायिक चारित्र' कहते हैं।

(2) छेदोपस्थापना -- प्रमाद के वश से चरित्र में कोई दोष लग जाने पर प्रायश्चित्त के द्वारा उसको दूर कर पुनः निर्दोष चरित्र को स्वीकार करना 'छेदोपस्थापना चारित्र' है।

(3) परिहार विशुद्धि -- जिस चारित्र में जीवों की हिंसा के त्याग हो जाने से विशेष शुद्धि प्राप्त होती है, उसको 'परिहार विशुद्धि चारित्र' कहते हैं।

(4) सूक्ष्मसाम्पराय -- अत्यन्त सूक्ष्म लोभ कषाय का उदय होने पर जो चारित्र होता है, उसे 'सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र' कहते हैं।

(5) यथाख्यात -- सम्पूर्ण मोहनीय कर्म के क्षय या उपशम से आत्मा के शुद्ध स्वरूप में स्थित होने को 'यथाख्यात चारित्र' कहते हैं।

इस तरह मुनि इन सभी का पालन करते हुए अर्थात्, तलवार की धार पर चलते हुए अपना जीवन बिताता है। जैन धर्म में साधु-जीवन बड़ा कठोर है। जो संसार, शरीर और भोगों की असारता को हृदयंगम कर चुके हैं, वे ही उसे अपना सकते हैं। आवश्यकता की वस्तुओं से भी वे काम निकालने भर मात्र सम्बन्ध रखते हैं और काम निकल जाने पर वे उन्हें भी त्याग देते हैं। अतः ऐसे साधु संसार की वास्तविक स्थिति को जानकर उससे अपने को मुक्त करने के लिए मुक्ति के मार्ग में पैर रखने पर दुःखों की परवाह नहीं करते। जैसा कि लिखा है --

*"न दुःखं न सुखं यद्वत् हेतुदृष्टाश्चिकित्सिते।*
*चिकित्सायां तु युक्तस्य स्याद् दुःखमथवा सुखम्।।*
*न दुःखं न सुखं तद्वत् हेतुर्मोक्षस्य साधने।*
*मोक्षोपाये तु युक्तेस्य स्याद् दुःखमथवा सुखम्।।"*[197]

अतः साधु की चर्या की कठोरता साधु को जान- बूझकर दुःखी करने के उद्देश्य से निर्धारित नहीं की गयी है किन्तु उसे सावधान, कष्टसहिष्णु, स्वावलम्बी और सदा जागरूक रखने के लिये की गयी है।

## सन्दर्भ

1. मुनि छत्रमल जी, सहुसयाने एक मत, पृ. 2
2. वही, 2
3. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैन धर्म, पृ. 369-370
4. वही, पृ. 370-371
5. वही, पृ. 369-372

6. देशभूषण महाराज, जैन धर्म पर प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों का मत, पृ. 20
7. रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 738
8. जैन धर्म पर प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों का मत, पृ. 13
9. वही, पृ. 4
10. वही, पृ. 5
11. जैन धर्म, पृ. 373
12. पं. पद्मचन्द्र शास्त्री, तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर, पृ. 5
13. डॉ. बुद्ध प्रकाश,भारतीय धर्म एवं संस्कृति
14. जैन धर्म, पृ. 362-363
15. कामता प्रसाद जैन, भगवान महावीर, पृ. 38
16. वही, पृ. 38-39
17. जैन धर्म, पृ. 359
18. भगवान महावीर, पृ. 39
19. जैन धर्म, पृ. 366
20. श्रमण, अगस्त, 1978, पृ. 11
21. नन्दीसूत्र 1, सहुसयाने एक मत, पृ. 5
22. गीता, 5/29
23. सूत्रकृतांग, 1/11/12
24. तैत्तिरीयोपनिषद्, 8/2
25. उत्तराध्ययनसूत्र, 9/34
26. शंकर प्रश्नोतरी, 11
27. दशवैकालिकसूत्र, 4/34
28. गीता, 13/25
29. जैन धर्म, पृ. 377
30. आचार्य चतुरसेन शास्त्री, बौद्ध और बौद्ध धर्म, पृ. 28
31. दर्शनसार, श्लोक 6
32. ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी, विद्यार्थी जैन धर्म शिक्षा, पृ. 144
33. जैन धर्म, पृ. 375
34. जैन-बौद्ध तत्त्वज्ञान, दूसरा भाग, पृ. 7
35. George Grimm, The Doctrine of the Buddha, Leipzic, Germany, pp. 350-357
36. जैन-बौद्ध तत्त्वज्ञान, पृ. 7
37. ज्ञानार्णव, 17/19

38. जैन-बौद्ध तत्त्वज्ञान, पृ. 135
39. वही, पृ. 8
40. पं. फूलचन्द जी शास्त्री, तत्त्वार्थसूत्र, 8/1
41. सं. कालिका प्रसाद, बृहत हिन्दी कोष, पृ. 110
42. तत्त्वार्थसूत्र, 7/23
43. वही, 9/1
44. वही, 9/2
45. जैन-बौद्ध तत्त्वज्ञान, पृ. 39-40
46. कुन्दकुन्दाचार्य, समयसार, श्लोक 164-166
47. कुलभद्राचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक 314
48. वही, श्लोक 161
49. वही, श्लोक 172
50. वही, श्लोक 193
51. जैन-बौद्ध तत्त्वज्ञान, पृ. 143
52. पूज्यपाद स्वामी, समाधिशतक, श्लोक 37
53. तत्त्वार्थसूत्र, 4/7
54. वही, 5/7
55. वही, 6/7
56. वही, 7/7
57. वही, 8/7
58. जैन-बौद्ध तत्त्वज्ञान, पृ. 188
59. कुन्दकुन्दाचार्य, भावपाहुड़, श्लोक 61
60. ज्ञानभूषण भट्टारक, तत्त्वज्ञान-तरंगिणी, श्लोक 8-16
61. जैन-बौद्ध तत्त्वज्ञान, पृ. 202-203
62. नागसेन, तत्त्वानुशासन, श्लोक 223-224
63. तत्त्वज्ञानतरंगिणी, श्लोक 11-14
64. जैन-बौद्ध तत्त्वज्ञान, पृ. 215
65. सारसमुच्चय, श्लोक 8
66. वही, श्लोक 212
67. देवसेनाचार्य, तत्त्वसार, श्लोक 546, पृ. 47
68. सहुसयाने एक मत, पृ. 14
69. उत्तराध्ययनसूत्र, 20/37
70. धम्मपद, 12/4

71. गीता, 6/5
72. उत्तराध्ययनसूत्र, 20/37
73. धम्मपद, 12/19
74. गीता, 6/5
75. उत्तराध्ययनसूत्र, 7/20
76. संयुत्तनिकाय, 1/11/10
77. मनुस्मृति, 9/40
78. उत्तराध्ययनसूत्र, 4/3
79. सुत्तनिपात, 36/10
80. विवेकचूड़ामणि
81. आचारांगसूत्र, 1/3/4
82. उत्तराध्ययनसूत्र, 9/36
83. शंकर प्रश्नोत्तरी, 11
84. उत्तराध्ययनसूत्र,3/12
85. सुत्तनिपात, 12/9
86. मनुस्मृति, 6/46
87. उत्तराध्ययनसूत्र, 9/36
88. धम्मपद, 8/5
89. शंकर प्रश्नोत्तरी, 11
90. दशवैकालिकसूत्र, 10/5
91. धम्मपद, 10/1
92. महाभारत, शान्तिपर्व, 167/9
93. आचारांगसूत्र 1/2/3
94. धम्मपद, 10/2
95. उत्तराध्ययनसूत्र, 6/6
96. यजुर्वेद, 13/47, महाभारत : शान्तिपर्व 278/5
97. प्रश्नव्याकरणसूत्र, 2/2
98. सुत्तनिपात, 29/24
99. वाल्मीकि रामायण, 110/13
100. आज के विचार, गांधी जी
101. दशवैकालिकसूत्र, 6/11
102. सुत्तनिपात, 3/36/5
103. महाभारत, अनुशासनपर्व, 144/19

104. उत्तराध्ययनसूत्र, 19/28
105. सुत्तनिपात, 26/20
106. महाभारत, शान्तिपर्व, 259/16
107. उत्तराध्ययनसूत्र, 32/19
108. सुत्तनिपात
109. महाभारत, शान्तिपर्व, 139/42
110. दशवैकालिकसूत्र, 8/37
111. सुत्तनिपात, 53/11
112. महाभारत, शान्तिपर्व, 71/34
113. उत्तराध्ययनसूत्र, 19/14
114. धम्मपद, 24/21
115. सूक्तिरत्नावली, अमोघवर्ष
116. उत्तराध्ययनसूत्र, 19/14
117. धम्मपद, 4/3
118. सूक्तिरत्नावली, अमोघवर्ष
119. उत्तराध्ययनसूत्र, 19/16
120. संयुत्तनिकाय, 17/34
121. दिनकर, उर्वशी
122. दशवैकालिकसूत्र, 8/28
123. महाभारत
124. उत्तराध्ययनसूत्र 25/27
125. थेरगाथा, 704
126. गीता, 5/10
127. दशवैकालिकसूत्र, 1/2
128. धम्मपद, 4/6
129. महाभारत
130. हरिभाऊ उपाध्याय, भागवतधर्म, पृ. 1-2
131. समन्तभद्राचार्य, रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक 2
132. जैन धर्म, पृ. 156-157
133. राजकुमार जैन साहित्याचार्य, अध्यात्मपदावली, पृ. 105
134. प्रवचनसार, गाथा 7
135. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक 3
136. नियमसार, श्लोक 102

137. डॉ. नेमिचन्द शास्त्री, तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, खण्ड 1, पृ. 493
138. जैन धर्म, पृ. 162
139. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, खण्ड 1, पृ. 502
140. दो पैर, दो हाथ, नितम्ब, स्थल और मस्तिष्क, पृ. 32
141. कुन्दकुन्द, प्रवचनसार, श्लोक 76
142. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक 13
143. तत्त्वार्थसूत्र, 1/9
144. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, खण्ड 2, पृ. 426
145. तत्त्वार्थसूत्र 1/31
146. नेमिचन्द्र, द्रव्यसंग्रह, गाथा 5
147. आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, सूत्र 1
148. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक 42
149. द्रव्य-संग्रह-गाथा, गाथा 42
150. छहढाला, तीसरी ढाल, छंद 2
151. वही, चौथी ढाल, छंद 5
152. कविवर बनारसीदास, निर्जरा द्वार, छंद 3,
153. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, कार्तिकेय गाथा, 464
154. छहढाला, चौथी ढाल, छन्द 4
155. वीतराग विज्ञान, प्रशिक्षण निर्देशिका, पृ. 1
156. दशलक्षणपूजन, संयम का छंद
157. द्रव्यसंग्रह, 45
158. छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द, 2
159. प्रवचनसार, गाथा 7
160. महापुराण, सर्ग 24, श्लोक 122
161. छहढाला, चौथी ढाल, छंद 10
162. रयणसार गाथा, 4/3
163. डॉ. मोहनलाल मेहता, जैनधर्मदर्शन, पृ. 532
164. पंडित आशाधर, सागारधर्मामृत, 2/80
165. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, खण्ड 1, पृ. 521
166. डॉ. मोहनलाल मेहता, जैन आचार, पृ. 115
167. जैनधर्मदर्शन, पृ. 551-552
168. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पृ. 523

169. वही, पृ. 525
170. पं. अजितकुमार जी शास्त्री प्रभाकर, जैन धर्म का परिचय, पृ. 155
171. जैन आचार, पृ. 126
172. वही, पृ. 127
173. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पृ. 529
174. वही, पृ. 530
175. जैनधर्मदर्शन, पृ. 533
176. वही, पृ. 507
177. दशवैकालिक, 4/1, 15
178. आचारांग, 2/3
179. दशवैकालिक, 7/1-12
180. आचारांग, 2/3
181. दशवैकालिक, 6/13
182. आचारांग, 2/3
183. दशवैकालिक, 6/13
184. वही, 6/20
185. आचारांग, 2/3
186. तत्त्वार्थसूत्र, 9/5
187. छहढाला, छठवीं ढाल, छंद 5
188. वही, छन्द 6
189. तत्त्वार्थसूत्र, 9/9
190. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पृ. 531
191. रत्नकरण्डकश्रावकाचार,श्लोक 47-48
192. प्रवचनसार, गाथा 205-206
193. तत्त्वार्थसूत्र, 9/4
194. वही, 9/7
195. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, खण्ड 1, पृ. 534
196. तत्त्वार्थसूत्र 9/18
197. सर्वार्थसिद्धि

# तृतीय अध्याय

## (क) निःश्रेयस का स्वरूप

निःश्रेयस दो शब्दों के योग से बना है -- निः+श्रेयस्। निः का अर्थ 'निश्चित' और श्रेयस् का अर्थ 'कल्याणकारी' होता है। जो निश्चित रूप से कल्याणकारी हो तथा जो परम कल्याणकारी हो उसे 'निःश्रेयस' कहते हैं। निःश्रेयस पूर्णरूपेण कल्याणकारी होता है। निःश्रेयस की प्राप्ति के बाद किसी वस्तु की प्राप्ति की आकांक्षा नहीं रहती है।

निःश्रेयस को समझने के लिये श्रेय का विवेचन आवश्यक है। श्रेय का अर्थ कल्याणकारी होता है। श्रेय दो प्रकार का होता है -- (1) निरपेक्ष और (2) सापेक्ष।

सापेक्ष श्रेय साधन-मूलक होता है। जो किसी उच्चतर श्रेय का साधन होता है, उसे 'सापेक्ष श्रेय' कहते हैं। जैसे -- धन, सापेक्ष श्रेय है क्योंकि धन स्वयं साध्य नहीं है। धन से आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। निरपेक्ष श्रेय स्वयं साध्य है। वह किसी साध्य का साधन नहीं है।

श्रेय और प्रेय में भी अन्तर है। प्रेय का सम्बन्ध भौतिक सुख से है। अर्थात्, प्रेय का सम्बन्ध विषय सुख से है। श्रेय का सम्बन्ध भौतिक सुख से नहीं है, बल्कि पारमार्थिक सुख से है। श्रेय का सम्बन्ध सुख से है, परन्तु ऐसा सुख जो स्थायी संतोष प्रदान करने वाला हो, निराकुलतामय एवं स्वाधीन हो।

मनुष्य की शारीरिक प्रवृत्ति प्रेय की ओर प्रेरित करती है। मनुष्य के सामने श्रेय और प्रेय दोनों उपस्थित होते हैं। वे अज्ञानी हैं जो विषय सुख में लिप्त रहते हैं, प्रेय का वरण करते हैं। ज्ञानी मनुष्य वे हैं जो श्रेय को चुनते हैं तथा प्रेय को त्यागते हैं। प्रेय से विरक्त होने पर ही निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। निःश्रेयस पूर्णावस्था है। सभी ज्ञान, सभी भावना तथा सभी क्रियाओं की परिणति निःश्रेयस में होती है।

भारतीय आचारशास्त्र में मोक्ष को ही निःश्रेयस माना गया है। मुक्ति या मोक्ष शब्द का अर्थ छुटकारा होता है। बन्धन से छूटी हुई अवस्था का नाम 'मोक्ष' है। "किसी भी पदार्थ की बंधनरहित अवस्था अर्थात्, स्वतन्त्र दशा का नाम मोक्ष है।" 'मुच्' धातु से मुक्ति शब्द बनता है, जिसका अर्थ है छूटना -- जैसे गाय रस्सी से बँधी होती है, रस्सी

खुलने पर वह उससे मुक्त हो जाती है। वैसे ही यदि सिंह पिंजरे में बन्द है तो पिंजरे से निकल जाने पर मुक्त हुआ कहा जाता है।"[1] अतः मोक्ष का अर्थ बन्धन-सापेक्ष है। जहाँ बन्धन नहीं, वहाँ मोक्ष नहीं और जहाँ बन्धन है, वहाँ मोक्ष भी है। जहाँ अनात्मा में आत्माभिमान है, वहाँ बन्धन है और अनात्मा में आत्माभिमान का दूर होना 'मोक्ष' है। इस सम्बन्ध में सभी दार्शनिकों का मत एक है। "मोह, राग, द्वेष आदि समस्त विकारों, दुःखों, ज्ञानावरणादि कर्मों और देहादिक नौ कर्मों से पूर्णतः मुक्त हो जाना ही 'मोक्ष' है।"[2] **"परिणिव्वुतो णाम रागद्दोसविमुक्के।"**[3] अर्थात्, राग और द्वेष से मुक्त होना ही परिनिर्वाण है। कर्म के दो रूप हैं --

(1) कर्म और
(2) नोकर्म।

शरीर, परिवार, धन, सम्पत्ति आदि सब नोकर्म हैं। इस नोकर्म के भी दो प्रकार बताये गये हैं-- बद्ध और अबद्ध। बद्ध अर्थात्, 'बँधा हुआ' और अबद्ध का अर्थ है 'न बँधा हुआ'। संसार दशा में जहाँ शरीर है वहाँ आत्मा है, और जहाँ आत्मा है वहाँ शरीर है। दोनों दूध और पानी की तरह एक दूसरे से मिले हुए हैं। यद्यपि इन दोनों का स्वरूप और सत्ता पृथक्-पृथक् है, पर अनादि काल से शरीर में आत्मा का निवास रहा है। एक शरीर छोड़ा तो दूसरा प्राप्त हो गया, दूसरा छोड़ा तो तीसरा प्राप्त हो गया। संसारी आत्मा का ऐसा एक भी क्षण नहीं है जब वह बिना किसी प्रकार के शरीर के संसारावस्था में स्थित रहा है। अतः शरीर आत्मा के साथ बद्ध 'नोकर्म' है। 'अबद्ध नोकर्म' के अन्तर्गत धन, भवन, परिवार, स्त्री, पुत्रादि सदा साथ तो रहते हैं, पर वे संयुक्त नहीं हैं। अतएव आत्मा और कर्म के बन्ध का, कर्म फल का एवं कर्म बन्धन से छूटने का विचार करना आवश्यक है।[4] "अतः जिनके निमित्त से आत्मा अशुद्ध दशा को धारण करके दुःखी हुआ ऐसे जो देहादिक कर्म हैं उनका सर्वथा नाश होने पर केवल आत्मा के सर्व प्रकार से शुद्ध अवस्था का होना 'मोक्ष' है।[5] जिस तरह धातु को गलाने या तपाने से शुद्ध सोना प्राप्त होता है, वैसे ही आत्मा के दोषों को दूर करके शुद्ध आत्मा की प्राप्ति को 'मोक्ष' कहते हैं। कर्म मल से छुटकारा पाये बिना आत्मा शुद्ध नहीं होता। मुक्ति का अर्थ है कर्मबन्धन से छुटकारा पाना। जैन धर्म में न तो आत्मा के अभाव को मोक्ष कहा है, जैसा कि बौद्ध लोग मानते हैं और न ही आत्मा के गुणों के विनाश को मोक्ष कहा है, जैसा कि वैशेषिक दार्शनिक मानते हैं। जैन धर्म में आत्मा को एक स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है। जो ज्ञाता और द्रष्टा है किन्तु अनादिकाल से यह कर्मों के बन्धन से बँधा हुआ है और इसी कारण यह अपने किये हुए कर्मों का फल भोगता रहता है। क्योंकि --

*"सयमेव कडेहिं गाहई, नो तस्स मुच्चेज्जडपुट्ठयं।"*[6]

अतः सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होना ही यहाँ मोक्ष बताया गया है। वह संवर और

निर्जरा के द्वारा होता है। जिसके निमित्त से कर्म का बन्ध होता है वह आस्रव है। तीन प्रकार (मन, वचन, काय) के योगों को ही आस्रव कहा गया है। जिस प्रकार कुएँ के भीतर पानी आने में झिरी (स्रोत) कारण होती है उसी प्रकार आत्मा में कर्म आने में योग कारण होता है। कर्मों के आने के द्वार को आस्रव और आस्रव के निरोध को 'संवर' कहते हैं --

*"आस्रवनिरोधः संवरः।"*[7]
*"यदा निरुद्धयोगास्रवो" भवति,*
*तदा जीवनकर्मणोः पृथक्त्वं भवति।।"*[8]

अर्थात्, जब आत्मा मन, वचन, काया की चंचलता रूप योग अर्थात, प्रवृत्तिजन्य आस्रव का पूर्ण निरोध कर देता है, तब से सदा के लिये आत्मा और कर्म पृथक् हो जाते हैं। संवर छह कारणों से होता है --

3 **गुप्ति** - "सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः"।[9]

5 **समिति** - "ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः"।[10]

10 **धर्म** - "उत्तमः क्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः"।[11]

12 **अनुप्रेक्षा** - "अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुचित्वास्रवसंवरनिर्जरालोक-बोधिदुर्लभधर्मस्वाख्यातत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः"।[12]

22 **परिषह** - "क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोश-वधयाचनाऽलाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि।"।[13]

5 **चारित्र** - "सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसम्परायथाख्यात-मिति चारित्रम्।"[14]

"तप से संवर और निर्जरा होती है। जैसे तप संवर का कारण है, वैसे ही वह निर्जरा का भी प्रमुख कारण है। सामान्यतया तप लौकिक सुख की प्राप्ति का साधन माना जाता है, फिर भी वह निःश्रेयस या आध्यात्मिक सुख का भी साधन है क्योंकि तप एक होने पर भी उसके पीछे की भावना के भेद के कारण वह सकाम और निष्काम दो प्रकार का हो जाता है। सकाम तप लौकिक सुख या अभ्युदय का साधक है और निष्काम तप निःश्रेयस का।"[15]

*"अभावाद् बन्धहेतूनां बंधनिर्जरया तथा।*
*कृत्स्नकर्मप्रमोक्षो हि मोक्ष इत्यभिधीयते।।*

अर्थात्, "मिथ्यादर्शन आदि कर्मबन्ध के कारणों का अभाव हो जाने से तथा संचित कर्मों की निर्जरा से जो समस्त कर्मों का विनाश हो जाता है, उसे मोक्ष कहते हैं।"[16]

इस तरह से संवर, निर्जरा के तप, चारित्र आदि कारणों से पूर्व संचित कर्मों

का क्षय करते हुए साधु के संसार का बीजभूत मोहनीय कर्म पहले रूप से नष्ट होता है, उसके बाद ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय में तीनों कर्म एक साथ नष्ट हो जाते हैं। मोह सबसे अधिक बलवान है। अतः उसके नाश होने के बाद ही अन्य कर्मों का नाश संभव है। इन चार घातिय कर्मों के नष्ट होने पर वह जीवन शुद्ध, बुद्ध, निरामय, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और केवल ज्ञान का धारक अरहंत परमेष्ठी कहलाता है। फिर भी उसके वेदनीय आदि चार अघातिय कर्म अवशिष्ट रहते हैं, जिसके कारण मोक्ष नहीं होता। अतः इन शेष विरल कर्मों के क्षय के लिये वह अरहंत अवस्था में सर्व देशों में विहार कर और मध्य जीवों को मोक्ष मार्ग का उपदेश देकर योग निरोध कर तथा शेष चार अघातिय कर्मों का भी क्षय कर सर्व कर्म से रहित होकर अरहंत ( परमेष्ठी ) निर्वाण को प्राप्त हो जाता है। जिस प्रकार ईंधन रूप नवीन उपादान कारण से रहित और पूर्व संचित ईंधन को जलाकर भस्म कर देने वाली अग्नि शान्त हो जाती है, उसी प्रकार कर्म रूप ईंधन को जलाकर यह आत्मा भी परम शान्ति को प्राप्त हो जाती है। इस तरह सम्पूर्ण कर्मों के क्षय होने के बाद कर्मों का बन्ध नहीं होता और जन्म-मरण का चक्र समाप्त हो जाता है, यही मोक्ष है।

*"पक्के फलह्मि पडिए जह ण फलं वज्झए पुणो विंटे।*
*जीवस्स कम्मभावे पडिए ण पुणोदयमुवेई।।"17*
*"अन्यत्र केवल सम्यक्त्व ज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः।"18*

अर्थात्, मुक्त जीव में केवल सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और सिद्धत्व इन भावों को छोड़कर अन्य भावों का अभाव हो जाता है। मुक्त अवस्था में उसके अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य आदि स्वाभाविक गुण विकसित हो जाते हैं।

*"अउलं सुहसंपत्ता उवमा जस्स नत्थिउ।"19*

अर्थात्, मोक्ष में आत्मा अनन्त सुखमय रहता है। उस सुख की कोई उपमा नहीं है और न कोई गणना ही है। जिस तरह सोने की गंदगी दूर कर देने पर वह चमकने लगता है, ठीक उसी प्रकार आत्मा में से कर्म मल के निकल जाने पर आत्मा का स्वाभाविक गुण अनन्तचतुष्टय आदि निखर उठते हैं। समस्त कर्मों, भावों के क्षय होने के बाद तीन कार्य होते हैं -- शरीर का वियोग, सिध्यमान गति, लोकान्त प्राप्ति।

*"पूर्वप्रयोगाद् सगंत्वाद् बंधच्छेदात्तथागतिः परिणामाच्च।।"20*

अर्थात्, पूर्व प्रयोग ( पूर्वसंस्कार ) से संग रहित होने से, कर्म-बन्धन के नष्ट होने से और तथागति परिणाम अर्थात्, ऊर्ध्वगमन का स्वभाव होने से मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करता है।

जीव कर्मों से छूटते ही तत्काल गति करता है, स्थिर नहीं रहता। गति ऊँची और लोक के अन्त तक ही होती है, उससे ऊपर नहीं यह शास्त्रीय मान्यता है। जीव

ऊर्ध्वगति ही करता है, अधोगति या तिरछी गति क्यों नहीं करता ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि -- "जीव द्रव्य का स्वभाव पुद्गल द्रव्य की भाँति गतिशील है। दोनों में अन्तर इतना ही है कि पुद्गल स्वभावतः अधोगतिशील है और जीव ऊर्ध्वगतिशील है। जीव द्रव्यकर्म के कारण या बन्धन के कारण गति नहीं करता अथवा नीची या तिरछी दिशा में गति करता है। अतः इस द्रव्य-कर्म के संग छूटने पर और उसके बन्धन टूटने पर कोई प्रतिबंधक नहीं रहता। इससे मुक्त जीव को स्वभावानुसार ऊर्ध्वगति करने का अवसर मिलता है।"[21] जैसे --

पूर्व प्रयोग

मुक्त जीव कुंभकार के द्वारा घुमाये हुए चाक की तरह पूर्व प्रयोग से ऊर्ध्वगमन करता है। अर्थात्, जिस प्रकार कुम्भकार चक्र को घुमाकर छोड़ देता है, तब भी चक्र पहले के भरे हुए वेग के वशीभूत होकर घूमता रहता है। उसी प्रकार जीव भी पूर्व कर्म से प्राप्त आवेश के कारण स्वभावानुसार ऊर्ध्वगति ही करता है। प्रतिबन्धक कर्म द्रव्य के हटते ही जीव की ऊर्ध्वगति तुम्बे की तरह ऊपर हो जाती है। अर्थात्, जब तक तुम्बे पर मिट्टी का लेप रहता है, तब तक वह वजनदार होने से पानी में डूबा रहता है पर ज्योंही उसकी मिट्टी गलकर अलग होती है कि तुम्बा पानी के ऊपर आ जाता है। इसी प्रकार जब तक कर्म का लेप रहता है तब तक जीव संसार समुद्र में डूबा रहता है पर ज्योंही कर्म का लेप दूर होता है त्योंहि वह ऊपर उठकर लोक के ऊपर पहुँच जाता है। इसी तरह "एरंड वृक्ष का सूखा बीज जब चटकता है, तब उसकी मींगी जिस प्रकार ऊपर को आ जाती है, उसी प्रकार यह जीव कर्मों के बन्धन दूर होने पर ऊपर को आ जाता है। मुक्त जीव स्वभाव से ही अग्नि की शिखा की तरह ऊर्ध्वगमन करता है। अर्थात्, जिस प्रकार हवा के अभाव में अग्नि (दीपक) की शिखा ऊपर को जाती है, उसी प्रकार कर्मों के बिना यह जीव भी ऊपर को जाता है।"[22]

इस तरह से कहा जा सकता है कि जीव ऊपर लोक के अन्त तक जाता है, जहाँ पर वह रहकर अनन्तानन्त काल तक परम अतीन्द्रिय, आत्मिक सुख को भोगता है। जीव की ऊर्ध्वगति लोक के अन्त से ऊपर नहीं होती, क्योंकि लोकान्त के आगे धर्मास्तिकाय जो गति में सहायक है, उसका अभाव रहता है।

"मुक्त-अवस्था में बिना शरीर के केवल शुद्ध आत्मा मात्र रह जाती है। उसका आकार उसी अन्तिम शरीर के समान होता है जिससे आत्मा ने मुक्ति लाभ किया है। जिस तरह धूप में खड़े होने पर शरीर की छाया पड़ जाती है, वैसे ही शरीराकार आत्मा मुक्तावस्था में होती है, जो अमूर्त होने के कारण दिखाई नहीं देती।"[23] मुक्त जीवों के सुख को ऋषियों ने सांसारिक विषयों से रहित अव्यय, अव्याबाध और परमोत्कृष्ट निरुपम कहा है। मुक्त जीव ज्ञान, दर्शन, शक्ति, स्वास्थ्य, आनन्द, तृप्ति और परमबुद्धि से मुक्त

होकर विरति सुख मर्यादातीतकाल तक निःश्रेयस सुख का उपभोग करते हैं।

"संसार के सब मनुष्यों और सब देवताओं को भी वह सुख प्राप्त नहीं है, जो सुख अव्याबाध स्थिति को प्राप्त हुए मुक्त आत्माओं को है।"[24] जैनी श्लोक ठीक ही कहता है --

*"विद्यादर्शनशक्तिस्वास्थ्य प्रह्लादतृप्तिशुद्धियुजः।*
*निरतिशया निरवधयः निःश्रेयसभावसन्ति सुखाः।।"*[25]

मोक्ष के सम्बन्ध में समणसुत्तं में कहा है --

*"ण वि दुक्खं ण वि सुक्खं, ण वि पीडा णेव विज्जदे बाहा।*
*ण वि मरणं ण वि जणणं, तत्थेव य होइ णिव्वाणं।।"*[26]

अर्थात्, जहाँ न दुःख है न सुख, न पीड़ा है न बाधा, न मरण है न जन्म, वहीं निर्वाण है।

मोक्ष को परमकल्याण रूप बताते हुए यहाँ कहा गया है --

*"जन्मजरामयमरण शोकदुःखभयेभ्यश्च परिमुक्तम्।*
*निर्वाणं शुद्धसुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यम्।।"*[27]

अर्थात् वह निर्वाण, जन्म-जरा-मरण, रोग-शोक, दुःख और भय से परिमुक्त है, वहाँ आत्मा का शुद्ध सुख है और वह नित्य परम-कल्याण-रूप कहा गया है।

मुक्त हो जाने से बाद यह आत्मा जीना-मरना, बुढ़ापा, रोग-शोक, दुःख-भय आदि से रहित हो जाता है, क्योंकि ये चीजें शरीर के साथ सम्बन्धित रहती हैं और शरीर वहाँ होता नहीं तथा राग-द्वेषादि का तो वहाँ प्रश्न ही नहीं है। अतः इन सबसे मुक्त आत्मा की शुद्ध अवस्था का नाम ही 'मोक्ष' है। राग-द्वेष के विकल्प से मुक्त निर्विकल्प को सुख ही सुख है।

*"निव्विकप्पसुहं सुहं।"*[28]

आत्मा जब तक शुद्ध रहती है तब तक वहाँ से च्युत नहीं हो सकती और पुनः अशुद्ध होने का कोई कारण वहाँ मौजूद नहीं रहता। अतः आत्मा वहाँ से कभी नहीं लौटती, सदा निराकुलतारूप आत्मसुख में ही मग्न रहती है। इसलिये कहा भी है कि --

*"काले कल्पशतेऽपि च गते शिवाना न विक्रिया लक्ष्या।*
*उत्पातोऽपि यदि स्यात् त्रिलोकसम्भ्रान्तिकरणपटिमां।।"*[29]

अर्थात्, यदि संसार में एक बार त्रिलोक को चल-विचल करने में समर्थ उत्पात भी हो जाय, तो भी सिद्ध जीवों को कोई विकार होना सम्भव नहीं है। अतः वे जिस रूप में आज मुक्त हुए हैं, उसी रूप में अनन्तकाल तक रहेंगे।

## (ख) जैन-दर्शन की अन्य आध्यात्मिक मान्यताएँ

इसमें संदेह नहीं कि न केवल भारतीय दर्शन के विकास का अनुगमन करने के लिये, अपितु भारतीय संस्कृति के उत्तरोत्तर विकास को समझने के लिये भी जैन दर्शन का अत्यन्त महत्त्व है। ऐसे तो सभी धर्मों में अध्यात्म का विशेष स्थान है परन्तु अर्न्तदृष्टि और आत्म-समीक्षण का जितना अधिक विचार जैन धर्म के अध्यात्म ग्रन्थों में मिलता है, उतनी मात्रा में कदाचित् अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। जैन दर्शन द्वारा मान्य आचार-विचार के कुछ मौलिक सिद्धान्त हैं जिन पर जैन दर्शन खड़ा है, जैसे --

*(1) अहिंसा*

संसार के धर्मों का यदि कोई गणितज्ञ महत्तम समापवर्त्तक निकाले तो उसे अहिंसा धर्म ही सर्वमान्यसिद्धान्त प्राप्त होगा। इस तत्त्वज्ञान पर जैन-श्रमणों ने जितना वैज्ञानिक और तर्कसंगत प्रकाश डाला है, उतना अन्यत्र देखने में नहीं आता।"[30] आज तो हम जिधर देखते हैं, उधर ही हिंसा का प्रचंड तांडव लोगों के हृदय में उन्माद उत्पन्न कर रहा प्रतीत होता है। संसार को इस घनघोर विनाश से बचाने का एक ही मार्ग है और वह है अहिंसा व्रत का पालन। जैनियों ने बताया है कि अहिंसा का सिद्धान्त मनुष्य को ऊपर उठाता है। वनस्पति से लेकर मानव तक की अहिंसा की यह कहानी अर्थात्, मन, वचन, काय से किसी जीव को संताप न पहुँचाना, उसका वध न करना, उसे पीड़ा न पहुँचाना आदि ये सब जैन परम्परा की विशिष्ट देन है। चतुर्थ अध्याय में इसका विस्तृत विवेचन उपलब्ध है।

*(2) कर्म सिद्धान्त*

साधक के आत्म-विकास में जिस शक्ति के कारण बाधा उपस्थित होती है, उसे जैन शासन में कर्म कहते हैं। जैन दर्शन में जैसा कर्म विज्ञान पर जोर दिया है वैसा अन्य दर्शनों में नहीं पाया जाता। जैन सिद्धान्त प्रत्येक प्राणी को भाग्य-विधाता मानता है। सभी प्राणी कर्मों के उत्तराधिकारी हैं। कर्म आठ हैं -- ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। इन्हीं कर्मों के अनुसार जीव योनियों में जाते हैं अर्थात्, अपना कर्म ही बन्ध है, आश्रव है और वह जीव का उच्च और नीच रूप में विभाग करता है। बिना कर्म सिद्धान्त के जैन शास्त्र का विवेचन पंगु हो जाता है।

"जैनाचार्य बताते हैं कि आत्मा के प्रदेशों में कम्पन होता है और उस कम्पन से पुद्गल का परमाणु-पुंज आकर्षित होकर आत्मा के साथ मिल जाता है, उसे कर्म कहते हैं।"[31] स्वामी अकलंक देव का कथन है -- "जिस प्रकार पात्र-विशेष में रखे गये अनेक रसवाले बीज, पुष्प तथा फलों का मद्य रूप में परिणमन होता है, उसी प्रकार आत्मा में स्थित पुद्गलों का क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषायों तथा मन, वचन, काय के निमित्त से

आत्म-प्रदेशों के परिस्पन्दन रूप योग के कारण कर्म रूप परिणमन होता है।"[32] कहा जा सकता है कि जीव और पुद्गल अपने-अपने गुणों से च्युत होकर एक नवीन अवस्था का निर्माण करते हैं। राग-द्वेष युक्त आत्मा पुद्गल पुंज को अपनी ओर आकर्षित करता है। जैसे चुम्बक लोहा आदि पदार्थों को आकर्षित करता है। जिस तरह से फोटोग्राफर चित्र खींचते समय अपने कैमरे को व्यवस्थित ढंग से रखता है और उस समय उस कैमरे के समीप आने वाले पदार्थ की आकृति लेन्स के माध्यम से प्लेट पर अंकित हो जाती है, उसी प्रकार राग-द्वेष रूपी काँच के माध्यम से पुद्गल पुंज आत्मा में एक विशेष विकृति उत्पन्न कर देते हैं, जो फिर रागादि भावों को उत्पन्न करता है।

*(3) जगत् की जटिलता*

जैन धर्म के अनुसार भौतिक जगत् तथा पाँच प्रकार के अजीव द्रव्यों से बना यह जगत् अनादि काल से चला आ रहा है। जैनी दो प्रकार के मूल पदार्थ मानते हैं -- जिसमें जानने, देखने आदि की शक्ति है वह जीव है और जिसमें यह शक्ति नहीं है, वह अजीव है। इन्हीं दोनों में विश्व के सार पदार्थ शामिल हो जाते हैं। इसको किसी ने किसी विशेष समय में नहीं बनाया। सभी तत्त्व में उत्पत्ति, स्थिति और विनाश पाया जाता है। उमास्वामी ने लिखा है -- "उत्पादव्ययध्रौव्य का लक्षणा सत् है।"[33] सत् जो स्वतः सिद्ध है जिसके अस्तित्व को समंतभद्र ने भी तत्त्व की त्रिविधताओं से समन्वित स्वीकार किया है --

*"तस्मात् तत्त्वं त्रयात्मकम्।"*[34]

इस तरह से ये जगत्, पदार्थों के समुदाय का ही नाम है -- पदार्थ पुंज को छोड़कर विश्व नाम की और कोई वस्तु नहीं जो अपने स्रष्टा का सहारा चाहे। वस्तु का स्वाभाविक रूप ऐसा है कि उन्हें अन्य भाग्य-विधाता की कोई आवश्यकता नहीं है। जिसकी इच्छानुसार वस्तु को विविध परिणमन रूप अभिनव करने के लिए बाध्य होना पड़े।

जड़तत्त्व को जैन दार्शनिकों ने पुद्गल कहा है, उसमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण पाये जाते हैं। ये चारों गुण प्रत्येक पुद्गल में छोटे-बड़े रूप में अवश्य होंगे। "इस पुद्गल से सम्बद्ध जीव, जगत् में अगणित रूप धारण करता है। ज्ञान और आनन्दस्वरूप आत्मा को पौद्गलिक शक्तियाँ ही इस शरीर रूपी कारागार में बंदी बना अपनी विचित्र शक्तियों का प्रदर्शन करती हैं -- तत्त्वतः सब आत्माएँ समान हैं।"[35]

जैन दर्शन ने द्रव्य छः माने हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल। ये जीवादि छः द्रव्य कभी कम होकर पाँच नहीं होते और न ये कभी बढ़कर सात होते हैं। जिस प्रकार समुद्र में लहरें उठा करती हैं, विलीन भी होती हैं, फिर भी जल की अपार

राशिवाला समुद्र विनष्ट नहीं होता, उसी प्रकार परिवर्तन के भँवर में समस्त द्रव्य अपने-अपने वास्तविक रूप समझ लें तो भ्रम से बचकर कल्याण की ओर प्रगति की जा सकती है।

*(4) परमात्म पद*

जैन धर्म युक्तिपूर्वक ये सिद्धान्त सिद्ध करता है कि साधारण आत्मा भी आत्मशुद्धि के मार्ग पर चलकर महात्मा बनता है और महात्मा से पूर्ण शुद्ध-बुद्ध, निरंजन, निर्विकार, पूर्ण-ज्ञानी, पूर्ण-सुखी, परमात्मा बन जाता है। परमात्मा एक नहीं बल्कि अनेक हैं। जो जीव आत्मशक्तियों के परम (पूर्ण) विकास रूप परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाता है, वह परमात्मा बन जाता है।

जैन धर्म का लक्ष्य ही है आत्मा को परमात्मा में परिणत करना। आत्मा में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, श्रद्धा, चारित्र आदि अनन्त गुण होते हैं। इन सब में निरन्तर परिवर्तन हुआ करता है, जिसे पर्याय कहते हैं। पर्याय की दृष्टि से आत्मा के तीन भेद हैं -- बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा।

(1) जिसे नौ तत्त्वों का सही ज्ञान व श्रद्धान नहीं है, जिसे आत्मानुभूति नहीं हुई है तथा जो शरीरादि अजीव पदार्थों एवं रागादि रूप आश्रव आदि पदार्थों में अपनापन मानता है व उनका कर्त्ता बनता है, वह बहिरात्मा है। साधारण लोगों की दृष्टि में 'यह शरीर ही आत्मा है' ऐसा कहना 'बहिरात्मा' हुआ।

(2) जो आत्मा भेद-विज्ञान के बल से आत्मा को देहादिक और रागादिक से भिन्न ज्ञान-दर्शन स्वभावी जानता, मानता व अनुभव करता है, वह ज्ञाता, द्रष्टा, सम्यग्दृष्टि आत्मा ही 'अन्तरात्मा' कहा जाता है। दूसरे शब्दों में शरीर, मन तथा इन्द्रिय से भिन्न, परन्तु मोहनीय आदि कर्मों के वशीभूत न होने वाला जीव ही अन्तरात्मा के नाम से पुकारा जाता है।

(3) यही अन्तरात्मा गृहस्थावस्था त्यागकर, शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अंगीकार कर, निज स्वभाव साधन द्वारा आत्मतल्लीनता की परम अवस्था में पूर्ण वीतरागी होकर सर्वज्ञता की प्राप्ति कर परमात्मा बन जाता है। अन्तरात्मा के लिए यह भी कह सकते हैं कि यही अन्तरात्मा साधन विशेषों के द्वारा बहिर्भूत होकर 'परमात्मा' बन जाता है।

(4) परमात्मा का स्वरूप

*"जो णिय-भाउ ण परिहरइ जो पर-भाउ ण लेइ।*
*जाणइ सयलु वि णिच्चु पर सो सिउ संतु हवेइ।।"*[36]

जोगिन्दू का कथन है कि "जैसे आकाश में एक ही उदित नक्षत्र जगत् को प्रकाशित करता है, वैसे ही जिसके केवल ज्ञान में जगत् प्रतिबिम्बित होता है, वही अनादि परमात्मा होता है"।

(5) जैन धर्म या दर्शन आचार पर विशेष आग्रह करता है क्योंकि जगत् दुःख से पूर्ण है। इस दुःख क्षोभ से आत्मा को बचाना ही हमारे जीवन का लक्ष्य है। प्रत्येक प्राणी की आत्मा अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान आदि गुणों से विशिष्ट है पर स्वतन्त्र आत्मा जगत् में कर्मों के कारण दासता में जकड़ी हुई है। कहीं वह बाहर प्रभु की दासता में है तो कहीं अपनी वासनाओं की आन्तरिक दासता में है। इस दासता से उन्मुक्त करना ही जैन शास्त्रों का उद्देश्य है।

(6) जैन धर्म में त्याग के ऊपर भी काफी जोर दिया गया है और कहा है- त्याग से धन को भोगो। किसी के धन को छीनने का लालच न करो। भारतीय संस्कृति जिन तकारों पर आश्रित है वह है -- त्याग, तप और तपोबल। उनमें 'त्याग' ही मुख्य तथा सर्वातिशयी है। भगवान महावीर ने कहा है कि "घर में रहते हुए भी जो मनुष्य सुन्दर तथा प्रिय भोगों को प्राप्त करके भी उनसे अलिप्त रहता है और अपने अधीन होने वाले भोगों को भी वह छोड़ता है, वही सच्चा त्यागी है।" त्याग के लिये आवश्यक है ज्ञानपूर्वक वस्तु-प्रहाण। यह पूर्ण ममता के परित्याग तथा पूर्ण वैराग्य के होने पर ही सम्भव होता है। त्याग करने पर भी तात्त्विक शान्ति का आस्वादन हो, तो यह समझना चाहिये कि वह आंतरिक त्याग नहीं, क्योंकि "त्याग का अर्थ आकुलता का अभाव है यदि वह न हुआ तो त्याग से क्या लाभ।" सुख की प्राप्ति आन्तरिक त्याग द्वारा हो सकती है। वर्णी जी ने कहा है "मनुष्य जितना कार्य करता है, उन सबका लक्ष्य सुख की ओर रहता है। वास्तव में यदि विचार किया जाय तो सुखोत्पत्ति त्याग से ही होती है। इसी से जैन धर्म का उपदेश त्याग प्रधान है। जिसने इसको लक्ष्य नहीं बनाया, वह मार्मिक ज्ञानी नहीं। इसके ऊपर जिसकी दृष्टि रही उसके त्याग करने का प्रयत्न सफल हो सकता है।" आज मनुष्य मात्र शास्त्रीय परिभाषाओं से ही त्याग करता है, पर जब तक आत्मगत विचारों से त्याग नहीं होता, तब तक उस त्याग को त्याग नहीं कह सकते।

(7) *साम्यवाद* -- जैनधर्म जगत् से समस्त प्राणियों को वे चाहे जितने छोटे या बड़े हों, किसी भी शरीर में हों, स्वाभाविक शक्तियों की अपेक्षा समान बतलाता है। भिन्न-भिन्न शरीरधारी जीवों में उन आध्यात्मिक शक्तियों पर पड़े हुए आवरण से विभिन्नता है, शक्तियों में भिन्नता नहीं है।

(8) *समाजवाद* -- जैन धर्म का सिद्धान्त है कि जाति का प्रत्येक व्यक्ति अथवा प्राणी वह चाहे नर हो, पशु हो, देव हो या नारकी हो विश्व समाज का एक अंग है। यानी जगत् का प्राणि समुदाय एक समाज के रूप में है। अतः प्राणि-मात्र को अपना मित्र समझो, 'सत्वेषु मैत्री'।

(9) *स्वतन्त्रता* -- जैन धर्म की घोषणा है कि किसी भी जीव का भला या बुरा कोई अन्य व्यक्ति (परमात्मा आदि) नहीं किया करता परन्तु वह स्वयं अपने अच्छे

बुरे कार्यों से अच्छे बुरे बीज बोकर अपनी सुख-दुःख देने वाली खेती तैयार करता है। कर्मजंजाल से पूर्ण स्वतन्त्र होना भी जीव के निज-अधीन है, अन्य किसी की सहायता से इसे मुक्ति नहीं मिला करती।

(10) *अनेकान्तवाद* -- प्रत्येक पदार्थ चाहे जड़ हो या चेतन, चर हो या अचर, अनेक धर्मों का घर है। जैसे -- एक ही मनुष्य पिता, पुत्र, भाई, पोता, दादा, मामा, भानजा,साला, बहनोई, ससुर और दामाद भी है। किसी भी पदार्थ में अनेक धर्म पाये जाते हैं, उनके लिये यदि एक हठ एकान्त पकड़कर 'ही' लगाया जाए तो गलत हो जाता है और यदि एक हठ छोड़कर 'भी' लगाया जाय तो सब झगड़ा समाप्त हो जाता है। पदार्थ के अनेक रूप को अनेकान्त (अनेक अन्ताः धर्माः यस्मिन् असौ, स अनेकान्तः) कहते हैं। इस तरह जगत् के सभी पदार्थों को अनेक धर्म-मय कहना 'अनेकान्तवाद' है।

(11) *स्याद्वाद* -- स्याद्वाद का अर्थ किसी एक अपेक्षा से किसी बात को समझना। स्याद् शब्द का अर्थ सामने आई कोई एक अपेक्षा से ही है यानि हम जिस बात को जान रहे हैं वह किसी एक अपेक्षा से है, सर्वथा (सभी दृष्टिकोणों से) नहीं है। स्याद् शब्द जहाँ जुड़ता है वहाँ पर 'भी' का बोध होता है। अर्थात्, इस बात की दृष्टि से तो वस्तु ऐसी है किन्तु अन्य दृष्टिकोणों से अन्य प्रकार की भी है --

जैसे जब हम कहते हैं कि "स्याद् घड़ा है" किसी अपेक्षा से घड़ा है तो उसी समय हमारे कहने का अभिप्राय यह अपने आप निकल जाता है कि किसी अपेक्षा से घड़ा नहीं भी है, जो कि ठीक बात है। घड़ा यदि है तो अपने रूप से (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव) से है, अन्य पदार्थों की अपेक्षा से वही वह नहीं भी है।

इस प्रकार अन्य दृष्टिकोणों का ध्यान रखते हुए जो किसी एक दृष्टिकोण से किसी बात का विचार किया जाता है वह स्याद्वाद है, जो हठवाद का निषेध करता है।

(12) *सप्तभंगी* -- पदार्थ अनेकान्तरूप है। स्याद्वाद उनको विभिन्न अपेक्षाओं से ठीक अंकित करता है, किन्तु स्याद्वाद द्वारा जाना हुआ अनेकान्त रूप पदार्थ एकदम एक ही शब्द द्वारा नहीं कहा जा सकता, वाणी द्वारा क्रम से उसका विवेचन होता है। इस कारण सात भंगों द्वारा स्याद्वाद को कहा जा सकता है, ये सात भंग 'सप्तभंगी' है।

1. स्यात् अस्ति
2. स्यात् नास्ति
3. स्यात् अस्ति-नास्ति
4. स्यात् अवक्तव्यम्
5. स्यात् अस्ति अवक्तव्यम्
6. स्यात् नास्ति अवक्तव्यम्

7. स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्यम्

इन सिद्धान्तों द्वारा संसार में विषाद बीज बोने वाला एकान्तवाद दूर हो जाता है। स्याद्वाद या अनेकान्तवाद दोनों एक ही है, दोनों शब्दों के पीछे एक ही हेतु है और वह है अनेकान्तात्मकता। कहा भी है --

*"स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकः ततः*
*स्याद्वादीऽनेकान्तवादः।"*[37]

ऐसा ही *लघीयस्त्रय टीका* में भी कहा है --

*"अनेकान्तात्मकार्थं कथनं स्याद्वादः।"*[38]

(13) *सात तत्त्व* -- जिस तरह जल वास्तव में ठंडा होता है किन्तु अग्नि के समागम से उसका ठंडा स्वभाव बिगड़ कर गर्म हो जाता है, फिर यदि जल से अग्नि को दूर कर दिया जाय तो वह फिर अपने स्वभाव में आकर ठंडा हो जाता है ठीक ऐसी ही अवस्था जीव की है। जीव का स्वभाव तो वास्तव में शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, निर्विकार, पूर्ण, ज्ञाता, अनन्त-शक्ति-सम्पन्न निराकुल है किन्तु पौद्गलिक कर्मों के संयोग से उसके स्वभाव में विकृति आ जाती है। जिस समय ऐसे कर्म जीव से दूर हो जाते हैं, वह (जीव) अपने वास्तविक स्वभाव में आ जाता है। जीव का पौद्गलिक कर्मों से विकृत हो जाना बन्धन है और इनसे दूर हो, अपने स्वभाव में आ जाना 'मोक्ष' कहलाता है। जीव जब बन्धन में रहता है तो उसे अनेक कष्टों का सामना करना पड़ता है। उस हालत में उसके मन में कई विचार आते रहते हैं। जैसे --

1. जीव क्या है ?
2. उसको परतन्त्र बनाने वाला कौन है ?
3. जीव परतन्त्र किस तरह बनता है ?
4. जीव के बन्धन टूटने का क्या उपाय है ?
5. बन्धनमुक्त हो जाने पर क्या होता है ?

इन पाँच बातों को सात तत्त्वों के रूप में जैन दर्शन ने बताया है। तत्त्व यानी सारभूत पदार्थ ये ही हैं, क्योंकि जगत् में तो पदार्थ या तत्त्व अनन्त हैं, पर जीव के बन्धन और मुक्ति को समझने की दृष्टि से सात ही उपयोगी हैं।

## जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष

जो चैतन्यरूप है, वह जीव है (चैतन्य लक्षण जीव)। जीव एक अमूर्तिक वस्तु है, उसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्वाद नहीं पाये जाते। यह शरीर तो एक मकान के समान है, जिसमें जीव कुछ समय के लिये रहा करता है। इस कारण जीव का मकान तो दिखता है, किन्तु मकान रूपी शरीर में रहने वाला जीव दिखाई नहीं देता। जब तक जीव शरीर में

रहता है उसके द्वारा श्वास लेने की क्रिया होती रहती है, जहाँ श्वास लेने की क्रिया बन्द हुई कि जीव शरीर रूपी मकान को छोड़कर किसी अन्य मकान में चला जाता है। अर्थात्, जब तक शरीर है ये इन्द्रियों की संवेदनाएँ हुआ करती हैं। जीव के शरीर से चले जाने पर मुर्दा शरीर न खाता है, न पीता है, न देखता है, न सूँघता है और न सुनता है, जबकि उसमें आँख, नाक, कान आदि सब रहते हैं।

आस्रव -- जीव में मानसिक विचार, बोलने या शारीरिक हलचल के कारण हलन-चलन होती है, उस समय जीव अपनी योग शक्ति द्वारा जो कार्मण स्कंधों का आकर्षण करता है, यह कार्माण आकर्षण आस्रव कहलाता है।

बन्ध -- आकर्षण किये हुए कार्मण स्कंध जो आत्मा के प्रदेशों के साथ घुलमिलकर कर्म रूप बन जाते हैं, उस प्रक्रिया का नाम 'बन्ध' है। बन्ध की अवस्था ऐसी होती है कि जैसे कोई दो वस्तु अपनी असली हालत छोड़कर एक तीसरी हालत में हो जाती है। जिस तरह दूध और पानी को आपस में मिला दिये जाने पर न दूध अपनी वास्तविक स्थिति में रह पाता है और न पानी। अर्थात्, दोनों एक दूसरे से प्रभावित होते हैं, यही 'बन्ध' है। बन्ध और आस्रव का कारण मिथ्याश्रद्धा, अविरति, असावधानी, प्रमाद, कषाय और योग है।

कषाय -- शब्द कष्+आय के योग से निष्पन्न हुआ है। 'कष्' का अर्थ है कर्म अथवा भव। जिनसे कर्म की ओर, जन्म मरण की 'आय' अर्थात्, प्राप्ति होती है उसे 'कषाय' कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जिस विकार के कारण आत्मा कर्म-जाल में आबद्ध होता है और जिसके फलस्वरूप वह भ्रमण करता है वह विकार कषाय है।"[39]

संवर -- "आस्रवनिरोधः संवर"।[40] अर्थात्, नये कर्मों का जीव में न आना ही संवर है या कह सकते हैं कि कार्माण आकर्षण (आश्रव) का क्रमशः अंश-रूप से बन्द हो जाना संवर है क्योंकि मिथ्या-श्रद्धा आदि कार्माण आकर्षण के कारण ज्यों-ज्यों हटते जाते हैं त्यों-त्यों सत्य-श्रद्धा (सम्यक् दर्शन), सत्य-ज्ञान (सम्यक् ज्ञान) और सम्यक् आचार (सम्यक् चारित्र) अर्थात्, "स गुप्ति समिति-धर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः"।[41] आदि के विकसित होने से आश्रव की मात्रा कम होती चली जाती है, इसी का नाम 'संवर' है।

निर्जरा -- अपनी गलती से जीव ने जिन कर्मों को अपनी परतन्त्रता का कारण बना रखा है, उन संचित हुए कर्मों का आत्मा से छूट जाना 'निर्जरा' है। अपना फल देकर तो कर्म आत्मा से अलग हो ही जाते हैं, ऐसी निर्जरा प्रत्येक जीव के प्रतिक्षण हुआ करती है, इससे आत्मा का कुछ विशेष लाभ नहीं।

तपश्चर्या (ध्यान आदि) के द्वारा कर्म अपना कुछ फल न देकर भी आत्मा से छुट जाते हैं यह 'सफल निर्जरा' है इसी से आत्मा का लाभ होता है।

मोक्ष -- संवर और निर्जरा के द्वारा जिस समय आत्मा का कर्म बन्धन पूर्ण रूप से टूट जाता है, आत्मा की आकुलता सर्वथा दूर हो जाती है, ऐसा आत्मा का अपने स्वरूप में पूर्ण स्वतन्त्र, निरंजन, निर्विकार हो जाना ही मोक्ष है।

## सन्दर्भ


1. प्रवक्ता क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी, शान्ति पथ प्रदर्शन, पृ. 376
2. हुकुमचन्द भारिल्ल, तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृ. 112
3. उत्तराध्ययन चूर्णि, अध्ययन 1
4. नेमिचन्द्र शास्त्री, तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पृ. 378
5. पं. टोडरमल जी, मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृ. 315
6. सूत्रकृतांग की सूक्तियाँ,1/2/1/4
7. तत्त्वार्थसूत्र, 9/1
8. उत्तराध्ययन चूर्णि, अध्ययन 1
9. तत्त्वार्थसूत्र, 9/4
10. वही, श्लोक 5
11. वही, श्लोक 6
12. वही, श्लोक 7
13. वही, श्लोक 9
14. वही, श्लोक 18
15. सुखलाल संघवी, तत्त्वार्थसूत्र, पृ. 207
16. पं. हीरालाल जैन सिद्धान्तशास्त्री, जैनधर्मामृत,13/1, पृ. 258
17. समयसार, 8
18. फूलचन्द्रशास्त्री, मोक्षशास्त्र सटीक, 10/4, पृ. 198
19. उत्तराध्ययन की सूक्तियाँ, 36/66
20. तत्त्वार्थसूत्र, 10/6, पृ. 237
21. वही, पृ. 385
22. मोक्षशास्त्र सटीक, पृ. 200
23. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैनधर्म, पृ. 242
24. औपपातिकसूत्र, 180; उपाध्याय अमरमुनि, सूक्ति त्रिवेणी, 230/17
25. जैनधर्मग्रन्थ, पृ. 561, श्लोक 132
26. अनु० पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री एवं मुनि नथमल, समणसुत्त, पृ. 196, श्लोक 617
27. जैनधर्मामृत, 13/11, पृ. 261
28. बृहत्कल्पभाष्य, 57, 17

29. जैनधर्मामृत, 13/13, पृ. 261
30. पं. सुमेरुचन्द्र दिवाकर, जैनशासन, पृ. 130
31. वही, पृ. 198
32. वही, पृ. 198
33. तत्त्वार्थसूत्र, 5/30
34. समंतभद्र स्वामी, आप्तमीमांसा, श्लोक 60
35. जैनशासन, पृ. 61
36. परमात्म प्रकाश, 1/2/18
37. स्याद्वाद मंजरी 5
38. लघीयस्त्रय टीका, 72
39. ओंकार - एक अनुचितन्तन, पृ. 103
40. तत्त्वार्थसूत्र, 9/1
41. वही, 9/2

# चतुर्थ अध्याय

## (क)आत्म-अनात्म विवेक

संसार का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है और दुःख से दूर भागता है। सुखी होना उसके जीवन का चरम लक्ष्य है, इसलिये वह इस दिशा में पूर्ण प्रयत्न करता है, साधन सामग्री भी एकत्रित करता है, फिर भी लक्ष्य-सिद्धि में असफल ही रह जाता है। इसका मुख्य कारण है प्राणी की आत्म-रूप-विस्मृति। जिस प्रकार मदिरा पीकर व्यक्ति आत्म-विस्मृत हो जाता है, उसी प्रकार यह प्राणी भी अनादिकाल से मोहरूपी मदिरा को पीकर अपने शुद्ध आत्म स्वभाव को भूल रहा है। इस आत्म-विस्मृति के कारण वह पर-पदार्थों में राग करता है, उनका संग्रह करता है और उनमें सुख पाने की असफल चेष्टा करता है, अपनी विभिन्न ऐहिक-एषणाओं की पूर्ति के लिये देवताओं की शरण खोजता है, उनकी कृपादृष्टि को जीवन का सर्वार्थ-साधक वरदान मानता है, यह सभी आत्म-विस्मृति है, भेद-विज्ञान या आत्म-अनात्म विवेक का अभाव ही है। जिसके कारण यह प्राणी जाति, कुल, बल, ऋद्धि एवं प्रतिष्ठादिगत वैषम्य के कारण एक दूसरे के बीच अन्तर मानता है। अपनी आत्म-विस्मृति एवं मिथ्या-बुद्धि के कारण ही दुःख से मुक्ति का एक भी उपाय उसे नहीं सूझता है। क्योंकि --

*"स्वदृष्टिमन्तरा नानाशास्त्रशशिवृथाऽखिलः।*
*करिष्यन्ति किमन्यस्य, प्रदीप्ता दीप-कोटयः।।*

अर्थात्, जिस साधक की अन्तर्दृष्टि शुद्ध नहीं है जो अनेक प्रकार के विकल्पों से उद्वेलित है, उसके लिये नाना प्रकार के सम्पूर्ण शास्त्र व्यर्थ हैं। जैसे यदि किसी अंधे व्यक्ति के सामने करोड़ों दीप प्रदीप्त कर दें तब भी वे क्या करेंगे ? क्या अन्धे को प्रकाश देंगे ?[1] अतः काललब्धिवश जब इसके मोह का उन्माद कुछ उपशान्त होता है, तब यह आत्म दर्शन करता है। उस समय इसे अनुभव होता है कि हे आत्मन् ! तुम्हारा स्वभाव तो स्वयं अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान और अनन्त वीर्य है। तुम सुख की खोज में न जाने कब से कहाँ-कहाँ भटक रहे हो। सावधान हो जाओ। तुम अपने अन्दर की शक्तियों का विकास करो और तुम्हारे सुख के मार्ग में जो बाधक हों उन्हें सदा के लिये उखाड़ फेंको। तुम अपनी प्रत्येक क्रिया के लिये सर्वत्र पूर्ण स्वतन्त्र हो। आत्म-स्वातन्त्र्य के लिये तुम्हें किसी उद्धारक की और सतृष्ण दृष्टि से देखने की आवश्यकता नहीं है। 'आचारांग' में कहा है--

*"पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि ?"*[2]

अतः आत्म-स्वातन्त्र्य के लिये सर्वात्मना स्वाश्रयी बनो। "आध्यात्मिक साधना व्यक्ति की आत्म-विस्मृति एवं मिथ्या-दृष्टि का खंडन करती है और उसे पूर्णतया सुखी एवं स्वतन्त्र बनाने के लिये स्वावलम्बन के पथ पर अग्रसर होने का निर्देश करती है।"[3]

जैन दर्शन इस दृश्यमान और परोक्ष-सत्तात्मक विश्व को, चेतन (जीव) और जड़ (पुद्गल, धर्म-अधर्म, आकाश और काल) दो प्रकार के तत्त्वों का पिण्ड है, अनादि है, अनन्त है, ऐसा मानता है। प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र एवं शक्ति- सम्पन्न है। प्रत्येक द्रव्य अपने गुणपर्यायों का स्वामी है और प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। परिवर्तन अर्थात्, उनमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का होना। इन छः द्रव्यों में सदैव सदृश परिणमन ही होता है अर्थात्, इनमें प्रति समय परिवर्तन होने पर भी ये द्रव्य सदैव एक से बने रहते हैं और अपनी स्वाभाविक धारा को नहीं छोड़ते, पर जीव और पुद्गल द्रव्यों में ऐसा न होकर सदृश और विसदृश, शुद्ध व अशुद्ध परिणमन होते हैं। अर्थात्, जब रूप, रस, गन्ध, स्पर्श-गुणात्मक पुद्गल परमाणु अपने विशुद्ध परमाणु दशा में परिणमित होते हैं तो इसे सदृश या शुद्ध परिणमन कहते हैं और जब दो या दो से अधिक परमाणु स्कन्ध दशा में परिणमित हों तो उन्हें असदृश या अशुद्ध परिणमन कहते हैं।

इस तरह "जीव-द्रव्य जब तक संसार में है और कर्म बंधन से आबद्ध है तब तक यह भी अशुद्ध परिणमन करता है, पर पदार्थों को अपनाता है और उनमें इष्टानिष्ट कल्पना करता है। अपने विशुद्ध चैतन्य स्वरूप को छोड़कर स्वयं को अन्य अनात्मीय भावों का कर्त्ता मानता है और आत्म ज्ञान से इतर अनात्मीय भावों में ही तन्मय रहता है परन्तु जैसे ही इसे अपने आत्म-स्वरूप का बोध होता है यह पर-वस्तुओं से अपना ममत्व दूर कर लेता है और कर्म-बन्धन से निर्मुक्त होकर विशुद्ध आत्म-चैतन्य में रमण करने लगता है।"[4] यह शुद्ध परिणमन है, अतः कहा जा सकता है "अनात्मा में आत्माभिमान बन्ध कहलाता है और अनात्मा में आत्माभिमान का दूर होना ही 'मोक्ष' है।"[5]

जैन दर्शन, जिन दर्शन अर्थात्, आत्म-दर्शन का रूपान्तर है। अतः इसमें आत्मा की दशाओं का, उसकी बद्ध और अबद्ध स्थितियों का और उसके कारणों का बहुत विशद एवं विधिवत विश्लेषण हुआ है। इस दर्शन ने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को स्वीकार कर स्वावलम्बी वृत्ति को प्रश्रय दिया है। आत्मा के सम्बन्ध में विभिन्न दार्शनिकों ने गहन-चिन्तन किये हैं और अपनी स्वतन्त्र मान्यताएँ स्थापित की हैं, परन्तु वे सब एकान्त दर्शन पर आधारित हैं। जैन दर्शन में आत्मस्वरूप का अनेकान्त दृष्टि से विवेचन किया गया है। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने जीव की व्याख्या करते हुए कहा है --

*"जीवो उवओगमओ, अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।*
*भोत्ता संसारत्थो, सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई।।"*[6]

जीव अन्य द्रव्यों की तरह स्वतन्त्र है और अपने स्वातन्त्र्य को प्राप्त करना

उसका स्वभाव सिद्ध अधिकार है, पर उसका अज्ञान ही उसमें अपराधी है और जीव की यह अज्ञानमूलक दुर्बलता स्व-पर विवेक के बिना दूर नहीं हो सकती। अज्ञानता दूर होते ही जीव अपनी बन्ध दशा और उससे मुक्त होने के प्रश्न पर विचारता हुआ ज्ञानमय अर्थात्, पूर्ण स्वातन्त्र्य-सम्पन्न हो जाता है। इस बात को आचार्य अमृतचन्द्र इस प्रकार कहते हैं --

*"यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूतिः,*
*कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र।*
*स्वयमयमपराधी तन्नसर्पत्यबोधो,*
*भवतु विदितमस्तं यात्यबोधोऽस्मि बोधः।।"*[7]

जैन दर्शन में बन्ध का अर्थ 'जीव और कर्म का पारस्परिक बन्धन' माना गया है। ये मानते हैं "जीव और कर्म पुद्गल का अनादिकालीन सम्बन्ध ही बन्ध है और उसका वियोग मोक्ष।"[8] जैन दर्शन में कर्म-बन्ध के दो कारण बताये गये हैं --

1. शास्त्रीय
2. लौकिक

कर्मशास्त्र में बन्ध के कारणों की जो चर्चा है, वह शास्त्रीय प्रकार है। वहाँ कषाय और योग दो बन्ध के कारण माने गये हैं।"[9] जो इस प्रकार से हैं जैसा कि तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है -- "मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः।"[10]

**मिथ्या दर्शन**

अर्थात्, मिथ्या दृष्टि, विपरीत श्रद्धा। इसके कारण जीव आत्मदर्शन नहीं कर पाता और यह पर-पदार्थों में ही निरन्तर राग-बुद्धि या आत्म-बुद्धि रखता है। शरीर की उत्पत्ति को अपना जन्म मानता है, उसके विनाश को आत्म-नाश मानता है। वह और भी इस तरह की अनेक मूढ़ताएँ अपनाता है, भय, आशा और स्नेह से कुगुरु, कुदेव और कुशास्त्र की उपासना करता है। जाति, ज्ञान, कुल आदि के अहंकार में चूर रहता है, शंका, भोगेषणा, घृणा और द्वेष आदि कुवृत्तियाँ उसके जीवन को दूषित किये रहती हैं। ये सब मिथ्यादर्शन (आत्मस्वरूप की विस्मृति) का ही परिणाम है और कर्म-बन्ध का प्रमुख कारण है।

**अविरति**

जिसके कारण आत्मा जीव-हिंसा तथा इंद्रियभोग में आसक्त रहता है।

**प्रमाद**

अर्थात्, कर्तव्य कार्यों में आदर भाव न होना। जब आत्मा पंचेन्द्रिय विषयों में

आसक्त रहती है, क्रोध, मान, माया और लोभ की प्रवृत्ति करती है, निद्रा और प्रणय की दास रहती है।

**कषाय ( कसना )**

अर्थात्, जो आत्मा के परम शान्त स्वरूप का घात करे, उसे अशान्त और विकृत बनाये वह 'कषाय' है।

"लोकानुसरण करते हुए जैनागमों में राग-द्वेष और मोह को भी कषाय का कारण माना गया"[11] कषाय के चार भेद हैं -- क्रोध, मान, माया और लोभ। राग और द्वेष इन दोनों में उन चारों का समन्वय हो जाता है। राग में माया और लोभ तथा द्वेष में क्रोध और मान का समावेश है। इस राग-द्वेष के मूल में भी मोह है, यह बात अन्य दार्शनिकों के समान जैनागमों में भी स्वीकार की गई है।"[12]

इस प्रकार सारे दर्शन इस विषय में सहमत हैं कि मिथ्यात्व, मिथ्याज्ञान, मोह, विपर्यय, अविद्या आदि विविध नामों से विख्यात अनात्मा में आत्मबुद्धि ही बंध का कारण है। सभी दर्शनों की मान्यतानुसार इन कारणों का नाश होने से ही आत्मा को मोक्ष की सम्भावना होती है, अन्यथा नहीं। मुमुक्षु के लिये सर्वप्रथम कार्य यही है कि अनात्मा में आत्म बुद्धि का निराकरण किया जाय।

भगवान बुद्ध ने भी सांसारिक पदार्थों से आसक्ति हटाकर आत्म शान्ति-लाभ करने का उपदेश दिया है और यह भी कहा है --

*"अत्तदीपा-विहरथ अत्तसरण अन सरणां।"*

उन्होंने यह भी कहा है, कि निर्मोही ही अक्षय आध्यात्मिक सुख का अधिकारी होता है 'सुखमक्षयमश्नुते' और यह सुख बिना काम-सुख ( विषयसुख ) को छोड़े नहीं मिल सकता।[13] बौद्ध दर्शन में अनात्मा शब्द का अर्थ यह रहा है कि "पाँच स्कन्धों, बारह आयतनों तथा अठारह धातुओं में ऐसा कुछ नहीं है जिसे यह कहा जा सके यह 'मैं हूँ', यह मेरी 'आत्मा' है। "एतन्मम, एषोऽहमस्मि, एसो मे अत्ता।"[14] उन्होंने यह भी कहा साधक को जगत् के सम्बन्ध में यह भावना करनी चाहिये कि 'यह मेरा नहीं है', 'यह मैं नहीं हूँ, 'यह मेरी आत्मा नहीं है'। "नैतन्मम, नैषाऽहमस्मि, न मे सो अत्ता।" इस प्रकार चिन्तन करता हुआ वह निर्वेद को प्राप्त करेगा, निर्वेद से विराग को, विराग से प्रहाण होने पर दुःखरूप भव से तर जायेगा, विमुक्त हो जायेगा।[15]

आत्मा का परिपूर्ण सुख, भोगोपभोग में नहीं है, बल्कि भौतिक भोगों से विमुख होकर आत्मा के शुद्ध-बुद्ध आत्म-रमण में है। "भोगेषणा तो अमर और अनन्त है। ज्यों-ज्यों प्राणी भोगों का भोग करता है, तृष्णा और आकुलता उतनी ही अधिक वृद्धिगत होती जाती है। आत्मविवेक के द्वारा ही इस विषय की चाह को उपशान्त एवं उपक्षीण

किया जा सकता है।" कवि कहते हैं --

*"भोगन की अभिलाष हरन को, त्रिजग-संपदा थोरी।*
*यातैं ज्ञानानन्द 'दौल' अब, पियो पियूष-कटोरी।*
*मिटै भव-व्याधि कठोरी।।*
*मान ले या सिख मोरी,*
*झुकै मत भोगन ओरी।।"*[16]

कवि पुनः कहते हैं -- "आत्मन्, सोच लो" --

*"विषय भुजंग सेय दुःख पायो,*
*पुनि तिनसों लपटायो।*
*स्वपद विसार रच्यो परपद में,*
*मदरत ज्यों बौरायो।*
*तोहि समझायौ सौ-सौ बार,*
*जिया तोहिं समझायौ सौ-सौ बार।।"*

तू यह भी ध्यान न रख सका कि --

*"तन धन स्वजन नहीं हैं तेरे,*
*नाहक नेह लगायो।*
*क्यों न तजे भ्रम बाल-समामृत,*
*जो नित संत सुहायो।।*
*तोहि समझायो सौ-सौ बार,*
*जिया तोहि समझायो सौ-सौ बार।।"*[17]

पर आज के भौतिक युग में मानव ने अपने आत्मरूप को भुलाकर पर रूप से नाता जोड़ लिया है और इन्द्रिय विषयों का ईंधन जलाकर-चाह की अग्नि को बेहद बढ़ा लिया है फिर भी अपने आपको सुखी मान रहा है।

कवि मनुष्य की अज्ञानता को दूर करने की इच्छा से कहते हैं --

*"किंचित् विषयनि के सुख कारण,*
*दुर्लभ देह न खोय।*
*ऐसा अवसर फिर न मिलैगा,*
*इस नींदड़ी न सोय।*
*अज्ञानी पाप-धतूरा न बोय।।"*

मानव का कर्तव्य-निर्देश करते हुए कहते हैं --

*"इस विरियां में धर्म-कल्प-तरु,*

*सींघत स्याने लोय,*
*तू विष बोवन लागत तो सम,*
*और अभागा कोय।।*
*अज्ञानी पाप धतूरा न बोय।।"*[18]

पर संसारी मनुष्य अनादिकाल से अज्ञानी हो मोह में पड़ा हुआ है, इसी कारण उसे शुद्ध आत्म-स्वरूप की झलक नहीं मिल पाती। वह शरीर के अन्दर रहने वाले आत्मा और शरीर तथा अन्य बाह्य वैभव सामग्री का यथार्थ विवेक न करपाने के कारण अन्तर नहीं कर पाता और इन सब चीजों में अपनत्व मान बैठता है और आत्मा के वास्तविक स्वरूप को भूलकर बाह्य वस्तुओं में ही आत्मा के दर्शन करने लगता है। अतः कहता है--

*"मैं सुखी दुःखी मैं रंक राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव।*
*मेरे सुत तिय मैं सबल हीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीन।।"*[19]

काल-लब्धि आने पर उसे आत्मा का भान होता है -- आत्मा और उससे सम्बन्धित समस्त वस्तुओं की ठीक-ठीक जानकारी होती है। मोह मंद हो जाता है, उसकी अन्तरात्मा "स्व-पर-विवेक" उज्ज्वल ज्योति से आलोकित होने लगती है और वह अज्ञानावस्था में बीते क्षणों के लिये पश्चाताप करता हुआ दुःखित होने लगता है। ऐसा देख कवि कहते हैं --

"हे आत्मन् ! तुमने इतने दिन विवेक के बिना ही बिता दिये। तुम अनादि-काल से मोह रूपी मदिरा को पीकर चिरकाल तक 'पर-पद' में ही सोते रहे। अपने को भूलकर पर-वस्तु को ही आत्म-वस्तु समझते रहे। तुमने उस आत्म-पद की ओर ध्यान ही नहीं दिया, जो अनन्तगुणमय एवं चैतन्यपुंज है और अनन्त सुख की राशि है।"[20]

भोगों में लिप्त, विषयों का दास यह जीव कृत्रिम सुख की झलक देख अनात्मज्ञ-मस्त हो अपने आपको भूल जाता है, अर्थात्, अपने स्वाभाविक, प्राकृतिक ज्ञान, आनन्द, शक्ति तथा स्वरूप को विस्मृत कर बैठता है तथा विरुद्ध प्रवृत्ति करने के कारण दीन-हीन बनता है उसकी अवस्था बनारसीदास जी के शब्दों में बबूल के पत्ते जैसी हो जाती है।

*"फिर डांवाडोल सो, करम के कलोलनि में,*
*डूवरेही अवस्था बबूरले जैसे पात की।।"*[21]

प्रकृति भक्त कवि वर्ड्सवर्थ ने भी कुछ ऐसा ही कहा है --

"The world is too much with us late and soon, Getting and spending, we lay waste our powers little we see in Nature that is ours; We have given our hearts away, a sordid boon.[22]

वास्तव में यह आश्चर्य की बात प्रतीत होती है कि अनन्त सुखमय आत्मा अनात्म पदार्थों की ओर चक्कर मारती है अथवा दौड़-धूप के वैभाविक कार्य को स्वाभाविक मानती है और साधना के सच्चे मार्ग रूप अपने स्वरूप की उपलब्धि को भाररूप अनुभव करती है। स्वामी कुन्दकुन्द महाराज कहते हैं --

*"सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।*
*एयत्तस्सुवलम्भो णवरि ण सुलहो विभत्तस्स।।"*[23]

कर्म का भार हल्का होने पर जीव आत्मिक शांति का अनुभव करता है। संसार परिभ्रमण का कारण पूज्यपाद स्वामी की दृष्टि में शरीर में आत्मा की भावना करना है, इससे फिर कर्मों का बन्ध होता है पर आत्म-दृष्टि के वैभव से सम्पन्न साधक के पास किसी प्रकार की भीति नहीं रहती उसकी दृष्टि सदा अमर जीवन और अविनाशी आनन्द की ओर लगी रहती है। पर जिसे इस लोक-परलोक, मरण आदि की चिन्ता सताती है, वह साधना के मार्ग में नहीं चल सकता। आत्मा की दृढ़ता को गीता में भी ऐसा ही कहा है--

*"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।*
*न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।।"*[24]

भेद-विज्ञान-आत्मा में विवेक होने पर परमात्मा की आत्मीयता की ओर उसकी अडिग, अडोल श्रद्धा जाग्रत होती है वह आत्मा के सिवाय अन्य समस्त वस्तुओं को परकीय मानता है। उसमें कभी भी आत्मीय बुद्धि नहीं करता, संसार के रिश्ते-नाते सभी उसे उस अवस्था में मिथ्या प्रतीत होते हैं। और वह सोचता है --

*"हम न किसी के, कोई न हमारा,*
*झूठा है जग का व्योहारा।*
*तन सम्बन्धी सब परवारा,*
*सो तन हमने जाना न्यारा।।"*[25]

इसी तरह --

*"पुण्य उदय सुख का बढ़वारा,*
*पाप उदय दुख होत अपारा।*
*पाप पुण्य दोऊ संसारा,*
*मैं हू सब देखनहारा।।*
*हम न किसी के, कोई न हमारा,*
*झूठा है जग का व्योहारा।।"*[26]

व्यावहारिक जगत् में हम देखते हैं कि मनुष्य का यह स्वभाव रहता है कि वह

राग, स्नेह करने वाले को सज्जन मानता है और द्वेष रखने वाले को दुर्जन। पर निश्चय नय की दृष्टि से राग-द्वेष दोनों ही आत्मा की वस्तु नहीं हैं। ये सब अचेतन कर्म के विकृत भाव हैं।

अतः विवेकी आत्मा राग-द्वेष की परिणति से सदैव दूर रहती है और इन्हें सदा आत्मा से पृथक् रखती है। विवेकी, विशुद्ध अवस्था में ऐसा अनुभव नहीं करता है कि यह परमात्मा है, यह मेरी आत्मा है, इस प्रकार से कोई भी भेद बुद्धि उस अवस्था में शेष नहीं रह जाती।

"विशुद्ध आत्मानुभूति के क्षणों में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र जैसे आत्म-विकल्प भी शेष नहीं रह जाते हैं। उस समय तो चैतन्य अपनी विशुद्ध चैतन्य अवस्था में विद्यमान रहता है और पुद्गल अपने विशुद्ध पौद्गलिक स्वरूप में।"[27]

अतः कहा जा सकता है कि मानव के सम्पूर्ण अज्ञान का आधार उसकी अपनी भूल भरी, बहिर्मुखी मूढ़बुद्धि है। अपने को सुखी बनाने के लिये उसे शुद्धात्मानुभूति को साथ या सामने रखकर ही अग्रसर होना चाहिये। इसी में उसका कल्याण है।

## (ख) जैन दर्शन और योगशास्त्र

उमास्वामी ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को मोक्ष मार्ग कहा है, इसी को आचार्य हेमचन्द्र ने 'योग' कहा है। हरिभद्रसूरि के अभिमत में धर्ममात्र योग है। योग वह है जो मोक्ष से योग (सम्बन्ध) कराये। इससे भिन्न पातंजल योगसूत्र में योग का लक्षण है 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः'[28] चित्त चंचल है। मन, अहंकार और बुद्धि का समन्वित रूप सत्व, रजस, तमस रूप चित्त प्रकृति की उपज होने के कारण परिणमनशील है। उसमें अनेक परिणाम होते रहते हैं। चित्त के ज्ञान की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ या वृत्तियाँ हैं, जैसे प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति आदि। इनमें से प्रत्येक वृत्तियाँ क्लिष्ट और अक्लिष्ट हैं। क्लिष्ट वृत्ति अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश आदि क्लेशों से उत्पन्न है, वह रजस और तमस प्रधान है। अतः इस समय चित्त चंचल, व्यथित या किंकर्तव्यविमूढ़ रहता है परन्तु अक्लिष्ट वृत्ति उसके विपरीत है अतः चित्त शांत एवं स्थिर रहता है। चंचलता और स्थिरता के तारतम्य के आधार पर उसकी पाँच अवस्थाएँ हैं -- मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरोध।

1. मूढ़ -- तमोगुण की अधिकता के कारण आलस्य, निद्रा, तन्द्रा, भय, काम, क्रोध, लोभ एवं मोह से व्याप्त है।

2. क्षिप्त -- रजोगुण की प्रधानता के कारण चंचल है।

3. विक्षिप्त -- में सत्व गुण की प्रधानता होने पर भी रजस के कारण अस्थिर

चित्त बाह्य विषयों से प्रभावित होता है। अतः ये तीनों अवस्थाएँ स्थिरता रूप "योग" के लिये अयोग्य है। शेष दो अर्थात्, एकाग्र और निरोध योग के लिये योग्य अवस्थाएँ हैं।

4. एकाग्र -- अवस्था सत्व गुण प्रधान होने के कारण सुख-दुःख चांचल्य से तटस्थ चित्त की स्वाभाविक अवस्था है जिसे योग की भाषा में संप्रज्ञात समाधि भी कहा गया है और

5. निरोध -- अवस्था में पुरुष के स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठा होती है, वह योग की उच्च अवस्था है।

जैन दर्शन में योग के लिये कहा है --

*"कायवाङ्मनः कर्मयोगः।"*[29]

साथ ही जैन दर्शन के अयोग शब्द से पातंजल योग की समानता है -- जीव, मन, वचन और काय से सम्बन्धित योग व्यापार के त्याग से अयोगतत्त्व को प्राप्त होता है तथा अयोगी जीव नये कर्मों का बंध नहीं करता है और पूर्व बंधे कर्मों की निर्जरा करता है।

*"जोगपच्चक्खाणेणं अजोगत्तं जणयइ।*
*अजोगी णं जीवे नवं कम्मं न बंधइ।*
*पुव्वबद्धं निज्जरेइ।"*[30]

यहाँ अयोग शब्द कायवाणी के व्यापारों के साथ मन के भी व्यापारों के निरोध को सूचित करता है। इसी तरह संवर का अर्थ है आस्रव-निरोध। काय, वाक् और मन की क्रिया योग है और आस्रव साम्परायिक (सकषाय) और ईर्यापथिक (अकषाय) इन दो भागों में विभक्त है। इन दोनों विभागों को पातंजल योग की शब्दावली में क्लिष्ट और अक्लिष्ट कहा गया है। यद्यपि जैन योग में मन, काय और वाणी की क्रियाओं का भी समावेश होने के कारण इनका क्षेत्र अधिक व्यापक है, पर इनका स्वरूप एक सा है, क्योंकि योगशास्त्र के क्लेश पद से अभिप्रेत अर्थ को जैन दर्शन कषाय पद द्वारा अभिव्यक्त करता है, मिथ्यात्व, अविद्या के समकक्ष और क्रोध मान, माया एवं लोभ आदि कषाय पातंजलीय अस्मिता राग-द्वेष एवं अभिनिवेश आदि क्लेश के समकक्ष है। जैन योग भी पातंजलीय योग के समान सकषाय आस्रव के निरोध के बाद अंत में अकषाय योग के निरोध के क्रम को स्वीकार करता है। संवर और निर्जरा के स्वरूप को अपने में समाहित करने वाले तप-प्रत्यय को भी जिसके अंग, अष्टांग-योग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) के अंगों के साथ आश्चर्यजनक रूप से साम्य रखते हैं, जैन योग का सूचक माना जा सकता है।

"यद्यपि जैन आगमों में साधन के अर्थ में अध्यात्म के साथ योग शब्द का प्रयोग भी कहीं-कहीं हुआ है।"[31] पर इस सन्दर्भ में जैन साधना में योग शब्द का प्रयत्न सिर्फ आचार्य हरिभद्र ने किया है। इनकी दृष्टि में "मोक्षतत्त्व के साथ संयोग करने वाला धर्म

व्यापार जिसे हम मोक्षमार्ग कहते हैं, वह 'योग' है।"[32] जैन योग के स्वरूप को समझते समय यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि पातंजल योग की दृष्टि में चित्त प्रकृति की उपज है। अतः योग के लिये उसकी वृत्तियों का परिणमन का जो कि स्व से भिन्न है, निरोध अनिवार्य है पर जैन दर्शन के अनुसार मन के दो भाग हैं द्रव्य मन और भाव मन, ये क्रमशः पौद्गलिक, और आत्मरूप हैं। द्रव्यमन चूँकि पौद्गलिक है और व्यावहारिक जीवन के लिये भाव मन का एक सा धन मात्र है अतः उसका निरोध साधना की उच्च भूमिका में हो जाता है, पर आत्मरूप भाव का मन के लिये परिणमन सहज है क्योंकि वह उसका लक्षण या विशेषता है और यह परिणमन वैभाविक और स्वाभाविक दो रूपों में प्रकट होता है। अतः जैन योग के लिये कषायों या कर्मों से उत्पन्न आत्मिक परिणमन, जिसे वैभाविक परिणमन भी कहते हैं, निरोध अनिवार्य है न कि आत्मा के ज्ञान, दर्शन और आनन्द जैसे गुणों के स्वाभाविक परिणमन का। अतः जैन योग को हम अक्लिष्ट वृत्ति का निरोध या मोक्ष में हेतु भूत निरोध या कर्मों के निमित्त होने वाले आत्मिक प्रदेशों के कम्पनों का जिसमें कषाय एवं मन, वचन, काय की क्रियाएँ सम्मिलित हैं, निरोध कह सकते हैं। वैभाविक परिणमन से स्वाभाविक परिणमन की ओर आना योग है। जैसे -- मन को कहीं-कहीं चित्त के रूप में सम्बोधित किया गया है। मुनि विक्षिप्त चित्त से गोचरी न करे।

*"से गामे वा नगरे वा गोयरग्गओ मुणी।*
*थरे मन्दमणुव्विग्गो अव्वक्खित्तेण चेयसा।।"[33]*

इस उक्ति के अव्याक्षिप्त पद में पातंजलय का योग के चित्त को क्षिप्त और विक्षिप्त दोनों अवस्थाओं का संकेत है। मोह से जो आवृत्त हैं वे मूढ़ हैं, इसमें मूढ़ावस्था की अभिव्यक्ति हुई। एकाग्र मन-सन्निवेश से चित्त-निरोध होता है।

*"एगग्गमणसन्निवेसणयाए णं चित्तनिरोहं करेइ।"[34]*

इसमें एकाग्र और निरोध दोनों की अवस्थाएँ प्रतिबिम्बित हुई हैं। इन अवस्थाओं को आचार्य हेमचन्द्र ने विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट एवं सुलीन मन के रूप में व्यक्त किया है। प्रथम विक्षिप्त अत्यन्त चंचलता एवं बहिर्मुखता का द्योतक है, जबकि द्वितीय अन्तर्मुखता के साथ-साथ बहिर्मुखता का भी। तृतीय चित्तवृत्तियों के शांत होने के आन्तरिक शांति का प्रारम्भ बिन्दु है जबकि चतुर्थ मन के अपने ध्येय में स्थित हो जाने के कारण प्राप्त स्थिरता का चरमोत्कर्ष है --

*"श्लिष्टं स्थिरं सानन्दं सुलीनमतिनिश्चलं परानन्दम्।"[35]*

स्पष्ट है कि एकाग्र और निरुद्ध अवस्थाएँ या श्लिष्ट एवं सुलीन मन जो कि आत्माभिमुखता के संकेत हैं, योग के लिये उपयुक्त हैं।

इन सब थोड़े बहुत अन्तर के वावजूद तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर पातंजल

योग और जैन योग विचारणा में निम्नलिखित समानताएँ पायी जाती हैं --

*(1) यम*

पातंजल योग में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को पाँच यमों के नाम से पुकारा गया है। जैन दर्शन में इन पाँचों यमों को पंच-महाव्रत कहा गया है।

*(2) नियम*

पातंजल योग में नियम पाँच माने गये हैं जैसे- शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान। जैन दर्शन से तुलना करने पर हम देखते हैं कि यहाँ नियम के स्थान पर योग-संग्रह का विवेचन उपलब्ध है। जैन आगम समवायांग में निम्न 32 योग-संग्रह माने गये हैं --

**आलोचना** -- व्रत-शुद्धि के लिए अपने किय हुए पापों को गुरुजनों के आगे आलोचना करना, **निरपलाप** -- शिष्य के दोषों को आचार्य किसी के आगे न कहे। **आपत्सुदृढ़धर्मता** -- कष्ट प्राप्ति होने पर भी दृढ़ रहना, **अनिश्रितोपधान** -- किसी आश्रय की अपेक्षा न करते हुए तप करना, **शिक्षा-ग्रहण** -- शिक्षा और आसेवन शिक्षा का पालन करना, **निष्प्रतिकर्मता** -- शरीर का श्रृंगारादि न करे, **अज्ञातता** -- पूजा आदि के लिए अपने तप को प्रकट न करना, **अलोभता** -- लोभपरित्याग, **तितिक्षा** -- भूख-प्यास आदि परिषहों को सहन करना, **आर्जव** -- अपने व्यवहार को निश्छल एवं सरल रखना, **शुचि** -- सत्याचरण का पालन करना, **सम्यग्दृष्टि** -- सम्यग्दर्शन को शंका-कांक्षादि दोषों को दूर करते हुए पवित्र रखना, **समाधि** -- चित्त को संकल्प-विकल्पों से रहित करना, **आचारोपगत** -- अपने आचरण को माया आदि दोषों से रहित करना, **विनयोपगत** -- विनयशील होना, **धृतिमति** -- अपनी बुद्धि में धैर्य रखना, दीनता न करना, **संवेग** -- संसार से भयभीत होकर मोक्ष की अभिलाषा करना, **प्रणिधि** -- माया-शल्य न रखना, **सुविधि** -- सुविधिसदनुष्ठान अर्थात्, सम्यक् परिपालन करना, **संवर** -- कर्मों के आने के द्वारों का निरोध करना, **आत्मदोषोपसंहार** -- दोषों का निरोध करना, **सर्वकामविरक्तता**-- सब विषयों से विरक्त रहना, **मूलगुणप्रत्याख्यान** -- अहिंसादि मूलगुण-विषयक प्रत्याख्यान करना, **उत्तरगुणप्रत्याख्यान** -- इन्द्रियनिरोध आदि उत्तर गुणो का शुद्ध पालन करना, **व्युत्सर्ग** -- वस्त्र-पात्र आदि बाहरी उपाधि और मूर्च्छा आदि आभ्यन्तर उपाधि का परित्याग करना, **अप्रमाद** -- दैवसिक और रात्रिक आवश्यकों के पालन आदि में प्रमाद न करना, **लवालव** -- प्रतिक्षण सामाचारी के परिपालन में सावधान रहना, **ध्यान-संवरयोग**-- धर्म और शुक्लध्यान की प्राप्ति के लिये आस्रव-द्वारों का संवर करना, **मारणान्तिक** -- कर्मोदय के क्षय होने पर भी क्षोभ न करना, **संग-परिज्ञा** -- संग (परिग्रह) परित्याग करना, **प्रायश्चित्तकरण** -- अपने दोषों की शुद्धि के लिये प्रायश्चित्त करना, **मारणान्तिक-आराधना** -- मरते समय संलेखनापूर्वक ज्ञान, दर्शन, चरित्र और तप

की विशिष्ट आराधना करना।

*(3) आसन*

योग दर्शन में योग का तीसरा अंग आसन माना गया है। आसन स्थिर एवं सुख देने वाले बैठने के प्रकार विशेष को कहा गया है। जैन परम्परा में बाह्य तप के पाँचवे काय क्लेश में आसनों का भी समावेश है। औपपातिक सूत्र एवं दशाश्रुत-स्कंध-सूत्र में वीरासन, वज्रासन, भद्रासन, गोदोहासन सुखासन आदि अनेक आसनों का विवेचन उपलब्ध है। इस प्रकार आसन को भी जैन परम्परा में साधना क एक अंग माना गया है।

*(4) प्राणायाम*

प्राणायाम योग का चौथा अंग है। प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान ये पाँच प्राण वायु माने गये हैं। इन पर विजय प्राप्त करने का नाम 'प्राणायाम' है। इसके रेचक, पूरक और कुम्भक ऐसे तीन भेद हैं। जैन आगमों में प्राणायाम सम्बन्धी कोई विवेचना उपलब्ध नहीं है। यद्यपि आचार्य शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव और आचार्य हेमचन्द्र के योग शास्त्र में इनका सविस्तार विवेचन उपलब्ध है।

*(5) प्रत्याहार*

प्रत्याहार इन्द्रियों की बहिर्मुखता को समाप्त कर उन्हें अन्तर्मुख करना है। जैन दर्शन में प्रत्याहार के स्थान पर प्रतिसंलीनता शब्द का प्रयोग हुआ है। जो कि चार प्रकार की मानी गई है --

1. इन्द्रिय,
2. कषाय,
3. योग एवं
4. विविक्तशयनासन सेवनता।

इस प्रकार योगदर्शन के प्रत्याहार का समावेश जैन दर्शन की प्रतिसंलीनता की धारणा में हो जाता है।

*(6) धारणा*

योग का छठा अंग धारणा है। चित्त की एकाग्रता के लिये उसे किसी एक स्थान विशेष पर केन्द्रित कर देना धारणा है। धारणा का विषय प्रथम स्थूल होता है जो क्रमशः सूक्ष्म और आगे सूक्ष्मतर बनता चला जाता है। जैन आगमों में धारणा का स्वतन्त्र रूप में विवेचन नहीं मिलता, यद्यपि उसका विवेचन ध्यान के एक अंग के रूप में अवश्य हुआ है। जैन परम्परा में ध्यान में नासिकाग्र दृष्टि रखने का विधान है। दशाश्रुतस्कंधसूत्र में श्रमण प्रतिमाओं का विवेचन करते हुए एक पुद्गल निविष्टदृष्टि का विधान किया गया है।

*(7) ध्यान*

ध्यान योग का आठवाँ अंग है। ध्यान का अर्थ होता है -- ध्येय अथवा ध्यान के विषय पर लगातार मनन और चिन्तन करना। इस अवस्था में चित्त एक विषय में स्थिर रहता है केवल जैन परम्परा में भी ध्यान का अर्थ चित्तवृत्तियों को स्थिर करना ही है।

*(8) समाधि*

समाधि योग का अन्तिम चरण है। चित्तवृत्ति का स्थिर हो जाना या उसका क्षय हो जाना ही समाधि है। जैन परम्परा में समाधि शब्द का प्रयोग तो बहुलता से हुआ है लेकिन उसमें इसे ध्यान से पृथक् नहीं माना गया है । जैन दर्शन में धारणा, ध्यान और समाधि ये तीनों ध्यान में ही समाविष्ट माने गये हैं। जैन दर्शन के शुक्ल ध्यान की व्यवस्थाएँ समाधि के समकक्ष हैं। समाधि के दो विभाग किये गये हैं --

1. सम्प्रज्ञात समाधि और
2. असम्प्रज्ञात समाधि।

सम्प्रज्ञात समाधि शुक्ल ध्यान के प्रथम दो प्रकार पृथकत्व वितर्क, सविचार और एकत्व वितर्क अविचार के समकक्ष है और असंप्रज्ञात समाधि का अर्न्तभाव शुक्ल ध्यानत्व के अंन्तिम दो प्रकार सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती और समुच्छिन्नक्रिया निवृत्ति में हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अष्टांग योग में केवल प्राणायाम को छोड़कर शेष सभी का जैन आगमों में विवेचन है। जैन परम्परा में योग की अष्टांग व्यवस्था नहीं है। यहाँ हरिभद्रसूरि ने योग के पाँच प्रकार बताये हैं --

1. स्थान -- कायोत्सर्ग, पर्यंक, पद्मासन आदि आसन।
2. ऊर्ण-वर्ण -- शब्द का उच्चारण, मंत्र, जप आदि।
3. अर्थ -- नेत्र आदि का वाच्यार्थ।
4. आलम्बन -- द्रव्य में मन को केन्द्रित करना।
5. रहित -- निरालम्ब या निर्विकल्प चिन्मात्र समाधिरूप।[36]

इनमें से प्रथम दो को कर्मयोग और शेष तीनों को ज्ञानयोग कहा गया है।

जैन योग और पातंजल योग के प्रकार बहुत कुछ एक से हैं। हरिभद्रसूरि ने योग की जो पंचांग व्यवस्था की है, वह तो नवीन है। प्राचीन व्यवस्था द्वादशांग की है जिसे तप कहते हैं। तप के 12 (द्वादश) अंग हैं। द्वादशांग योग-जैनागम में --

*"अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेश बाह्यं तपः ।।"*[37]

इन बारह भेदों में विभक्त तपयोग की द्वादशांग व्यवस्था पायी जाती है --

अनशन -- सब प्रकार के आहार का अल्पकालीन या दीर्घकालीन त्याग

अनशन है।

**अवमोदर्य** -- भूख से कम खाना अवमोदर्य है।

**वृत्तिपरिसंख्यान** -- भिक्षाटन के नियमों का पालन करते हुए भिक्षान्न द्वारा जीवनयापन करना 'वृत्तिपरिसंख्यान' है। ऐसा करना आत्मपीडन नहीं बल्कि देह को प्रशिक्षित करना, देह से ममत्व हटाना है। जितना अधिक शरीर में भोजन होता है उतना ही शरीर के साथ सम्बन्ध होता है, प्रमाद एवं मूर्च्छा गहन होती है मूर्च्छा को तोड़ना साधना का प्रथम संकल्प है --

(क) **"आहारपच्चक्खाणेणं जीवियासंसप्पओगं वोच्छिन्दइ।"**[38]

(ख) **"विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।"**[39]

वीरासन, भद्रासन आदि आसनों का संपादन काय-क्लेश है।

***"ठाणा वीरासणाईया जीवस्स उ सुहावहा।***
***उग्गा जहा धरिज्जंति कायकिलेसं तमाहियं।।"***[40]

ये चारों तप शरीर को प्रशिक्षित कर उसकी शुद्धि करते हैं।

**रसपरित्याग** -- सामान्य रूप से सभी इन्द्रियों से प्राप्त सुख का त्याग।

**संलीनता** -- एकांतवास और इन्द्रिय-भोगों का त्याग 'संलीनता' है।

**प्रायश्चित्त** -- अपने दोषों को स्वीकार कर विनय और अहंकार का त्याग होता है।

**स्वाध्याय** -- अर्थात्, सतशास्त्र या आत्मा के स्वरूप का चिन्तन। स्वाध्याय से अज्ञान एवं क्लेश की निवृत्ति होती है।

***"सुयस्स आराहणयाए अन्नाणंखवेइ, न य संकिलिस्सइ।"***[41]

ये तीनों तप मन की शुद्धि करते हैं। कायोत्सर्ग शरीर के ममत्व का त्याग है तो ध्यान मन की स्थिरता है। इस प्रकार ये दोनों तप आत्मा को शरीर और मन के क्षेत्र से परे पहुँचाते हैं।

जबकि पातंजल योग में आठ में से पाँच अर्थात्, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार को बहिरंग के रूप में और तीन अर्थात्, धारणा, ध्यान समाधि को अन्तरंग के रूप में स्वीकार किया गया है।

***"तदेतत् धारणा ध्यानं समाधित्रयं अन्तरंगम्।***
***सप्रशान्तस्य समाधिः पूर्वेभ्यो यमादिसाधनेभ्यः इति।"***[42]

इसी तरह से जैन योग में छः प्रकारों को बाह्य और छः को आभ्यन्तर कहा है।

*"पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।*
*झाणं च विउस्सग्गो एसो अब्भंतरो तवो।"[43]*
*अणसणमूणोयरिया भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।*
*कायकिलेसो संलीणयाय बज्झो तवो होइ।।"[44]*

**चतुरायामी योग**

चित्त की प्रसन्नता में बाधक न होने वाला तप ही योगमार्ग में स्वीकृत है, इसी प्रकार जैन योग में भी अन्तः तप के लिये बाह्यतप का मूल्य स्वीकारा गया है --

*"तावन्मात्रमेव तपश्चरणीयं न यावता धातुवैषम्यमापादयेत्।"[45]*
*"बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरध्वमाध्यात्मिकस्यतपसः परिबृंहणार्थम्।"[46]*

पातंजल योग में तप और स्वाध्याय तो क्रियायोग के अंग हैं और ध्यान आदि अष्टांग योग के अंग हैं, जबकि जैनयोग में स्वाध्याय, ध्यान आदि तपयोग के अंग है, इस तरह की और भी समानताएँ हैं, जैसे -- कायक्लेश में पातंजलयोग के आसन की, रसपरित्याग एवं प्रतिसंलीनता में पातंजलयोग के प्रत्याहार की, कायोत्सर्ग में पातंजल योग के प्राणायाम की, ध्यान में पातंजल योग के ध्यान एवं समाधि की।

**चतुरायामी योग**

**आस्रव** के भेद हैं -- अव्रत, कषाय, इन्द्रिय-व्यापार और क्रियासाम्परायिक (सकषाय)।

*"अव्रतकषायेन्द्रियक्रिया।"[47]*

**संवर** के भेद हैं -- व्रत, सकषाय, इन्द्रिय-व्यापार निरोध और अक्रियत्व (अयोगत्व)। इस संवर में अन्तर्निहित व्रत के साथ पातंजल योग के यम का इन्द्रिय, व्यापार-निरोध के साथ-प्रत्याहार का, अक्रियत्व के साथ-समाधि का साम्य है।

**द्विआयामी योग**

जैन योग में गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और चारित्र रूप संवर के भेद बताये गये हैं। पातंजल योग के योग-लक्षण में अन्तर्भूत सत्प्रवृत्ति, एकाग्रता और निरोध ये तीनों रूप जैनीय समिति और गुप्ति में समाविष्ट हैं। समिति सत्प्रवृत्ति की, और गुप्ति मन की एकाग्रता व निरोध को बताती है।

**त्रिआयामी योग**

जैन योग में सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र मोक्ष के मार्ग बताये गये हैं। मोक्षमार्ग की व्याख्या योग के रूप में भी हुई है।

अतः ये तीनों योग त्रि-आयामी के रूप में देखे जा सकते हैं --

*"सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।"*[48]

"योगवासिष्ठ में भी ज्ञान एवं प्राणसंरोधरूप-कर्म को योग पद से व्यक्त किया गया है।"[49]

**सम्यक् दर्शन** -- जैन योग में सात तत्त्वों ( जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष ) का या आत्म-स्वरूप की ओर उन्मुखता को सम्यग्दर्शन कहा गया है --

*"दर्शनमात्माविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।*
*स्थितिरात्मनि चारित्रं... ।।"*[50]

अतः प्रथम निश्चय सम्यक्-दर्शन है और द्वितीय व्यवहार सम्यक्-दर्शन है और दोनों में व्यवहारतः निमित्त होने के कारण देव, गुरु व शास्त्रविषयक श्रद्धा को भी व्यावहारिक सम्यक्-दर्शन कहा गया है। देवविषयक सम्यक्-दर्शन के साथ पातंजलयोग ईश्वर के प्रणिधान की कुछ सीमा तक समानता है। पातंजल योग में ईश्वर को नित्य मुक्त, सर्वज्ञ, पुरुषविशेष एवं विघ्नों को हरने वाले के रूप में स्वीकारा गया है। जबकि जैनयोग में सिद्ध आत्माएँ पूर्वबद्ध एवं बाद में मुक्त हुईं सर्वत्र आत्माएँ हैं, जो विधेयात्मक रूप से साधक के लिए कुछ नहीं करतीं पर मनोवैज्ञानिक रूप से साधक की आत्मनिष्ठता के कारण आध्यात्मिक विकास में प्रेरणा का स्रोत बन सकती है।

दोनों योगों के अनुसार एवं किसी भी रूप में ईश्वर जीवन का लक्ष्य न होने के कारण सिद्ध भक्ति या ईश्वर-प्रणिधान तब तक उपयोगी है जब तक आत्मा की अपने आप में अवस्थिति न हो जाय। योगसूत्र पर लिखित मणिप्रभावृत्ति में निष्काम कर्म के लिये कहा गया है --

*"फलाभिसंधिं विना कृतानां कर्मणां परमगुणावीश्वरे समर्पणमीश्वरप्रणिधानम्।"*[51]

जैन योग में -- ईश्वरार्पण की विचारणा न होने पर भी सम्यक्-दर्शन पर आधारित निष्काम कर्म की धारणा उपलब्ध है क्योंकि कहा गया है कि सम्यक् दर्शन से शुद्ध हुआ पुरुषार्थ बन्धन का कारण नहीं है।

*"जे या बुद्धा महाभागा वीरा सम्यत्तदंसिणों।*
*असुद्धतेसिं परक्कंत सफलं होइ सव्वसो असमत्तदंसिणो।।"*[52]

**सम्यक् ज्ञान** -- वीतरागप्रणीत तथा तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप वाले शास्त्रों का श्रवण, मनन, पठन-पाठन करना व्यवहार सम्यक् ज्ञान है, जबकि आत्मा के स्वतः सिद्ध स्वरूप का ज्ञान निश्चय सम्यग्ज्ञान है।

**सम्यक् चारित्र** -- अणुव्रत, महाव्रत, समिति, गुप्ति, धर्म और तप में प्रवृत्ति व्यवहार चारित्र है तथा आत्मा स्वरूप में हीनता एवं क्रोधादि विकारों की क्षीणता निश्चय

चारित्र है। दोनों ही मोक्ष प्राप्ति के लिये उपयोगी हैं। तत्त्वार्थसार में कहा भी है --

*"निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गः द्विधा स्थितः।*
*तत्राद्यः साध्यरूपः स्यात् द्वितीयस्तस्य साधनम्।।"*[53]

महर्षि पतंजलि ने अणुव्रत के अहिंसा के लिये कहा है कि--

*"अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।"*[54]

उन्होंने इस प्रकार की सिद्धि उन लोगों के लिये कही है जो योगाभ्यास द्वारा ईश्वर की प्राप्ति करना चाहते हैं।

इन तीनों का आत्मा के क्षेत्र में समुचित प्रशिक्षण अनिवार्य है। वे कहते हैं कि, सम्यक्त्व बिना ज्ञान नहीं, ज्ञान बिना चारित्र नहीं और फिर चारित्र बिना मोक्ष नहीं।

*"नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुन्ति चरणगुणा।"*[55]

ज्ञान, दर्शन और चारित्र का समन्वयात्मक रूप ही मोक्ष का मार्ग है। इसी चारित्र और ज्ञान में अष्टांग योग का समावेश होता है।

## ( ग ) पंच-महाव्रत

विश्व के समस्त धर्मों में जैन धर्म एक विशेष महत्त्व रखता है क्योंकि यह आत्म-धर्म है। इसके सिद्धान्त उदार, सार्वभौमिक, सार्वदायिक और सर्व-हितकारी हैं। इस धर्म की आधारशिला न ईश्वर है और न कोई व्यक्ति विशेष। इसकी आधारशिला वीतरागता अर्थात्, अध्यात्म है। यही एक शान्ति का मार्ग है। जैन धर्म ने आत्मा को अजर-अमर माना है, अर्थात् आत्मा कभी न तो मरती है और न जीती है। यह अनन्त ज्ञान और दर्शन का पुंज है, वह निरंजन निराकार है और चैतन्य का अखण्ड पिण्ड है जिसमें शाश्वत शान्ति और सुख का निवास है।

प्राचीन भारत में मानव आध्यात्मिक शान्ति के बल पर सुख ही प्राप्त करना चाहता था, उसके सामने भौतिक सुख नगण्य थे। अतः संत-महात्मा स्वयं के जीवन में इस आध्यात्मिक शान्ति की प्राप्ति के लिये संयम, त्याग और तप को स्थान देते थे और उसी पर विश्व के समस्त प्राणियों को चलाने का प्रयत्न करते थे, ये जानकर कि सुख का मार्ग व्रत और संयम में है तथा संयम और व्रत ही जीवन है।

जैन धर्म में पंच महाव्रत का एक विशेष महत्त्व है। "व्रत का अर्थ होता है दृढ़ प्रतिज्ञ होना" यह पूर्ण रूप से तय कर लेना चाहिए कि चरित्र को उन्नत करना है।[56] साथ ही यह व्रत भी लेना चाहिए कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य का समान रूप से पालन करना है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पाँच पाप हैं। इनसे विरत होने को आचार्यों ने व्रत कहा है जैसे --

*"हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।"*[57]

व्रत के दो पहलू हैं -- 1. प्रवृत्ति और 2. निवृत्ति।

सत्कार्य में प्रवृत्ति होने रूप व्रत का अर्थ है -- उसके विरोधी असत्कार्यों से पहले निवृत्त हो जाना, यह अपने आप होता है।

इसी तरह असत्कार्यों से निवृत्त होने का अर्थ है उसके विरोधी सत्कार्यों में मन, वचन और काय की प्रवृत्ति करना, यह भी स्वतः प्राप्त होता है।

व्रत के दो भेद हैं --

*"देशसर्वतोऽणुमहती।"*[58]

1. महाव्रत (सर्वांश में विरति) -- हिंसा आदि दोषों से मन, वचन और काय द्वारा हर तरह से छूट जाना महाव्रत है।

2. अणुव्रत (अल्प अंश में विरति) -- अणु का अर्थ होता है लघु या छोटा। अर्थात्, जो स्थूल रूप से पाँच पापों का त्याग करना 'अणुव्रत' है।

*"हिंसायामनृतेस्तेये मैथुने च परिग्रहे।*
*विरतिर्व्रतमित्युक्तं सर्वसत्वानुकम्पकैः।।"*[59]

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पाँच पाप हैं, इनसे विरत होने को दयालु आचार्यों ने व्रत कहा है। अणुव्रत पाँच हैं --

1. अहिंसाणुव्रत -- अहिंसा का अर्थ है "जीवों की हिंसा न करना।" अर्थात्, जीवों की हिंसा से विरत होना 'अहिंसाणुव्रत' है। भगवान महावीर ने अहिंसा को परमधर्म घोषित करते हुए अहिंसात्मक आचरण पर विशेष बल दिया। जैन आचरण छुआ-छूत मूलक न होकर जिसमें हिंसा न हो या कम से कम हिंसा हो, के आधार पर निश्चित किया गया है। पानी छानकर काम में लेना, रात्रि में भोजन न करना, मद्य-मांसादि का सेवन न करना आदि समस्त आचरण यहाँ अहिंसा को लक्ष्य में रखकर अपनाये गये हैं -- हिंसा के दो प्रकार बताये गये हैं -- 1. भाव हिंसा और 2. द्रव्य हिंसा।

रागादि भावों के उत्पन्न होने पर आत्मा के उपयोग की शुद्धता का घात होना "भावहिंसा" है और रागादि भाव जिसमें निमित्त हैं, ऐसे अपने और पराये द्रव्य प्राणों का घात होना द्रव्यहिंसा है। आचार्य उमास्वामी ने कहा है कि --

*"प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा"*[60]

किसी को सताना, दुःख देना आदि में हिंसा के साथ ही उसमें प्रमाद का भी संयोग रहता है, अतः प्रमाद के योग से प्राणियों के द्रव्य और भाव प्राणों के घात होने को हिंसा कहा जाएगा। यहाँ प्रमत्त योग का अभिप्राय राग-द्वेष रूप प्रवृत्ति से है। प्रमत्त योग

को कारण कहा गया है और प्राणों के विनाश को कार्य।" प्रमत्तयोग के होने पर द्रव्य प्राणों के विनाश का होना नियमित नहीं है।" हिंसा के अन्य निमित्त भी हो सकते हैं, पर प्रमत्त योग से भाव प्राणों का विनाश होता है और भाव प्राणों का विनाश ही यथार्थ में हिंसा है।"[61] जैसे -- किसी जीव को मरते हुए देखकर जो दर्शक प्रसन्नता का अनुभव करते हैं, वे सभी उस हिंसा के फल के भागी होते हैं। इसी प्रकार संग्राम आदि में हिंसा करने वाले तो अनेक होते हैं, पर आदेश देने वाला अकेला राजा ही होता है, अतः फल का भागी भी वही होता है।

*"एकः करोति हिंसां भवन्ति फलभागिनो बहवः।*
*बहवो विदधति हिंसां हिंसाफलभुग्भवत्येकः।।"*[62]

अर्थात्, एक पुरुष हिंसा करता है, परन्तु फल भोगने के भागी बहुत होते हैं। इसी प्रकार किसी हिंसा को अनेक लोग करते हैं परन्तु हिंसा के फल का भोक्ता आज्ञा देने वाला पुरुष ही होता है। इसी प्रकार यदि कोई जीव किसी जीव की बुराई करने का यत्न कर रहा हो, पर उस जीव के पुण्य से बुराई की जगह भलाई हो जाय, तो भी बुराई का यत्न करने वाला उसके फल का भागी होगा। इसी प्रकार यदि कोई डॉक्टर किसी रोगी को निरोग करने के लिये ऑपरेशन कर रहा हो और कदाचित् वह रोगी मर जाये तो डॉक्टर अहिंसा के ही फल को भोगेगा।

*"मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा*
*पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्ते समिदस्स।।"*[63]

अर्थात्, जीव का घात हो या न हो असावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करने वाले के हिंसा होती निश्चित है, पर सावधानीपूर्वक प्रवृत्ति करने वाले साधु के कदाचित् प्राणाघात होते हुए भी हिंसा निमित्तक बन्ध नहीं होता। इसी तरह कैसी भी राग-द्वेष की प्रवृत्ति हो, हिंसा है और निवृत्ति अहिंसा है।

*"राग-द्वेषौ प्रवृत्तिः स्यान्निवृत्तिस्तन्निषेधनम्।*
*तौ च बाह्यार्थसम्बद्धौ तस्मात्तांश्च परित्यजेत्।।"*[64]

राग और द्वेष का नाम प्रवृत्ति और इन दोनों के अभाव का नाम ही निवृत्ति है। चूँकि वे दोनों बाह्य वस्तुओं से सम्बन्ध रखते हैं, अतएव इन बाह्य वस्तुओं का ही परित्याग करना चाहिये।

आत्मा में रागादि भावों का उत्पन्न होना ही हिंसा है और रागादि भावों की उत्पत्ति होना ही अहिंसा है, ऐसा जैनाचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नामक ग्रन्थ में लिखा है --

*"अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति,*
*तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ।।"*[65]

जहाँ राग-द्वेष हैं, वहाँ हिंसा अवश्य है। वास्तव में न तो संसार में कोई इष्ट है न अनिष्ट, न योग्य है न अयोग्य। मनुष्य का राग-द्वेष ही संसार को इष्ट-अनिष्ट रूप में दिखाता है, अतः उसका त्याग आवश्यक है।

व्रती अर्थात्, महाव्रती हो या अणुव्रती दोनों ही त्याग करते हैं पर दोनों के त्याग में अन्तर होता है। महाव्रती (मुनि) हिंसा का पूर्ण त्यागी होता है, जबकि अणुव्रती (गृहस्थ) अहिंसा का आंशिक रूप से पालन करता है। साधु या मुनि मन, वचन, काय से किसी भी प्राणी की चाहे वह त्रस (दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पाँच इन्द्रिय जीव) हो या स्थावर (एकेन्द्रिय जीव) का भाव में या स्वप्न में या यथार्थ में न तो हिंसा करता है और न किसी से करवाता है और न करने वालों का समर्थन करता है।

*"वाक्चित्ततनुभिर्यत्र न स्वप्नेऽपि प्रवर्त्तते।*
*वारिस्थितरागिणां घातस्तदाद्यं व्रतमीरितम् ।।"*[66]

जिसमें वचन, मन, काय से त्रस और स्थावर जीवों का घात स्वप्न में भी न हो, उसे अहिंसा महाव्रत कहा है।

"इस प्रकार वह हिंसा का, तीन योग -- मन, वचन और काय तथा तीन कारण-- स्वयं करना, करवाना और अनुमोदन, सभी का त्याग करता है, उसका यह त्याग 'सर्वविरति' कहलाता है। श्रावक इस प्रकार का त्याग नहीं कर सकता, वह केवल त्रस प्राणियों की हिंसा से विरत होता है।"[67] विवेकपूर्वक पूर्ण सावधानी रखते हुए कार्य करने पर भी किसी की हिंसा हो जाये तो श्रावक का अहिंसाव्रत भंग नहीं होता। अहिंसा की रक्षा के लिये विवेकशीलता अर्थात्, विचारों में सूक्ष्मता (सावधानी) गम्भीरता एवं यथार्थता तथा दृष्टि की विशालता अगूढ़ता एवं निष्पक्षता आदि अनिवार्य हैं। अहिंसा ही मानव की अन्याय और अत्याचार से रक्षा कर सकती है, यही विश्व के लिये सुखदायी है। अतः जैन धर्मामृत में कहा गया है --

*"मातेव सर्वभूतानामहिंसा हितकारिणी।*
*अहिंसेव हि संसारमरावमृतसारणिः ।।"*[68]

अर्थात्, अहिंसा ही माता के समान सर्व प्राणियों का हित करने वाली है और अहिंसा ही संसाररूप मरुस्थली में अमृत को बढ़ाने वाली नहर है। इसी तरह --

*"अहिंसा दुःखदावाग्नि प्रावृषेण्यघनावली।*
*भवभ्रमस्मार्त्तानामहिंसा परमौषधिः ।"*[69]

अर्थात्, अहिंसा ही दुःखरूपी दावाग्नि को हरने वाली वर्षा के समान है और अहिंसा ही संसार भ्रमणरूप रोग से पीड़ित प्राणियों के लिये परमौषधि है।

हिंसा और अहिंसा का स्पष्टीकरण करते हुए जैनाचार्यों ने हिंसा का वर्गीकरण चार रूपों में किया है।

1. संकल्पी हिंसा
2. उद्योगी हिंसा
3. आरम्भी हिंसा और
4. विरोधी हिंसा।[70]

1. **संकल्पी हिंसा** -- निर्दोष जीव का जानबूझकर वध करना 'संकल्पी हिंसा' है।

2. **उद्योगी हिंसा** -- जीविका सम्पादन के लिये कृषि, व्यापार, नौकरी आदि कार्यों द्वारा होने वाली हिंसा 'उद्योगी हिंसा' है।

3. **आरम्भी हिंसा** -- सावधानी से भोजन बनाने, जल भरने आदि कार्यों में होने वाली हिंसा 'आरम्भी हिंसा' है।

4. **विरोधी हिंसा** -- अपनी या दूसरों की रक्षा के लिये की जाने वाली हिंसा 'विरोधी हिंसा' कहलाती है।

श्रावक संकल्पी हिंसा का सर्वथा त्यागी होता है। विरोधी, उद्योगी और आरम्भी हिंसाएँ तो श्रावक के जीवन में विद्यमान रहती हैं फिर भी वह उनसे बचने का पूरा प्रयत्न करता है।

"अहिंसाणुव्रत धारी जीव त्रस हिंसा का त्याग तो करता ही है, साथ ही स्थावर-प्राणियों की हिंसा का भी यथाशक्ति त्याग करता है।"[71] इस व्रत की शुद्धि के लिये निम्नांकित दोषों का भी त्याग अपेक्षित है --

1. बंध
2. वध
3. छविच्छेद
4. अतिभार
5. अन्न-पान निरोध।

त्रस प्राणियों को कठिन बंध से बाँधना, गरीबों से या मजदूरों से आवश्यकता से अधिक काम करवाना, इसे 'बंध' कहते हैं। इसी तरह त्रस अर्थात्, दो, तीन, चार, पाँच इन्द्रियों वाले जीवों को मारना, घात करना, पीटना, 'वध' कहलाता है। किसी जीव का

अंग-भंग करना 'छविच्छेद' है। नौकर, मजदूर, पशुओं पर आवश्यकता से अधिक बोझ लादना 'अतिभार' है। जो प्राणी अपने ऊपर आश्रित हो उसे वेतन न देना, भोजन-पानी समय पर न देना या अल्प मात्रा में देना, 'अन्न-पान निरोध' है।

अहिंसाणुव्रत की रक्षा के लिये पाँच भावनाओं का पालन भी आवश्यक होता है--

1. वचन की प्रवृत्ति को रोकना।
2. मन की प्रवृत्ति को रोकना।
3. सावधानीपूर्वक देखकर चलना।
4. सावधानीपूर्वक देखकर वस्तु को उठाना और रखना और
5. दिन में अच्छी तरह देख-भाल कर आहार-पानी को ग्रहण करना।

तीर्थंकर महावीर ने एक स्थल पर कहा है -- "जीवों की हिंसा एक प्रकार की चोरी (अदत्ता-दान) है, जो मनुष्य अपने सुख की तरह दूसरों के सुख का भी ध्यान रखता है, वह हिंसा के कुकर्मों से बच जाता है। बुद्धिमान मनुष्य को सभी प्रकार की हिंसाओं से अपने आप को दूर रखना चाहिये। अहिंसा ही एकमात्र ऐसा मार्ग है जिस मार्ग पर चलकर मोक्ष या मुक्ति को सरलता से प्राप्त किया जा सकता है।"[72] हिंसा वस्तुतः बंधन है, मोह है, मृत्यु है और साक्षात् नरक है।"[73]

2. सत्याणुव्रत

जो स्थूल झूठ न तो स्वयं बोलता है और न दूसरों से बुलवाता है तथा भयंकर विपत्ति के समय भी असत्य नहीं बोलता और न दूसरों से बुलवाता है, जिससे जीव, जाति, धर्म, देश का विनाश हो, उसे सन्त पुरुषों ने 'सत्याणुव्रत' कहा है।

"सत्य होने पर भी अवज्ञा-सूचक शब्दों का प्रयोग न करे, किन्तु सम्मानसूचक शब्दों का ही प्रयोग करे।"[74]

"जो वस्तु जैसी देखी या सुनी हो उसको वैसा ही न कहना लोक में असत्य कहलाता है।"[75] जो वचन दूसरों को कष्ट पहुँचाने के उद्देश्य से बोला जाता है वह सत्य होने पर भी असत्य कहलाता है। असत्य हिंसादि दोषों का जनक है, यह समझ कर वह कदापि असत्य वचन का प्रयोग नहीं करता।

*"असत्यतो लघीयस्त्वमसत्याद्धनीयता।*
*अधोगतिरसत्याच्च तदसत्यं परित्यजेत्।।"*[76]

अर्थात्, असत्य भाषण से मनुष्य को लघुता प्राप्त होती है। असत्य भाषण से सर्वत्र अपमान होता है, असत्य भाषण से ही नरकगति प्राप्त होती है, इसलिये असत्य वचन का त्याग करना चाहिये। असत्य वचन के तीन भेद हैं--

*1. गर्हित* -- निंदा करना, चुगली करना, कठोर वचन बोलना, बिना काम की बात बोलना 'गर्हित' है।

*2. सावद्य* -- छेदन, भेदन, मारण, शोषण, अपहरण एवं ताड़न सम्बन्धी वचन हिंसक होने से 'सावद्य' हैं।

*3. अप्रिय* -- अविश्वास, भयकारक, खेदजनक, वैर, शोक, उत्पादक, कठोर संतापकारण आदि वचन 'अप्रिय' है।

सावधानीपूर्वक सत्याणुव्रत का पालन करने के लिये अतिचारों का त्याग आवश्यक है। अतिचार पाँच प्रकार के हैं जैसे --

1. सहसा अभ्याख्यान
2. रहस्य अभ्याख्यान
3. स्वदार मंत्र भेद
4. मिथ्या उपदेश
5. कूटलेखकरण।[77]

1. सन्मार्ग पर लगे हुए व्यक्ति को भ्रमवश अन्य मार्ग पर ले जाने का उपदेश करना 'सहसा अभ्याख्यान' है। जैसे बिना सोचे-समझे किसी के विषय में कुछ सोच लेना, किसी पर कलंक लगाना, लोगों में किसी के प्रति गलत धारणा फैलाना, जैसे -- सज्जन को दुर्जन, गुणी को अवगुणी, ज्ञानी को अज्ञानी कहना आदि।

2. किसी की गुप्त बात प्रकट करना, विश्वासघात करना, 'रहस्य अभ्याख्यान' है।

3. आपस की न बताने वाली बातों को अन्य के सामने प्रकट करना, 'स्वदार मंत्र भेद' है।

4. किसी को झूठ-सच समझाकर कुमार्ग पर ले जाना, 'मिथ्या उपदेश' है।

5. झूठे लेख लिखना, झूठे हस्ताक्षर करना, गलत बही-खाता तैयार करना, नकली सिक्के तैयार करना ये सब 'कूटलेख-करण' अतिचार के अन्दर आते हैं।

श्रावक को इन सबसे पूर्णतः बचना चाहिये। उसे सदा सावधान रहकर सत्य की आराधना करनी चाहिये। सत्यव्रत की पाँच भावनाएँ हैं --

1. वाणी-विवेक अर्थात्, सोच-समझकर निष्पाप भाषा का प्रयोग करना।
2. क्रोध-त्याग अर्थात्, गुस्सा न करना।
3. लोभ-त्याग अर्थात्, लालच में न फँसना।
4. भय-त्याग अर्थात्, निर्भीक रहना।
5. हास्य-त्याग अर्थात्, हँसी-मजाक न करना।

इस प्रकार की अन्य प्रशस्त भावनाओं से सत्यव्रत की रक्षा होती है।[78]

**3. अचौर्याणुव्रत**

"अचौर्य या अस्तेय का अर्थ होता है -- 'बिना दिये हुये दूसरों के द्रव्य का ग्रहण न करना।' जो पुरुष बुद्धिमान है और संसार समुद्र से पार जाने की इच्छा रखता है, वह मन, वचन और काय से निःशंकित होकर बिना दी हुई पर वस्तु को ग्रहण नहीं करता-- वह अचौर्यव्रत पालन का करता है।"[79]

चोरी या स्तेय के दो भेद हैं --

1. स्थूल चोरी।
2. सूक्ष्म चोरी।

1. जिस चोरी के कारण मनुष्य चोर कहलाता है, समाज तथा न्यायालय में दंडित होता है वह 'स्थूल चोरी' है।

2. मार्ग चलते तिनका, कंकड़ उठाना 'सूक्ष्म चोरी' के अन्तर्गत आता है।

*"निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टम्।*
*न हरति यन्न च दत्ते तदकृशचौर्यादुपारमणम्।।"*[80]

अर्थात्, रखे हुए, गिरे हुए या भूले हुए पराये धन को बिना दिये जो न तो स्वयं लेता है और न उठाकर दूसरे को देता है, उस स्थूल चोरी से विरक्त होना 'अचौर्याणुव्रत' है।

बुरे कर्मों का अर्थात्, किसी प्रकार की चोरी चाहे वह स्थूल हो या सूक्ष्म बुरे फल मिलते हैं।

*"दौर्भाग्यं प्रेष्यतां दास्यमंगच्छेदं दरिद्रताम्।*
*अदत्तान्तं फलं ज्ञात्वा स्थूलस्तेयं विवर्जयेत्।।"*[81]

अचौर्याणुव्रत के पालन के लिये अतिचारों का त्याग भी आवश्यक है जैसे --

*1. स्तेनप्रयोग* -- चोरी के लिये किसी को स्वयं प्रेरित करना, दूसरे से प्रेरणा करवाना या ऐसे कार्य में सम्मति देना 'स्तेनप्रयोग' है।

*2. स्तेनाहृतादान* -- किसी के द्वारा चोरी करके लाये हुए द्रव्य को ले लेना 'स्तेनाहृतादान' है।

*3. विरुद्धराज्यातिक्रम* -- पूजा के हित के लिये बने हुए राज्यादि के नियमों को भंग करना 'राज्यादिविरुद्ध कर्म' है।

*4. हीनाधिकमानोन्मान* -- मापने या तौलने के न्यूनाधिक बाटों से लेन-देन करना 'हीनाधिकमानोन्मान' है।

*5. प्रतिरूपक व्यवहार* -- असली वस्तु के बदले में नकली वस्तु चलाना या असली में नकली वस्तु मिलाकर उसे बेचना या चालू करना "प्रतिरूपक व्यवहार" है।[82]

वास्तव में विश्वासघात, बेईमानी, अनुचित लाभ आदि का त्याग करना ही अतिचारों के त्याग का उद्देश्य है।

अस्तेय व्रत की सुरक्षा एवं दृढ़ता के लिये पाँच भावनाएँ भी बतायी गयी हैं--

1. सोच-विचार कर वस्तु की याचना करना।
2. आचार्य आदि की अनुमति से भोजन करना।
3. परिमित पदार्थ स्वीकार करना।
4. पुनः-पुनः पदार्थों की मर्यादा करना।
5. साधर्मिक से परिमित वस्तुओं की याचना करना।[83]

इस प्रकार की अन्य प्रशस्त भावनाओं से भी अस्तेय या अचौर्य व्रत की रक्षा होती है। कहा गया है कि --

*"अनर्थाः दूरतो यान्ति साधुवादः प्रवर्तते।*
*स्वर्गसौख्यानि ढौकन्ते स्फुटमस्तेयचारिणाम्।।"*[84]

अर्थात्, जो पुरुष निर्मल अचौर्यव्रत के धारक हैं, उनके पास से अनर्थ दूर रहते हैं, संसार में उनका साधुवाद फैलता है और स्वर्ग के सुख उनको प्राप्त होते हैं।

**4. परिग्रहपरिमाण अणुव्रत**

पर स्त्री-पुत्र आदि मेरे हैं इस तरह का जो ममत्व रहता है, उस ममत्व परिणाम को परिग्रह कहते हैं और ममत्व घटाकर उन वस्तुओं के घटाने को 'परिग्रह परिमाण अणुव्रत' कहते हैं।

परिग्रह संसार का सबसे बड़ा पाप है। आज संसार में जो जटिल समस्याएँ उपस्थित हैं, वे सर्वव्यापी वर्ग-संघर्ष की सूचक हैं और सब परिग्रह या संचयवृत्ति की ही देन है। समणसुत्तं में कहा है कि --

*"न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।*
*मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा।"*[85]

अर्थात्, भगवान महावीर ने परिग्रह को परिग्रह नहीं कहा है। उस महर्षि ने मूर्च्छा को ही परिग्रह कहा है।

सांसारिक वस्तुओं के संचय की सीमा का नियमन कर लेना 'परिग्रह परिमाण नामक अणुव्रत' है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जो श्रावक अपनी आवश्यकता को

कम करते हुए जीवन भर के लिये निम्न परिग्रह का परिमाण कर ले, उसी का नाम 'परिग्रहपरिमाणव्रत' है जैसे --

1. जमीन, 2. मकान, 3. सोना, 4. चाँदी, 5. जेवरात, 6. गाय, भैंस आदि, 7. दासीदास, 8. अनाज, 9. बर्तन, कपड़ा, बिछौना आदि।"[86]

*"धनधान्यादिग्रंथ परिमाण ततोऽधिकेषु निस्पृहता।*
*परिमितपरिग्रहस्यादिच्छापरिमाणनामापि।।"*[87]

अर्थात्, धन-धान्य आदि बाह्य नौ प्रकार के परिग्रह का परिमाण करके उससे अधिक वस्तुओं में निस्पृहता रखना, वह इच्छा परिमाण नाम का 'परिग्रहपरिमाणव्रत' है।

मनुष्य को उतना ही संग्रह करना चाहिये जितना उसके लिये आवश्यक हो, क्योंकि दुःख का मूल हिंसा है और हिंसा का कारण परिग्रह है, अतः रुपया आदि जैसे-- बाह्य परिग्रह हैं वैसे ही काम, क्रोध, मद, मोह आदि भाव आभ्यन्तर परिग्रह हैं। बाह्य परिग्रह के समान ही आभ्यंतर परिग्रह को भी घटाना चाहिये। परिग्रह को घटाने का एक ही उपाय है -- मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर रुपया-पैसा, जमीन-जायदाद आदि सभी वस्तुओं की एक मर्यादा निश्चित कर ले, कि इससे ज्यादा मैं अपने पास नहीं रखूँगा ऐसा करने से उसके पास अनावश्यक द्रव्य का संग्रह भी न हो सकेगा, साथ ही साथ व्यर्थ की हाय-हाय से भी बचेगा और अपना जीवन सुख और संतोष के साथ व्यतीत कर सकेगा, पर इच्छाओं का नियंत्रण उतनी सरलता से कहाँ हो पाता है?

*"बाह्यान्तरभूतभेदेन द्विधा ते स्युः परिग्रहाः।*
*विदाविदूषिणो बाह्या अन्तरंगास्तु चेतनाः।।"*[88]

दुनियाँ की इस अनियन्त्रित इच्छा को लक्ष्य करके जैनाचार्य गुणभद्र ने संसार के सभी प्राणियों को सम्बोधित करते हुए कहा है कि --

*"आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्।*
*कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता।।"*[89]

अर्थात्, आशारूप वह गड्ढा प्राणी के भीतर स्थित है, जिसमें कि विश्व परमाणु के बराबर प्रतीत होता है, फिर उसमें किसके लिये क्या और कितना आ सकता है, अतः उन विषयों की अभिलाषा व्यर्थ है।

अतः प्रत्येक नागरिक को विश्व की संपत्ति और उसकी चाह में तड़पने वाले असंख्य प्राणियों का विचार करके धन की तृष्णा से विरत ही रहना चाहिये। क्योंकि न्याय की कमाई से मनुष्य जीवन निर्वाह कर सकता है किन्तु धन का अटूट भंडार एकत्र नहीं हो सकता, अटूट भंडार तो पाप की कमाई से ही भरता है, जैसा कि गुणभद्राचार्य ने कहा है--

*"शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते सतामपि न सम्पदः ।*
*न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः ।।"*[90]

अर्थात्, शुद्ध धन के द्वारा सज्जनों की भी सम्पत्तियाँ विशेष नहीं बढ़ती हैं जैसे शुद्ध जल से समुद्र भी कभी परिपूर्ण नहीं होता।

अतः आवश्यक धन का परिमाण करके मनुष्य को अन्याय की कमाई से बचना चाहिये, इससे वह स्वयं सुखी रहेगा और दूसरे लोग भी उसके दुःख के कारण नहीं बनेंगे। जैसा कि हीरालाल जी ने कहा है --

*"सन्निधौ निधयस्तस्य कामधेन्वनुगामिनी।*
*अमराः किंकरायन्ते सन्तोषो यस्य भूषणम् ।।"*

अर्थात्, जिस पुरुष को सन्तोषरूपी आभूषण प्राप्त है, उसके समीप में अनुगामन निधियाँ विद्यमान रहती हैं, कामधेनु अनुगामिनी बन जाती है और अमर किंकर बन जाते हैं।"[91]

अतः मनुष्य को इन पाँच भावनाओं को हमेशा ध्यान में रखना चाहिये।

1. श्रोत्रेन्द्रिय के विषय शब्द के प्रति राग-द्वेष रहितता अर्थात्, अनासक्त भाव।
2. चक्षुरिन्द्रिय के विषय रूप के प्रति अनासक्त भाव।
3. घ्राणेन्द्रिय के विषय गंध के प्रति अनासक्त भाव।
4. रसनेन्द्रिय के विषय रस के प्रति अनासक्त भाव।
5. स्पर्शेन्द्रिय के विषय स्पर्श के प्रति अनासक्त भाव।[92]

**( 5 ) ब्रह्मचर्याणुव्रत**

साधारणतः लोग ब्रह्मचर्य का अर्थ लगाते हैं -- केवल कौमार्य, सभी तरह की वासनाओं का परित्याग। ब्रह्मचर्यव्रत के पालन के लिये सभी प्रकार की बुरी भावनाओं से दूर रहना चाहिये। इसलिये जैन विद्वान् कहते हैं कि --

"यदि तुम्हारी इच्छा इस संसार रूपी वन को छोड़ कर मुक्ति मंदिर में जाने की है तो तुम्हें चाहिये कि विषय रूपी वृक्ष के नीचे एक क्षण भी न ठहरो। ये रंग-बिरंगे कपड़े, ये मणिकुण्डल, ये सुवर्ण के आभूषण, ये स्त्री-पुत्र आदि सभी तो विषय हैं, वे सभी मनुष्य के मन को उलझा देने वाले हैं।"[93]

काम एक रोग है उसका प्रतिकार भोग नहीं है, भोग तो रोग बढ़ाता है, अतः व्यक्ति को चाहिये कि नियन्त्रित रूप में विषय का सेवन करे। ब्रह्मचर्याणुव्रत से जीवन मर्यादित होता है और मैथुन सेवन नियंत्रित होता है। समणसुत्तं में कहा गया है कि --

*"मूलमेअमहम्मस्स, महादोससमुस्सयं।*
*तम्हा मेहुणसंसग्गिं, निग्गंथा वज्जयंति णं।।"*[94]

अर्थात्, मैथुन संसर्ग अधर्म का मूल है, महान दोषों का समूह है, इसलिये ब्रह्मचारी व्रती निर्ग्रंथ साधु मैथुन सेवन का सर्वथा त्याग करते हैं।

जैसे मुर्गी के बच्चे को बिल्ली से हमेशा भय रहता है। उसी प्रकार संयमी श्रमण या श्रमणी, इन्द्रियों को सुख देने वाली वासनाओं से भय बना रहता है, वह चाहे रूप, रंग, चित्र, गीत आदि की हों, तुरन्त उधर से सावधान होकर अपनी दृष्टि को खींच लेते हैं। वे बाल युवा, एवं वृद्ध सभी प्रकार के नर-नारियों से दूर रहते हैं। इतना ही नहीं वे किसी भी प्रकार के इन्द्रियाकर्षक पदार्थ से अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ते।

इस व्रत के अतिचार निम्नलिखित हैं, जो सदाचार को दूषित करते हैं --

*"परविवाहकरणेत्वरपरिगृहीताऽपरिगृहीता*
*गमनानंगक्रीडातीव्रकामाभिनिवेशाः ।।"*[95]

*(1) परविवाहकरण* -- निजी सन्तति के उपरात कन्यादान के फल की इच्छा से या स्नेह सम्बन्ध से दूसरे की सन्तति का विवाह कर देना 'परविवाहकरण' है।

*(2) इत्वरिकापरिगृहीतागमन* -- किसी दूसरे के द्वारा स्वीकृत अमुक समय तक वेश्या या वैसी साधारण स्त्री ( जो विवाहित हो ) का उसी कालावधि में भोग करना 'इत्वरिकापरिगृहीतागमन' है।

*(3) इत्वरिकाअपरिगृहीतागमन* -- ऐसी स्त्री जो वेश्या हो, जिसका पति विदेश गया हो, अनाथ हो, अथवा किसी पुरुष से संरक्षित न हो, उसके साथ भोग करना 'इत्वरिकाअपरिगृहीतागमन' है।

*(4) अनंगक्रीड़ा* -- अस्वाभाविक रीति से जो सृष्टि विरुद्ध काम का सेवन है, वह 'अनंगक्रीड़ा' है।

*(5) तीव्रकामाभिलाष* -- बार-बार उद्दीपन करके विविध प्रकार से काम-क्रीड़ा करना 'तीव्रकामाभिलाष' है।[96]

पाँच इन्द्रियों में से चक्षु और श्रोत्र के विषय अर्थात्, रूप और शब्द को काम कहते हैं, क्योंकि इनसे कामना की सन्तुष्टि तो होती है किन्तु भोग नहीं होता। घ्राण, रसना व स्पर्शन के विषय अर्थात्, गन्ध, रस व स्पर्श भोग से ही तृप्त होती हैं। इन काम रूप एवं भोगरूप विषयों में अत्यन्त आसक्त रहना अर्थात्, इनकी अत्यधिक आकांक्षा करना काम-भोग तीव्राभिलाष अतिचार कहलाता है।"[97]

*"सद्दे रूवे य गंधे य रसे फासे तहेव य।*
*पंचविहे कामगुणे निच्चसो परिवज्जए।।"*[98]

ब्रह्मचारी को शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इन पाँच प्रकार के काम गुणों

को सदा के लिये छोड़ देना चाहिये। जो शब्द रूप, रस, गंध और स्पर्श मन में काम वासना भड़काते हैं, उन्हें बिल्कुल त्याग दे।

जिस प्रकार श्रमण के लिये स्त्री-कथा आदि का निषेध है, उसी प्रकार श्रमणी के लिए पुरुष-कथा आदि का प्रतिषेध है। ये सब एवं इस प्रकार की अन्य भावनाएँ भी ब्रह्मचर्याणुव्रत की सफलता के लिये अनिवार्य हैं।

वृद्धा, बालिका और युवती (स्त्री) इन तीन के प्रतिरूपों को देखकर उन्हें माता, पुत्री और बहन के समान भावना तथा स्त्री-कथा से निवृत्त होना 'ब्रह्मचर्य व्रत' है। यह ब्रह्मचर्य तीनों लोकों में पूज्य है।

ब्रह्मचर्य व्रत के पालन के लिये पाँच भावनाएँ हैं --

1. स्त्री कथा न करना न सुनना।
2. स्त्री के अंगों का अवलोकन न करना।
3. पूर्वानुभूत क्रीड़ा आदि का स्मरण न करना।
4. मात्रा का अतिक्रमण कर भोजन न करना एवं कामोद्दीपक गरिष्ठ भोजन न करना।
5. स्त्री आदि से सम्बद्ध स्थान में न रहना।[99]

सुख शान्ति के लिये ब्रह्मचर्य आदर्श है, सत्य की अपनी शक्ति और स्वतन्त्रता तथा दूसरों के अधिकारों की रक्षा के लिये भी वह उपयोगी है।

"आज सारे विश्व में भौतिक विचारधारा का प्रवाह फैला हुआ है। जिससे समस्त राष्ट्र और प्राणी दुःखी और त्रसित हैं।"[100] ऐसे समय में जैन तीर्थंकरों की विचारधारा का प्रचार किया जाय तो राष्ट्र पुनः शांति की साँस ले सकता है।

## सन्दर्भ


1. श्री अमरभारती, अगस्त, 1980, पृ0 3
2. आचारांग, 1/3/3
3. राजकुमार जैन, साहित्याचार्य, अध्यात्मपदावली, पृ0 26
4. अध्यात्मपदावली, पृ0 39
5. दलसुख मालवणिया, आत्ममीमांसा, पृ. 66-67
6. द्रव्य-संग्रह, 2
7. आचार्य अमृतचन्द्र, समय-प्राभृत टीका, 372
8. आप्तमीमांसा, 64
9. वही, पृ. 61

10. तत्त्वार्थसूत्र, 8/1
11. उत्तराध्ययनसूत्र, 21/19, 23/43, 28/20, 29/31
12. वही, 32/7
13. मज्झिमनिकाय
14. अध्यात्मपदावली, 125
15. वही, 126
16. वही, 13
17. वही, 4/3
18. वही, पृ. 61
19. दौलतराम कृत छहढाला, 2/4
20. अध्यात्मपदावली, पृ. 143
21. सुमेरु चन्द्र दिवाकर, जैनशासन, पृ. 76
22. वही, पृ. 77
23. कुन्दकुन्द स्वामी, समयसार, श्लोक 4
24. गीता, 2/23
25. अध्यात्मपदावली, पृ. 180
26. वही, पृ. 180
27. वही, पृ. 185
28. पातंजलयोगदर्शन 1/2
29. तत्त्वार्थसूत्र 6/1
30. उत्तराध्ययनसूत्र, 29/39
31. सूत्रकृतांग, 16/3
32. हरिभद्र, योगविंशिका, 1
33. दशवैकालिक, 5/2
34. उत्तराध्ययनसूत्र, 29/26
35. योगशास्त्र, 12/4
36. मुनि नथमल, तुम अनन्त शक्ति के स्रोत हो, पृ. 4
37. तत्त्वार्थसूत्र, 9/19
38. उत्तराध्ययनसूत्र, 29/35
39. गीता, 2/56
40. उत्तराध्ययनसूत्र, 30/27
41. वही, 29/24
42. योगभाष्य, 3/7

43. उत्तराध्ययनसूत्र 30/30
44. वही, 30/8
45. तत्त्ववैशारदी, 2/1
46. समन्तभद्र, बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, 83
47. तत्त्वार्थसूत्र, 6/3
48. तत्त्वार्थसूत्र, 1/1
49. योगवासिष्ठ, 6/13, 3/4
50. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 216
51. मणिप्रभा, 2/1
52. सूत्रकृतांग, 8/22
53. तत्त्वार्थसार, 2/4
54. पातंजलयोगदर्शन, 2/35
55. उत्तराध्ययनसूत्र, 28/30
56. कुमारलाल, भारतीय दर्शन, पृ. 98
57. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र 7/1
58. वही, 7/2
59. पद्मचन्द्र शास्त्री, तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर, श्लोक 19, पृ. 95
60. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, 7/13
61. नेमिचन्द्र शास्त्री, तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पृ. 515
62. हीरालाल जैन, जैनधर्मामृत, श्लोक 1.9, पृ. 113
63. प्रवचनसार, महर्षि कुन्दकुन्द, 3/17
64. गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन, श्लोक 237, पृ. 221
65. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक 44
66. तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर, पृ. 95, श्लोक 20
67. शशिकान्त झा, भारतीय आचारशास्त्र, पृ. 331
68. जैनधर्मामृत, श्लोक 29, पृ. 117
69. वही, श्लोक 31, पृ. 117
70. डॉ. हुकुमचन्द भारिल्ल, तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृ. 193
71. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पृ. 516
72. प्रो. केदारनाथ सिंह और शशिभूषण सिंह, भारतीय दर्शन, पृ. 174
73. आचारांग 1/1/2
74. दशवैकालिकसूत्र 7/1/1
75. कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैनधर्म, पृ. 188

76. जैनधर्मामृत, पृ. 124, श्लोक 55
77. डॉ. मोहनलाल मेहता, जैन आचार, पृ. 94
78. डॉ. मोहनलाल मेहता, जैनधर्मदर्शन, पृ. 510
79. भगवान महावीर, पृ. 96
80. जैनधर्मामृत, पृ. 126, श्लोक 63
81. वही, पृ. 126, श्लोक 62
82. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पृ. 519
83. जैनधर्मदर्शन, पृ. 511
84. जैनधर्मामृत, श्लोक 61, पृ. 126
85. समणसुत्तं, 25/16
86. ब्रह्मचारी मूलशंकर देशाई, श्रीपंचलब्धि, पृ. 64-65
87. जैनधर्मामृत, पृ. 126, श्लोक 69
88. भगवान वर्द्धमान महावीर, पृ. 96, श्लोक 24
89. आत्मानुशासन, पृ. 36, श्लोक 36
90. वही, पृ. 45, श्लोक 45
91. जैनधर्मामृत, पृ. 128, श्लोक 70
92. आचारांग, 2/3
93. भारतीय दर्शन, पृ. 176
94. समणसुत्त, 25/10, पृ. 120
95. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, 7/23
96. वही, पं. सुखलाल जी, पृ. 304
97. जैन आचार, पृ. 100-101
98. जैन धर्म क्या कहता है, पृ. 50, उत्तराध्ययनसूत्र, 10/10

# पंचम अध्याय

## ( क ) वैराग्य

*"जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य।*
*अहो ! दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसंति जंतवो।।"*[1]

वास्तव में संसार तो दुःखों का घर है, जन्म मरण के महादुःखों के बीच में घूमने वाला इस संसार में जो भी आया वह दुःखों का मेहमान हुआ, ऐसा नजर आता है। इस जगत् के लिये आरण्यक में कहा है --

*"सर्व वेदं क्षयिष्णु।"*[2]

इस निःसार, अनित्य, क्षणभंगुर जगत् में भोग-उपभोग पदार्थों का एक पल का भी ठिकाना नहीं, जैसा कि उपनिषद् में कहा है --

*"श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्।*
*सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।।"*[3]

मृत्यु मनुष्य के साथ ही चलती है, साथ ही बैठती है अर्थात्, वह हर क्षण साथ लगी रहती है, पता नहीं कब दबोच ले। अतः

*"अनुपश्य यथापूर्वे प्रतिपश्य तथा परे।*
*सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः।।"*[4]

क्योंकि --

*"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।*
*तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।।"*[5]

ऐसा होने से तो जन्मने वाले की निश्चित मृत्यु और मरने वाले का निश्चित जन्म होना सिद्ध हुआ, इससे भी तू इस बिना उपाय वाले विषय में शोक करने योग्य नहीं है।

जब तक अज्ञान है, तभी तक ये जन्म-मरण के चौरासी लाख चक्कर हैं। मानव का चित्त बड़ा चंचल है, यह एक घड़ी, एक पल भी कहीं स्थिर नहीं रहता, यह एक क्षण में पचासों चक्कर लगा आने वाला सरपट घोड़ा है। इस चंचल एवं प्रमादी मन के लिए संतवाणी में कहा गया है --

*"मन ही मन का बोधक है,*
*मन ही मन का साधक है,*
*मन ही मन का बाधक है और*
*मन ही मन का घातक है।"*[6]

संतवाणी में कहा है --

"हे चित्त ! अब शान्त हो, इन्द्रियों के सुख के लिये विषयों की खोज में कठिन परिश्रम मत कर। संसारी पदार्थों में सुख मत मान। ये सभी नाशवान और असार हैं, तू आंतरिक शांति की चेष्टा कर, जिससे दुःखों का नाश होकर कल्याण हो, तरंग के समान चंचल स्वभाव को छोड़ दें।"[7]

दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति के लिये चित्त का निरोध करना आवश्यक होता है। श्रुति, स्मृति तथा शास्त्रों में बताये हुए साधनों के अनुसार तत्पर होकर चेष्टा करने से इसका निरोध हो सकता है। शास्त्रकारों ने चित्त निरोध के अनेक उपाय बताये हैं। स्वभाव की विभिन्नता के कारण किसी के लिये कोई उपाय सुगम पड़ता है और किसी के लिये कोई अन्य। सबसे पहले मन को शुद्ध बनाना चाहिये। महर्षि पतंजलि ने सुखी पुरुषों से मित्रता, दुःखियों पर दया, पुण्यात्माओं को देखकर हर्ष और पापियों के प्रति उदासीनता रखने को चित्त-शुद्धि का साधन बताया है और चित्त के शुद्ध होने से प्रसन्नता होती है, तत्पश्चात् चित्त निरोध होता है।

*"मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां*
*भावनातश्चित्तप्रसादनम्।"*[8]

महर्षि पतंजलि ने चित्त की पाँच वृत्तियां बताई हैं --

*"प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः।"*[9]

इनके निरोध का ही नाम योग है।

*"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।"*[10]

किसी ने चित्त की क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध ये पाँच अवस्थाएं बतलायी हैं और किसी ने केवल संकल्प को ही इसका स्वरूप कहा है। अपने-अपने सिद्धान्तों के अनुसार सभी की मान्यताएँ ठीक हैं। सार रूप में कहा जा सकता है कि संकल्पों का आधार अर्थात् संकल्प जिसमें उत्पन्न होते हैं उसका नाम मन है। मन के नौ निक्षेप बताये गये हैं -- रोग, अकर्मण्यता, संशय, प्रमाद (व्यर्थ चेष्टा), आलस्य, वैराग्य का अभाव, भ्रम, चित्त भूमि की अप्राप्ति एवं चित्त का विशेष समय तक स्थिर न रहना।

आसक्ति के नाश के लिये इस संसार के अनित्य, नाशवान, क्षणभंगुर संपूर्ण

पदार्थों और विषयभोगों में दोष और दुःखों का बार-बार विचार कर उनमें वैराग्य एवं उनका यथोचित त्याग करना चाहिये। प्रारब्ध-कर्म का क्षय तो प्रायः धैर्यपूर्वक भोग होने से ही होता है और संचित कर्मों का यानि सम्पूर्ण पापों का नाश निष्काम भाव से दुःखी मनुष्यों की सेवा तथा ईश्वर के नाम का जप करने से होता है।

बुरी आदत, संशय, विभ्रम और अश्रद्धा के नाश के लिये सत्पुरुषों का संग और सत् शास्त्रों का विचार ही विशेष लाभप्रद है। चित्त-निरोध के लिए गीता में अर्जुन ने भगवान् श्री कृष्ण से पूछा था। अतः अर्जुन की शंका को स्वीकारते हुए कृष्ण ने उन्हें यही उपदेश दिया कि यद्यपि मन चंचल और अस्थिर है तथापि अभ्यास और वैराग्य से वह स्थिर हो सकता है।

*"असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।*
*अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।"*[11]

महर्षि पतंजलि का भी यही कहना है --

*"अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।"*[12]

अर्थात्, चित्तवृत्ति के निरोध करने के दो उपाय हैं -- अभ्यास और वैराग्य। अन्य सभी शास्त्रकारों का भी यही सिद्धान्त है --

*"वैराग्याभ्यासात्।"*

किसी भक्त का कहना है --

*"मन फुरनासे रहित कर, जौने विधि से होय।*
*चहे भक्ति चहे योग से, चहे ज्ञान से खोय।।"*[13]

विषयों में दोषदृष्टिजन्य वैराग्य से चित्त का नैसर्गिक अनादि बहिर्मुख प्रवाह रोका जा सकता है और विवेक ज्ञान के अभ्यास से अन्तरात्माभिमुख प्रवाह प्रारम्भ किया जाता है। यद्यपि सूत्र में प्रथम अभ्यास पद का उपादान है तथापि चित्तवृत्ति का निरोध किये बिना अभ्यास असंभव है। अतः योग्यतानुसार प्रथम वैराग्य से चित्त के बाह्य प्रवाह को रोककर उसके बाद अभ्यास से आभ्यन्तर प्रवाह प्रारम्भ किया जाता है। इसलिये भाष्यकार ने प्रथम वैराग्य का, तत्पश्चात् अभ्यास का फल बताया है -- जिस तरह से गंगा, यमुना आदि नदियों का तीव्र प्रवाह रोकने में सेतुबन्ध का पहला हाथ रहता है उसके बाद नहर, कुल्या आदि द्वारा तिर्यक् (तिरछे) रूप से खेत की ओर उन्मुख किया जाता है उसी तरह चित्त के तीव्र विषय के प्रवाह को सर्वप्रथम वैराग्य द्वारा रोका जाता है, उसके बाद अभ्यास द्वारा प्रकृति पुरुष को विवेकोन्मुख किया जाता है। इसी प्रकार गीता की पंक्तियाँ भी यही कहती हैं, कि केवल वैराग्य से भी चित्त अन्तर्मुख होता है तथापि वह

अन्तर्मुख हुआ चित्त अभ्यास के बिना स्थिरता को प्राप्त नहीं होता। अतः अभ्यास की परम आवश्यकता है क्योंकि बिना स्थिरता के चित्त समाहित नहीं हो सकता।

अतः कल्याण की इच्छा करने वाले पुरुष को इस वैराग्य साधन की आवश्यकता बहुत महसूस होती है, क्योंकि बिना वैराग्य हुए आत्मोद्धार असंभव है। सच्चे वैराग्य से सांसारिक भोग-पदार्थों के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाती है। भोगों में अरुचि हो जाने से परमेश्वर के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है। ध्यान से परमात्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है और ज्ञान से उद्धार होता है। जो लोग ज्ञान संपादनपूर्वक मुक्ति प्राप्त करने में वैराग्य और भोग पदार्थों के प्रति अरुचि की कोई आवश्यकता नहीं समझते, उनकी मुक्ति, वास्तव में मुक्ति नहीं होती, बल्कि भ्रम ही होती है। इसीलिये श्रुति कहती है --

*"अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।*
*ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः।।"*[14]

अतः वैराग्य भोग्य पदार्थों के प्रति अरुचि रहित ज्ञान वास्तविक ज्ञान नहीं, वह केवल वाचिक और शास्त्रीय ज्ञान है, जिसका कि फल मुक्ति नहीं, मात्र भव, बंधन है। इस तरह का ज्ञान रखने वाले व्यक्ति पाप को पाप न समझकर विषयरूपी दलदल में फँसकर पतित हो जाते हैं, ऐसे लोगों के लिये ये उक्ति प्रसिद्ध है --

*"ब्रह्मज्ञान जान्यो नहीं, कर्म दिये छिटकाय।*
*तुलसी ऐसी आत्मा, सहज नरक मँह जाय।।"*

यदि यथार्थ कल्याण की इच्छा हो तो साधक को सच्चा और दृढ़ वैराग्य उपार्जन करना चाहिये। किसी स्वांग विशेष का नाम वैराग्य नहीं है। किसी कारणवश परिवार, धनादि का त्याग कर देना, कपड़े रंग लेना, सिर मुड़वा लेना या अन्य बाह्य चिन्हों को धारण कर लेना वैराग्य नहीं कहलाता। मन से विषयों में रमण करते रहना और ऊपर से ढोंग करना तो मिथ्याचार, दंभ है। भगवान् कहते हैं--

*"कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।*
*इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।।"*[15]

जो मूढ़ बुद्धि पुरुष-कर्मेन्द्रियों को हठ से रोककर, इन्द्रियों के भोगों का मन से चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात्, दम्भी कहा जाता है। ऊपर से ढोंग कर मन ही मन विषयों का मनन करने वालों को मिथ्याचारी कहा जाता है और जो पुरुष चित्त की वृत्तियों को भगवान् में लगाकर उचित वैराग्य वृत्ति से बाह्याभ्यन्तर त्याग करते हैं, उनकी तो सभी शास्त्रों ने प्रशंसा की है। वैराग्य बहुत ही रहस्य का विषय है। वैराग्य की पराकाष्ठा उन्हीं पुरुषों में पायी जाती है, जो जीवन मुक्त महात्मा हैं -- जिन्होंने परमात्म-रस में डूबकर विषय-रस से अपने को सर्वथा मुक्त कर लिया है। भगवान् कहते हैं --

*"विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।*
*रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।।"*[16]

यद्यपि इन्द्रियों के द्वारा विषयों को न ग्रहण करने वाले पुरुष के भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु राग नहीं निवृत्त होता और इस पुरुष का तो राग भी परमात्मा का साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाता है।

साधन काल में वैराग्य की दो श्रेणियाँ बतायी गयी हैं जिनको गीता में वैराग्य और दृढ़ वैराग्य, योग दर्शन में पर वैराग्य और अपरवैराग्य, वेदांत में वैराग्य और उपरति के नाम से कहा है। इन तीनों में थोड़ा सा भेद शब्द और ध्येय को लेकर है, जबकि बहुत अंशों में यह मिलते-जुलते ही हैं।

योग दर्शन में वैराग्य के यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकार में चार भेद बताये गये हैं --

**1. यतमान**

"चित्त में जो रागादि कषाय हैं वे चित्तमल कहे जाते हैं। वे ही इन्द्रियों को स्व-विषय में प्रवृत्त कराते रहते हैं, अब आगे प्रवृत्त न करावें।"[17] इस प्रकार की इच्छा से इन रागादि की निवृत्ति करने के लिये जो इसी पाद के तेतीसवें सूत्र में प्रतिपादित मैत्र्यादि भावनानुष्ठान के यत्न का आरम्भ है वह यतमान संज्ञक वैराग्य कहलाता है।

**2. व्यतिरेक**

उक्त मैत्र्यादि भावनानुष्ठान का यत्न करते-करते चिकित्सक के समान इतने चित्तमल निवृत्त हो चुके हैं और इतने ही मल शेष रहे हैं"[18] इस प्रकार का निवृत्त एवं विद्यमान शेष रहे चित्तमलों की निवृत्ति करने के लिये पृथक्-पृथक् रूप से व्यतिरेक निश्चय, व्यतिरेक- संज्ञा नामक वैराग्य कहलाता है।

**3. एकेन्द्रिय**

जिस अवस्था में परिपक्व चित्तमल इन्द्रियों को स्वविषयों की ओर प्रवृत्त कराने के लिए सूक्ष्म रूप से उत्सुक अर्थात् उत्कंठित होते रहते हैं, उनका मन रूप एक इन्द्रिय में जो व्यवस्थापन है, वह तृतीय एकेन्द्रिय संज्ञा नामक वैराग्य कहलाता है।

**4. वशीकार**

जिस भूमिका में विवेक ज्ञान के बल से दिव्यादिव्य विषयों में उक्त उत्कंठा की भी निवृत्ति हो तथा राग सहित इन्द्रियाँ वश में होने से जो विषयों से उपेक्षाबुद्धि हो, वह वशीकार संज्ञा नामक वैराग्य कहलाता है। सारांश रूप में वैराग्य के प्रकारों के लिये कह सकते हैं --

*( क ) भय से होने वाला वैराग्य*

संसार के भोग भोगने के परिणाम स्वरूप नरक की प्राप्ति होगी, क्योंकि भोग में संग्रह, संग्रह में आरम्भ, आरम्भ में पाप और पाप का फल नरक होता है। अतः इन भोग के साधनों में पाप का फल दुःख जानकर उनसे अलग होना ही वैराग्य है।

*( ख ) विचार से होने वाला वैराग्य*

जिन पदार्थों को भोग्य मानकर उनके संग से आनन्द की भावना की जाती है वे वास्तव में न भोग हैं, न भोग के साधन हैं और न उनमें सुख है। दुःखपूर्ण पदार्थों में, दुःख में ही अविचार से सुख की ऐसी कल्पना करना दुःख का कारण है। भगवान् ने कहा है--

*"ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।*
*आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ।।"*[19]

ये जो इन्द्रिय तथा विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषों को सुख रूप हैं तो भी निःसंदेह वे दुःख के ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।

इन भोगों को यदि ये अनित्य न प्रतीत हों तो इन्हें क्षणभंगुर समझकर सेवन करना चाहिये, भगवान् ने भी ऐसा ही कहा है --

*"मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।*
*आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।।"*[20]

सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख को देने वाले इन्द्रिय और विषयों के संयोग तो क्षण भंगुर और अनित्य हैं, इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन ! उनको तू सहन कर।

क्योंकि धीर पुरुष जो इन विषयों से विचलित नहीं होता वही मोक्ष प्राप्त करने के योग्य होता है, ऐसा भगवान् ने कहा है --

*"यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।*
*समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।।"*[21]

दुःख-सुख को समान समझने वाले जिस धीर पुरुष को यह इन्द्रियों के विषय व्याकुल नहीं करते, वह मोक्ष के योग्य होता है।

भगवान ने यह भी स्पष्ट कहा है कि जो पदार्थ विचार से असत् ठहरता है उसका अस्तित्व नहीं है, जिसका अस्तित्व सत् ठहरे उसी का अस्तित्व है --

*"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।*
*उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ।।"*[22]

असत् वस्तु का तो अस्तित्व नहीं है और सत् का अभाव नहीं है, इस प्रकार

इन दोनों को ही तत्वज्ञानी पुरुषों द्वारा देखा गया है।

इस प्रकार के विवेक जन्य विरक्ति के विचारों से उत्पन्न होने वाला वैराग्य विचार से होने वाला वैराग्य है।

*(ग) साधन से होने वाला वैराग्य*

साधन करते-करते साधक के मन में भोगों के प्रति स्वतः ही वैराग्य उत्पन्न हो जाता है, उस समय उसे संसार के समस्त भोग्य पदार्थ प्रत्यक्ष दुःख रूप प्रतीत होने लगते हैं। किसी को भी प्रसन्न करने या किसी के भी दबाव से वह मान-बड़ाई स्वीकार नहीं करता उसे वे प्रत्यक्ष नरक-तुल्य प्रतीत होते हैं। जो लोग उसे मान-बड़ाई देते हैं उनके सम्बन्ध में वह यह समझता है कि ये मेरे भोले-भाले भाई मेरी हितकामना से विपरीत आचरण कर रहे हैं। "भले साजन शत्रु बराबर" वाली उक्ति चरितार्थ करते हैं, इसलिये वह उनकी क्षणिक प्रसन्नता के लिये भी उनका आग्रह स्वीकार नहीं करता। इस तरह के वैरागी पुरुष या साधक को संसार के स्त्री, पुत्र, धन, मान, बड़ाई, ऐश्वर्य आदि उसी प्रकार नीरस प्रतीत होते हैं जैसे प्रकाशमय सूर्यदेव के उदय होने पर चन्द्रमा प्रतीत हुआ करता है।

*(घ) परमात्मतत्त्व के ज्ञान से होने वाला वैराग्य*

साधक को जब परमात्मतत्त्व की उपलब्धि हो जाती है तब भगवततत्त्व के अतिरिक्त संसार के सम्पूर्ण पदार्थ उसे सारहीन से लगने लगते हैं, अर्थात्, रसहीन और माया मात्र लगते हैं। जैसे मृगतृष्णा के जल को मरीचिका जान लेने पर उसमें जल नहीं दिखाई देता, जैसे नींद से जगने पर स्वप्न को स्वप्न समझ लेने पर स्वप्न के संसार का चिंतन करने पर भी उसमें सत्ता की यथार्थता मालूम नहीं होती, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी पुरुष को जगत् के पदार्थों में सार और सत्ता की प्रतीति नहीं होती। जैसे चतुर बाजीगर द्वारा निर्मित रम्य बगीचे में अन्य सब मोहित होते हैं -- परन्तु उसका तत्त्व जानने वाला जमूरा (शिष्य) उसे मायामय और निस्सार समझ कर मोहित नहीं होता, उसी प्रकार उस श्रेणी का वैरागी पुरुष विषय-भोगों में मोहित नहीं होता।

इस प्रकार के वैराग्यवान् पुरुष की संसार के किसी भोग पदार्थ में आस्था ही नहीं होती। ऐसा ही पुरुष परमात्मा के परमपद का अधिकारी होता है, इसी को पर-वैराग्य या दृढ़-वैराग्य कहते हैं।

ऐसा वैरागी संसार के विषयों को परिणाम में हानिकारक मानकर भय से या उन्हें दुःख रूप समझकर घृणा से ही उनका त्याग करता है। बार-बार वैराग्य की भावना से त्याग के महत्त्व का मनन करने से, जगत् की यथार्थ स्थिति पर विचार करने से, मृत पुरुषों, सूने महलों, टूटे मकानों को देखने सुनने आदि से जिसे विषयों की क्षणिकता के प्रति विराग उत्पन्न होता है। पुत्र-परिवार, धन-मकान, मान-बढ़ाई, कीर्ति-कान्ति आदि समस्त

पदार्थों में निरन्तर दुःख और दोष देख-देखकर उनसे मन हटाना वैराग्य है। भगवान् ने कहा है --

*"इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।*
*जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्।।*
*असक्तिरनाभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।"*[23]

योग दर्शन में भी ऐसा ही कहा है --

*"परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।"*[24]

**परिणामदुःखता**

जो सुख आरम्भ में सुख रूप प्रतीत हो पर परिणाम उसका दुःख-रूप हो उसे परिणामदुःखता कहते हैं। जैसे रोगी वैद्य के मना करने पर सुखकर हानिकारक पदार्थ को स्वादवश खाकर अन्त में दुःख उठाता, रोता और चिल्लाता है। भगवान् कहते हैं --

*"विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।*
*परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्।।"*[25]

जो सुख विषय और इन्द्रियों के संयोग से होता है, यद्यपि वह भोगकाल में अमृत के सदृश भासता है परन्तु परिणाम में विष के सदृश्य है। अतः ऐसे सुख को राजस सुख कहा है।

जिस तरह दाद खुजलाते समय सुख प्रतीत होता है किन्तु परिणाम में जलन होने पर वही महान् दुःख हो जाता है उसी तरह सुखों का भी परिणाम है। बड़े पुण्य-संचय से लोगों को स्वर्ग की प्राप्ति होती है, परन्तु

*"ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।।"*[26]

इसीलिये तुलसीदास जी ने कहा है --

*"एहि तन कर फल विषय न भाई,*
*स्वर्गउ स्वल्प अंत दुःखदाई।"*[27]

**तापदुःखता**

पुत्र, धन, स्त्री, मकान आदि सभी हर समय ताप देते रहते हैं या जलाने वाले ही होते हैं। विषयों की प्राप्ति, उनके संरक्षण-परिवर्द्धन और नाश में भी सदा जलन और चिंता बनी रहती है, कहा है --

*"अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये।*
*नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम्।।"*[28]

ऐसा कोई विषय-सुख नहीं जो सन्ताप देने वाला न हो। सभी में प्राप्ति की इच्छा से लेकर वियोग तक सन्ताप बना रहता है।

**संस्कारदुःखता**

जो विषय भोगों के बाहुल्य को ही सुखों का संस्कार समझता है, उसे उनके अभाव की प्रतीति भी उतनी ही होती है और उस अभाव की प्रतीति में दुःख भरा होता है, यही 'संस्कार-दुःखता' है। ऐसे तो संसार के सभी सुख-दुःख रूप हैं। अतएव साधक को इनसे मन हटाने की भरपूर चेष्टा करनी चाहिये। परमात्मा के नाम का जप और उनके स्वरूप का निरन्तर स्मरण करते रहने से हृदय का मल दूर होने लगता है और फिर उसके अन्तःकरण में वैराग्य की लहर उठने लगती है, जिनसे विषय-प्रेम स्वतः ही मन से हट जाता है। जैसे मैले दर्पण को रुई से घिसने पर ज्यों-ज्यों उसका मैल दूर होता जाता है त्यों-त्यों वह चमकने लगता है इसी प्रकार परमात्मा का भजन, ध्यान रूपी रुई की चालू रगड़ से अन्तःकरण रूपी दर्पण का मल दूर होने पर वह चमकने लगता है और उसमें सुखस्वरूप आत्मा का प्रतिबिम्ब दिखने लगता है। फिर ज्यों-ज्यों भजन ध्यान से अन्तःकरण रूपी दर्पण की सफाई होती है त्यों-त्यों साधक की आशा और उसका उत्साह बढ़ता रहता है, और वह पूर्णानन्द की प्राप्ति के लिये भजन ध्यान बढ़ाता ही रहता है। उसकी दृष्टि में विषयों में दिखने वाले सुख की कोई महत्ता नहीं रह जाती, इससे उसे दृढ़ वैराग्य की प्राप्ति शीघ्र ही हो जाती है। भगवान् ने भी इस दृढ़ वैराग्य रूपी शस्त्र द्वारा ही अहंकार, ममता और वासना रूप अतिदृढ़ मूल वाले संसार रूप अश्वत्थ-वृक्ष को काटने के लिये कहा है --

*"अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा।।"*[29]

दृढ़ वैरागी के लिये ये काम बहुत सरल है।

*"ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।*
*तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।।"*[30]

इसके उपरान्त उस परमपद परमेश्वर को अच्छी तरह से खोजना चाहिये अर्थात्, उस परमात्मा के विज्ञान आनन्दघन 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' स्वरूप का बार-बार चिन्तन करना ही उसे ढूंढना है। जिसमें गये हुए पुरुष फिर संसार में वापस नहीं आते और जिस परमेश्वर से यह पुरातन संसार वृक्ष की प्रवृत्ति विस्तार को प्राप्त हुई है, उसी आदि पुरुष नारायण के मैं शरण हूँ (उस परमपद के स्वरूप को पकड़ लेना उसमें स्थित हो जाना ही उसकी शरण होना है)। इस प्रकार शरण होने पर --

*"निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।*
*द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्।।"*[31]

नष्ट हो गया है मान और मोह जिनका, जीत लिया है आसक्तिरूप दोष जिसने, परमात्मा के स्वरूप में है निरन्तर स्थिति जिनकी, अच्छी प्रकार से नष्ट हो गयी है कामना जिनकी, ऐसे वे सुख-दुःख नामक द्वन्द्वों से विमुक्त हुए ज्ञानी जन उस अविनाशी परमपद को प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार परमात्मा का ज्ञान हो जाना ही जीवनमुक्त अवस्था है, उसके भाव ऐसे हो जाते हैं --

*"अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।*
*निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी।।"*[32]

इस प्रकार शान्ति को प्राप्त हुआ जो पुरुष सब भूतों में द्वेष भाव से रहित, स्वार्थ रहित सबका प्रेमी और हेतु रहित दयालु है तथा ममता से रहित, अहंकार से रहित, सुख-दुःखों की प्राप्ति में सम और क्षमावान है अर्थात् अपराध करने वाले को भी अभयदान देने वाला है।

*"समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।*
*शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः।।"*[33]

और जो पुरुष शत्रु-मित्र में और मान-अपमान में सम है तथा सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखादिक द्वन्द्वों में सम है और सब परिग्रह की आसक्ति से रहित है। जो पुरुष आकांक्षा से रहित, बाहर भीतर शुद्ध, चतुर है अर्थात्, जिस काम के लिये आया था उसको पूरा कर चुका है एवं पक्षपात से रहित है और दुःखों से मुक्त हुआ है वह सब आरम्भों का त्यागी है। जो न कभी द्वेष करता है, न सोच करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मों के फल का त्यागी है तथा जो ईश्वर के स्वरूप का निरन्तर मनन करने वाला एवं जिस किसी प्रकार से भी शरीर का निर्वाह होने में सदा ही संतुष्ट और रहने के स्थान में ममता से रहित है।

अतएव इस संसार से मन हटाकर इस लोक और परलोक के समस्त भोगों में वैराग्यवान् होकर सबको परमात्मा की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिए।

## (ख) निष्काम कर्म

कर्म प्राणी का स्वभाव है, कोई भी प्राणी कर्म के बिना जी नहीं सकता। जब तक कर्म है, तब तक जीवन है। जीवन की हर प्रवृत्ति का संचालन कर्म के द्वारा होता है। कर्म की समाप्ति ही चैतन्य जीवन की समाप्ति है। इसी दृष्टि से भगवद्गीता का एक सिद्धान्त है --

*"नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।"*

पर कर्म निष्काम होना चाहिये। 'निष्काम' कर्म शब्द का साधारण अर्थ है -- बिना किसी इच्छा या कामना के सत्कर्म करना, क्योंकि निष्काम कर्म वे हैं जिन्हें साधक कर्तृत्वाभिमान से रहित होकर अनासक्ति पूर्वक निमित्त मात्र बनकर करता है। जैसा कि गीता के इस श्लोक में कहा गया है --

*"नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।*
*इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।।"*

"किन्तु यह साधारण साधक के लिये बहुत कठिन है, क्योंकि जब तक वह अपने को विचार द्वारा शरीर, इन्द्रिय और मन से पृथक् नहीं कर लेता, तब तक यह कथमपि संभव नहीं है, जैसे -- कैमरे में रील न हो और बटन दबाते रहने पर भी उससे चित्र नहीं आता उसी प्रकार शरीर रूपी कैमरे में मन रूपी रील न चढ़ाने से इन्द्रिय रूपी शीशे से कर्म होते हुए भी उसमें आसक्ति नहीं होती। यही निष्काम कर्म है।"[34] और जो केवल कर्तव्य भाव से लोक व्यवहार करता है, वही सच्चा निष्काम कर्मी है, क्योंकि निष्काम कर्मी या निष्काम कर्मयोगी अपने लिये नहीं दूसरों के लिये जीवित रहता है --

*"शिवाय लोकस्य जीवन्ति नात्मार्थम्।"*

गीता में निष्काम कर्म को प्रमुख माना गया है।

"शास्त्र विहित उत्तम क्रिया का नाम कर्म है, उसमें आसक्ति और स्वार्थ का सर्वथा त्यागपूर्वक समत्व-भाव यानि निष्काम भाव का नाम योग है। यह निष्काम भाव ही इसका स्वरूप, प्राण और रहस्य है, इसलिए जिस कर्म में निष्काम भाव है, उसी को 'कर्मयोग' की संज्ञा दी गयी है।[35] कर्मयोग में ये चार पद जिन्हें चतुःसूत्री कह सकते हैं, रहते हैं --

*"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।*
*मा कर्मफलहेतुर्भूमा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।।"*[36]

तेरा कर्म करने मात्र में ही अधिकार है, फल में कभी नहीं और तू कर्मों के फल की वासनावाला भी मत हो तथा तेरी कर्म न करने में भी प्रीति न हो।

1. सिर्फ कर्म में अधिकार हो
2. फल में नहीं
3. कर्म फल की वासना भी न हो
4. न कर्म करने में प्रीति

जिन शास्त्रोक्त उत्तम क्रियाओं में निष्काम भाव नहीं है, उनकी "कर्म" संज्ञा है। किन्तु 'कर्मयोग' नहीं। क्योंकि कर्म के तीन प्रकार हैं --

1. *निषिद्ध कर्म* -- चोरी, व्यभिचार, हिंसा, असत्यभाषण, कपट, छल,

जबरदस्ती, अभक्ष्य-भक्षण और प्रमादादि को निषिद्ध कर्म कहते हैं।

*2. काम्य कर्म* -- स्त्री-पुत्र धनादि प्रिय वस्तुओं की प्राप्ति के लिये एवं रोग संकटादि की निवृत्ति के लिये किये जाने वाले कर्मों को काम्य कर्म कहते हैं।

*3. कर्त्तव्य कर्म* -- ईश्वर की भक्ति, देवताओं का पूजन, यज्ञ, दान, तप, माता-पिता आदि गुरुजनों की सेवा, वर्ण तथा आश्रम के धर्म और शरीर सम्बन्धी खान-पानादि कर्मों को 'कर्तव्य कर्म' कहते हैं।

कर्तव्य कर्म भी कामनायुक्त होने से काम्य कर्मों के अन्तर्गत समझे जा सकते हैं। पर उसमें वर्णाश्रम के स्वाभाविक धर्म तथा जीविका के कर्म भी सम्मिलित रहते हैं, इसलिये उनके पालन करने की जिम्मेदारी रहती है। इन तीन कर्मों में से निषिद्ध कर्म तो सभी के लिये सर्वथा त्याज्य है और काम्य कर्म भी मोक्ष की इच्छा रखने वाले के लिये आवश्यक नहीं हैं, 'कर्तव्यकर्म' भाव दृष्टिकोण से दो प्रकार के हो जाते हैं -- सकाम और निष्काम।

**1. सकाम भाव**

सकामी पुरुष जगत् के पदार्थों को रमणीय, सुखप्रद और प्रीतिकर समझ उन्हें प्राप्त करने की इच्छा से उनकी सिद्धि में सुखी और असिद्धि में दुःखी होने की प्रत्यक्ष भावना को लेकर ममतायुक्त मन से आसक्ति पूर्वक कर्म करता है। ऐसे पुरुष का विषय विमोहित चित्त किसी-किसी समय उसे निषिद्ध कर्मों के करने में भी प्रवृत्त कर सकता है।

**2. निष्काम कर्म**

शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मों में फल और आसक्ति को त्यागकर भगवदाज्ञानुसार समत्वबुद्धि से केवल भगवत्-अर्थ-भगवत्-अर्पण कर्म करने का नाम 'निष्काम कर्मयोग' है।

*(क) भगवत् अर्थ कर्म*

भगवत् आज्ञानुसार शास्त्र विहित कर्त्तव्य कर्मों को भगवत् प्रेम, प्रसन्नता की प्राप्ति के लिये कर्तव्य समझकर केवल भगवान की आज्ञापालन के लिये करना भगवत् अर्थ कर्म है।

*(ख) भगवत् अर्पण कर्म*

शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मों को तथा मन, वाणी, शरीर सहित अपने आपको प्रभु की वस्तु समझकर प्रभु को समर्पण कर देना 'भगवत् अर्पण कर्म' है।

यद्यपि निष्काम कर्मयोगी परमात्मा की प्राप्ति के लिये एकांत में भजन ध्यान न करे तो भी वह भगवच्चिंतनसहित शास्त्रसहित कर्तव्यकर्मों को निरन्तर करता हुआ परमात्मा की शरण और उसकी कृपा से परमगति को प्राप्त हो जाता है। भगवान् कहते हैं--

*सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।*
*मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्।।*
*चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।*
*बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव।।*[37]

मेरे परायण हुआ निष्काम कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मों को सदा करता हुआ भी मेरी कृपा से सनातन, अविनाशी परमपद को प्राप्त हो जाता है। अतः हे अर्जुन ! तू सब कर्मों को मन से मुझमे अर्पण करके मेरे परायण हुआ समत्व बुद्धि रूप निष्काम कर्मयोग का अवलम्बन करके निरन्तर मुझ में चित्त वाला हो।

वास्तव में कर्मों की क्रिया मनुष्य को नहीं बाँधती, फल की इच्छा और आसक्ति से ही उसका बन्धन होता है, वरना कोई भी कर्म मनुष्य को बाँध नहीं सकते, क्योंकि कर्म का फल कर्म के अनुसार न होकर कर्ता कर्म बाँधने वाले की भावना के अनुसार होता है। अतः परमात्मा की प्राप्ति का इच्छुक किसी वस्तु की याचना नहीं करता --

*काम करे कुछ किन्तु न इच्छा फल की होवे।*
*सुख में फूले नहीं दुःख में दुःखी न होवे।।*
*कृष्णार्पण करि करे शुभाशुभ सौंपि उन्हीं कूं।*
*करे कर्म कर्तव्य धरे हरिचरननिमन कूं।।*
*कर्‌यो, करूँ, जो करूंगो, सब कुछ प्रभु तुमई करो।*
*कर्त्ता, भोक्ता हों नहीं, कर्‌यो तुमनि तुमई भरो।।*

भगवान ने कहा है कि यदि मनुष्य का लक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति हो तो वह अपने-अपने वर्ण-धर्म के अनुसार कर्म में लगा हुआ भी सिद्धि को प्राप्त हो जाता है।

*"यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।*
*स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।"*[38]

जिस परमात्मा से सर्वभूतों की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सर्व जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वर को अपने स्वाभाविक कर्म द्वारा पूजकर मनुष्य परमसिद्धि को प्राप्त हो जाता है।

जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री पति को ही अपना सर्वस्व मानकर पति का ही चिन्तन करती हुई, पति की आज्ञानुसार पति के लिये ही मन, वाणी, शरीर से नियत संसार के समस्त कर्मों को करती हुई पति की प्रसन्नता प्राप्त करती है, उसी प्रकार निष्काम कर्म योगी एक परमात्मा को ही अपना सर्वस्व मानकर उसी का चिन्तन करता हुआ उसी की आज्ञानुसार मन, वाणी, शरीर से उस परमात्मा के लिये ही अपने कर्त्तव्य

कर्म का आचरण कर परमात्मा की प्रसन्नता और परमात्मा के रूप को प्राप्त करता है।

समस्त चराचर में, सम्पूर्ण भूत-प्राणियों में परमात्मा को व्यापक समझकर, सभी को परमात्मा का स्वरूप मानकर अपने कर्मों द्वारा निष्काम कर्मयोगी भक्त भगवान् की पूजा करता है। जिस प्रकार राजा को प्रसन्न करने के लिये सभी कर्मचारी अपनी-अपनी योग्यतानुसार अपने-अपने कर्म जिम्मेवारी पूर्वक करते हैं ताकि राजा उनसे खुश रहे, ठीक उसी प्रकार निष्काम कर्मयोगी दूसरे के अच्छे से अच्छे काम की ओर तनिक भी न देखकर प्रभु की प्रसन्नता के लिये अपना कार्य कुशलता के साथ करता है अर्थात्, किसी को अपने कर्तव्य कर्म को छोड़ने की आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है मात्र प्रभु को प्रसन्न करने के लिये स्वार्थ त्यागकर अपने कर्त्तव्य को प्रभु को अर्पण करने की। अतः अपने इन कर्मों द्वारा परमात्मा की पूजा करने से परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है।

निष्काम कर्मयोगी का लक्ष्य केवल एक परमात्मा को प्राप्त करना होता है। जैसे धन का लोभी मनुष्य अपने प्रत्येक कर्म में धन की प्राप्ति का उपाय ही सोचता है, किसी तरह धन मिल जाय यही भाव उसके मन में निरन्तर विद्यमान रहते हैं, उसी प्रकार निष्काम कर्मयोगी भी आठों प्रहर चौंसठ घड़ी मन, वाणी तथा शरीर द्वारा उन्हीं सब कर्मों को करता है जो ईश्वर को सन्तुष्ट करने वाले होते हैं। वह भूलकर भी परमात्मा की प्राप्ति में बाधक -- चोरी, झूठ, कपट, छल, मादक द्रव्यसेवन और अभक्ष्य-भक्षणादि निषिद्ध कर्मों को नहीं करता, ये विचार तो उसके मन में भी नहीं आते। वह निरन्तर अपने चित्त को उन्हीं न्याययुक्त व शास्त्रविहित कर्मों के सोचने और करने में प्रवृत्त करता है जो उसके चरम लक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति के अनुकूल और उसमें सहायक होते हैं। वह दूसरे के सुहावने और मान बड़ाई वाले कर्मों की ओर लोलुपदृष्टि से कभी नहीं देखता। वह कर्मों का छोटा या बड़ा स्वरूप नहीं देखता क्योंकि वह इस बात को जानता है कि कर्मों का स्वरूप परमात्मा की प्राप्ति में हेतु नहीं है, परमात्मा की प्राप्ति में हेतु है, अन्तःकरण का भाव। भाव से मनुष्य का उत्थान और पतन होता है। इसीलिये वह दूसरे की देखा-देखी से किसी भी ऐसे ऊंचे से ऊंचे कर्मों को भी नहीं करना चाहता जो उसके लिये विहित नहीं हैं। वह यह नहीं देखता कि मेरे कर्म में अमुक दोष है, दूसरे का अमुक कर्म सर्वथा निर्दोष है। वह समझता है कि दूसरे के गुणयुक्त उत्तम धर्म की अपेक्षा अपना गुणरहित धर्म ही अपने लिये श्रेष्ठ और आचरण करने योग्य है। स्वधर्म के पालन से मनुष्य को पाप नहीं लगता--

*"श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।*
*स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।।"*[49]

अर्थात्, अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरे के धर्म से, गुणों से रहित होने पर भी अपना धर्म श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वभाव से नियत किये हुए स्वधर्म रूप कर्म को करता

हुआ मनुष्य पाप को प्राप्त नहीं होता।

आजकल इस निष्काम कर्म के रहस्य को न समझ कर ही लोग सबको एकाकार करने की व्यर्थ चेष्टा में लगे हुए हैं। भगवान् ने कहा है --

*"सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्*
*सर्वारम्भाहि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।।"*[40]

अर्थात्, अतएव हे कुन्तीपुत्र ! दोषयुक्त होने पर भी स्वाभाविक कर्म को नहीं त्यागना चाहिये, क्योंकि धुएँ से अग्नि के सदृश सभी कर्म किसी न किसी दोष से युक्त हैं।

जो मनुष्य जिस वर्ण में उत्पन्न हुआ है उसका स्वाभाविक कर्म ही उसका स्वधर्म है। वह जिस जाति या समुदाय में उत्पन्न हुआ है, जन्म से लेकर अपने कर्तव्य को समझने की बुद्धि आने तक जिन संस्कारों में उसका पालन-पोषण होता है, प्रायः उसी के अनुकूल कर्मों में उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति और उत्साह भी होता है। इसलिये वही उसका स्वभाव या प्रकृति समझी जाती है और इस स्वभाव या प्रकृति के अनुकूल विहित कर्मों को ही गीता में स्वधर्म, सहजकर्म, स्वकर्म, नियतकर्म, स्वभावजकर्म और स्वभावनियत कर्म आदि नामों से कहा है। इसी स्वधर्म के अनुसार मनुष्य को आसक्ति और स्वार्थरहित होकर अखिल जगत् में परमात्मा को व्यापक समझकर सबकी सेवा करने के भाव से अपना-अपना कर्त्तव्य कर्म करना चाहिये। निष्काम कर्म की श्रेणी में जाने के लिये यह आवश्यक नहीं कि परमात्मा प्राप्ति के लिये या परमात्मा की सेवार्थ जंगल में जाया जाये मात्र आवश्यकता है कि मानव कर्तव्य कर्म निष्काम, निर्मलभाव व निःस्वार्थ बुद्धि से करें। जिस दिन सांसारिक स्वार्थ की जगह मन में परमात्मा को स्थान मिल जाता है उसी दिन उसके वे कर्म जो बन्धन के कारण थे, अब परमात्मा की प्राप्ति के कारण बन जाते हैं।

पारा और संखिया जैसा जहर भी अमृत सा काम दे सकता है यदि वह चतुर वैद्य द्वारा शोधकर शुद्ध कर लिया जाय। जिस पारे और संखिया से मनुष्य की मृत्यु हो जाती है यदि उनके विषभाग को निकाल दिया जाय तो वह अमृत बन जाता है। इसी प्रकार जब तक कर्मों में स्वार्थ व आसक्ति है, तब तक मानव बन्धन में पड़ा रहता है। पर जिस दिन स्वार्थ और आसक्ति को निकाल कर्मों की शुद्धि कर ली जाती है, उसी दिन वे अमृत बन परमात्म पद की प्राप्ति कराने में कारण बन जाते हैं। अतः इसके लिये आवश्यक है बुद्धि को शुद्ध किया जाय न कि कर्तव्य कर्म को त्याग दिया जाय, जैसे दो पुरुष हैं -- एक सकाम भाव से यज्ञ, दान, तप आदि करता है और दूसरा अपने वर्ण का कर्म भिक्षा, युद्ध, व्यापार या सेवा करता है परन्तु उसकी भावना कामना रहित होने से परमात्मा की आज्ञा का ध्यान रहने से लोभ और आसक्ति भी उसके पास नहीं आती। अतः उसके द्वारा पाप-बन्ध नहीं होता।

अतः स्पष्ट है कि निष्काम कर्मयोगी जानबूझकर तो पाप नहीं करता पर यदि भूल से हो भी जाये तो उसे पाप नहीं लगता क्योंकि उसका कर्म निःस्वार्थ या स्वार्थ रहित है, स्वार्थरहित कर्मों का अनुष्ठान कर्त्ता को बाँध नहीं सकता।

*"न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।*
*इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न बध्यते।।"*[41]

अर्थात्, क्योंकि कर्मों के फल में मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म लिप्त नहीं करते, इस प्रकार जो मुझे तत्त्व से जान लेता है वह कभी कर्मों से नहीं बँधता। ऐसा ही पाँचवें अध्याय में भी कहा है --

*"ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगंत्यक्त्वा करोति यः।*
*लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।"*[42]

अर्थात्, हे अर्जुन ! देहाभिमानियों द्वारा यह साधन होना कठिन है और निष्काम कर्मयोग सुगम है, क्योंकि जो पुरुष सब कर्मों को परमात्मा में अर्पण करके और आसक्ति को त्यागकर कर्म करता है, वह पुरुष जल में स्थित कमल के पत्ते के सदृश पाप से लिप्त नहीं होता।

अतः पानी से कमल की तरह संसार से अलग रहने वाले मनुष्य के लिये गीता के तीसरे अध्याय में कहा गया है, "जो मनुष्य आत्मा में ही प्रीति वाला और आत्मा में ही तृप्त तथा आत्मा में ही सन्तुष्ट होवे उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है।"[43] गीता के दूसरे अध्याय में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं --

*"प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।*
*आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।"*

जिस काल में यह पुरुष मन में स्थित सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग देता है। उस काल में वह आत्मा से ही आत्मा में सन्तुष्ट हुआ स्थिर बुद्धि वाला कहा जाता है।

*"दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।*
*वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।"*

दुःखों की प्राप्ति में उद्वेग रहित है मन जिसका और सुखों की प्राप्ति में दूर हो गयी है स्पृहा जिसकी तथा नष्ट हो गये हैं, राग, भय और क्रोध जिसके ऐसा मुनि स्थिर बुद्धि वाला कहा जाता है।

*"यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।*
*नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।"*

और जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस-उस शुभ अशुभ वस्तुओं को प्राप्त

होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है।

*"यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।*
*इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।"*[44]

जैसे कछुआ अपने अंगों को समेट लेता है, वैसे ही यह पुरुष जब सब ओर से अपनी इन्द्रियों को उन के विषयों से समेट लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है।

निष्काम कर्मयोगी ममता और आसक्ति आदि से दूर हो सम भाव वाला हो जाता है। अतः जिसकी समता में स्थिर-निश्चल स्थिति है उसकी परमात्मा में ही स्थिति है क्योंकि परमात्मा सम है इसलिये वह सारे दुःख, पाप और क्लेशों से छूटकर परम आनन्द और परम शांति को प्राप्त हो जाता है ऐसी स्थिति अन्तकाल में भी हो जाती है वह भी जन्म-मृत्यु के भय से छूटकर विज्ञानानन्द घन परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। ऐसा गीता के दूसरे अध्याय में लिखा है --

*"एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।*
*स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।।"*[45]

हे अर्जुन ! यह ब्रह्म को प्राप्त हुए पुरुष की स्थिति है, जो इसको प्राप्त होकर मोहित नहीं होता है और अन्तकाल में भी इस ब्राह्मी स्थिति में स्थित होकर ब्रह्मानन्द को प्राप्त हो जाता है।

*"कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।*
*लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि।।"*[45]

इस प्रकार जनक आदि ज्ञानीजन भी आसक्ति रहित कर्म द्वारा ही परमसिद्धि को प्राप्त हुए हैं। इसलिये तथा लोकसंग्रह को देखता हुआ भी तू कर्म करने के ही योग्य है अर्थात्, तेरा कर्म करना ही उचित है।

अतः कर्मयोग की सिद्धि को प्राप्त जीवनमुक्त पुरुष के लक्षण साधारण पुरुषों की अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण होते हैं। ऐसे भगवत् को प्राप्त हुए महापुरुष के कर्म केवल लोकसंग्रहार्थ ही होते हैं। जैसा कि गीता के तीसरे अध्याय में लिखा है --

*"सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।*
*कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोक संग्रहम्।।"*[47]

कर्म में आसक्त हुए अज्ञानी जन जैसे कर्म करते हैं, वैसे ही अनासक्त हुआ विद्वान् भी लोक संग्रह को चाहता हुआ कर्म करे।

और वे कर्म कामना और संकल्प से शून्य होने के कारणस्वरूप से होते हुए भी वास्तव में कर्म नहीं समझे जाते। जैसा कि गीता के चौथे अध्याय में लिखा है --

*"त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।*
*कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ।।"*

जो पुरुष सांसारिक आश्रय से रहित सदा परमानन्द परमात्मा में तृप्त हैं, वह कर्मों के फल और संग अर्थात् कर्तृत्व अभिमान को त्याग कर कर्म करे तो वह कर्म करते हुए भी कुछ नहीं करता है।

*"निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।*
*शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ।।"*[48]

जीत लिया है अन्तःकरण और शरीर जिसने तथा त्याग दी है सम्पूर्ण भोगों की सामग्री जिसने, ऐसा आशा रहित पुरुष केवल शरीर सम्बन्धी कर्म को करता हुआ भी पाप को प्राप्त नहीं होता।

इस प्रकार निष्काम कर्मयोग का साधक परमात्मा की प्राप्ति के लिये कर्मों को परमात्मा में अर्पण कर देने के कारण अन्त में परमात्मा के प्रसाद से परमात्मापने को प्राप्त हो जाता है। गीता का कर्म आदि से लेकर अन्त तक परमात्मा से जुड़ा हुआ दिखाई पड़ता है। अतः इसे पूर्णतः भक्तिमिश्रित निष्काम कर्मयोग की संज्ञा निःसंदेह दे सकते हैं।

## (ग) हिन्दू धर्म में अहिंसा का स्थान

**जैन धर्म का मूलभूत सिद्धान्त** -- 'अहिंसा परमोधर्मः' आज से प्रायः 2500 वर्ष पूर्व भगवान महावीर स्वामी के द्वारा प्रतिपादित किया गया था। भगवान महावीर के जीवन के अनेक ऐसे प्रसंग हैं, जहाँ हिंसक पशु उनके सान्निध्य में जाकर हिंसावृत्ति को भूल गये। इनके समीप व्याघ्र और गौ परस्पर मैत्री भाव से मुक्त होकर व्यवहार करते थे। होना भी यही चाहिये, चूंकि प्रत्येक प्राणी का यह जन्मसिद्ध अधिकार है, कि वह स्वयं सुखपूर्वक जीये और अन्य प्राणियों को जीवित रहने दे। यहां अहिंसा की परिभाषा इस प्रकार दी गई है --

*"सव्वे पाणा, सव्वे भूता, सव्वे जीवा*
*सव्वे सत्ता, ण हंतव्वा, न अज्जावेतव्वा,*
*परिधेत्तव्वा। न परितावेयव्वा,*
*न उददवेयव्वा, एस धम्मे सुद्धे।"*[49]

कहा भी गया है --

*"अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्"*[50]

यदि हम पुण्य जीवन को एक भव्य भवन मानते हैं, तो अहिंसा तत्त्वज्ञान को उसकी नींव मानना होगा। "अहिंसात्मक वृत्ति के बिना न व्यष्टि का कल्याण है और न

समष्टि का। साधना का प्राण या जीवन रस अहिंसा है।"[51] "भारत देश को पराधीनता की बेड़ियों से मुक्त या स्वतन्त्र कराने में अहिंसात्मक पद्धति को ही एक मात्र अवलम्बन माना गया था। "शास्त्रों से भी ज्ञात होता है कि भारत में सदा से ही अहिंसा को परमधर्म के रूप में स्थान मिला है।"[52]

अहिंसा से तात्पर्य अ + हिंसा अर्थात्, हिंसा नहीं अथवा किसी जीव मात्र की हत्या न करने से है। अहिंसा का अर्थ महात्मा गांधी इस प्रकार बताते हुए कहते हैं कि, "घृणा ही हिंसा है, अहिंसा का वास्तविक अर्थ अन्दर से है अर्थात्, भावनाओं पर है अर्थात्, प्रेम पर है।"[53] अतः हम कह सकते हैं कि प्रेम को समझना व किसी को दुःख न पहुँचाना ही अहिंसा है। अमेरिका के सुप्रसिद्ध नाटककार नोयेल काबर्ड का मत था -- "प्रेम देने से प्रेम मिलता है और घृणा देने से घृणा मिलती है, प्रेम अमृत है और घृणा विष है।"[54] यह बात ठीक भी है क्योंकि देखा गया है कि विश्वास की भावना से एक ही वस्तु अमृत बन जाती है और अविश्वास की भावना से वही विष।

अहिंसा का वास्तव में अर्थ राग-द्वेष, क्रोध-मान, माया-लोभ, भीरुता, शोक, घृणा आदि विकृत भावों का विशेष रूप से त्याग करना है, क्योंकि यदि मन में ये दुर्भाव विद्यमान हों और अन्य प्राणियों का घात न हो रहा हो तो भी हिंसा निश्चित है। इसी तरह इसका उल्टा अर्थात्, यदि रागादि का अभाव हो और प्राणिघात हो रहा हो, तो भी उसे अहिंसा मानेंगे। अमृत चन्द्र स्वामी कहते हैं --

*"अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।*
*तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः।।"*[55]

अर्थात्, रागादिक का अप्रादुर्भाव अहिंसा है, रागादियों की उत्पत्ति हिंसा है यह जिनागम का सार है। कहा गया है कि यदि कोई प्राणी पूर्णतः हिंसा का त्यागी नहीं हो सकता तो अल्प हिंसा का त्याग करे, पर जिस हिंसा को वह छोड़ न सके उसे अहिंसा तो नहीं माना जा सकता है। यदि हम पूर्णतः हिंसा का त्याग नहीं कर सकते तो अंशतः त्याग करना चाहिये। यदि वह भी न कर सके तो कम से कम हिंसा में धर्म मानना और कहना तो छोड़ना ही चाहिये। जैन दर्शन कहता है कि राग सहित भावों से कोई भी काम करते हैं तो हिंसा होगी ही अर्थात्, राग-द्वेष और मोह जनित भावों की उत्पत्ति होना ही हिंसा है और उन्हें धर्म मानना महाहिंसा है तथा रागादि भावों की उत्पत्ति न होना (वीतरागी) ही परम अहिंसा है और रागादि भावों को धर्म न मानना ही अहिंसा के सम्बन्ध में सच्ची समझ है और यही जिनागम का सार है।

आहारपान आदि की शुद्धि अहिंसक के लिये आवश्यक है क्योंकि अशुद्ध आहार अपवित्र विचारों को उत्पन्न करता है और अपवित्र विचारों से कर्मों का बंध होता है। अतः आहार-पान, परिस्थिति, वातावरण और शक्ति को ध्यान में रखते हुए महर्षियों ने

अहिंसात्मक साधना के लिये अनुज्ञा दी है। कहा है --

*"जं सक्कहं तं कारहं जं य ण सक्कई तहेव सद्दहणं।*
*सद्दहमाणो जीवो पावइ अजरामरं ठाणं।।"*[56]

अर्थात्, जितनी शक्ति हो उतना आचरण करो, जहाँ शक्ति न चले श्रद्धा को जाग्रत् करो क्योंकि श्रद्धावान् प्राणी भी अजर-अमर पद को प्राप्त करता है। इसी तरह तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वामी कहते हैं--

*"प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा।"*[57]

हिंसा और अहिंसा तो वास्तव में मन के भीतर है। भगवान महावीर का यह संदेश है कि हम अपने मन में किसी के प्रति हिंसा का भाव ही न आने दें। हिंसा का भाव उत्पन्न होने को उन्होंने भाव हिंसा की संज्ञान् प्रदान की है और भाव हिंसा के निराकरण को परम आवश्यक बताया है। यह बात पूर्णतः व्यावहारिक है। हम ऐसा संकल्प कर लें कि हम अपने मन से भाव हिंसा दूर करने का प्रयत्न करेंगे तो इससे प्राणिमात्र को सुख पहुंचाया जा सकता है। पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय के श्लोक सं. 55 में ठीक ही कहा है --

*"एकः करोति हिंसां भवन्ति फलभागिनो बहवः।*
*बहवो विदधति हिंसां, हिंसाफलभुग्भवत्येकः।"*[58]

पं. आशाधर जी ने तर्क द्वारा ठीक ही कहा है --

*"विष्वग्जीवचिते लोके क्व चरन् कोऽप्यमोक्ष्यत।*
*भावैकसाधनो बन्धमोक्षौ ध्रुवन्नाभविष्यताम्।।"*[59]

अर्थात्, यदि भाव के अधीन बन्ध मोक्ष की व्यवस्था न मानी जाए तो संसार का वह कौन सा भाग होगा, जहाँ मुमुक्षु पूर्ण अहिंसक बनने की साधना को पूर्ण करते हुए निर्वाण लाभ करेगा।

अहिंसा पर अधिकारपूर्ण विवेचन करने वाले अमृतचन्द्र सूरि कहते हैं--

*"सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तु निबंधना भवति पुंसः।*
*हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या।।"*[60]

अर्थात्, परमार्थ के निमित्त से मनुष्य को हिंसा का रंच मात्र भी दोष नहीं लगता, फिर भी हिंसा के आयतनों, स्थानों, साधकों की निवृत्ति परिणामों की निर्मलता के लिये अवश्य ही करनी चाहिये।

इससे स्पष्ट है कि हिंसा का सम्बन्ध शुद्ध-अशुद्ध परिणामों के साथ है। क्रोध त्यागने को अहिंसा और उसके सद्भाव को हिंसा साधारणतः सभी समझते हैं, पर जैन

ऋषि हिंसा के पर्यायवाची -- मान, माया, लोभ, शोक, भय, घृणा आदि को मानते हैं, क्योंकि इनके द्वारा ही चित्त की निर्मलता विकृत व मलिन होती है।

हिंसा चार प्रकार की बताई गई है -- संकल्पी, उद्योगी, आरम्भी और विरोधी। गृहस्थ केवल संकल्पी हिंसा का त्याग करता है। व्यापार आदि कार्यों में या गृहस्थी के आरम्भिक कार्यों में सावधानी रखते हुए भी जो हिंसा हो जाती है, वह उद्योगी और आरम्भी हिंसा है। अपने तथा अपने परिवार, धर्मघात, समाज पर किये गये आक्रमण से रक्षा के लिये अनिच्छापूर्वक की गई हिंसा विरोधी हिंसा है।

मेहता जी ने ब्राह्मणधर्मी हिन्दुओं को कौन से ग्राह्य अंश या गुण जैनों से प्राप्त किये हैं यह बताते हुए कहा -- "यज्ञ हिंसा के प्रति अरुचि दिखाने वाले प्रथम तो सांख्याचार्य कपिल थे। उन्होंने यज्ञ कर्म को सदोष कर्म बताया और अमुक यज्ञ से स्वर्ग मिलता हो, तो भी वह स्वर्गसुख समय पाकर हिंसा का फल प्रकट किये बिना नहीं रहता, ऐसा कहा।"[61] भागवत् सम्प्रदाय में वासुदेव श्रीकृष्ण द्वारा अहिंसा का कथन हुआ है, पर भगवान् कृष्ण के यादव कुल में मदिरापान का चलन होने से मद्य की सहभावी हिंसा सर्वांश में दूर न हो सकी थी। कुरु, पांचाल युद्ध के समय में पारस्परिक वैर के कारण हिंसा पूरे वेग से बढ़ी और भागवत-धर्म अहिंसा का पक्षपाती होते हुए भी हिंसा को रोक नहीं सका। अहिंसा के ऊपर जोर देने वाला यतियों का एक वर्ग मुंडक शाखा का था पर वे ये मानने को तैयार न थे कि वेद की हिंसा वेद प्रतिपादित होने पर गौणरूप है या हलके धर्मरूप है।

वैष्णव सम्प्रदाय के लोग भी अहिंसावादी हैं, पर उनका अहिंसावाद जैनियों जैसा नहीं है। वे मांस खाने के पक्षपाती नहीं थे। गांधी जी ने भी कहा था -- "मैं मर जाना पसंद करूँगा, परन्तु मांस कभी नहीं खाऊंगा, पशुओं का मांस खाना घोर नैतिक अपराध है।"[62] गांधी जी ने तो अहिंसा को ब्रह्मास्त्र मानकर युद्ध क्षेत्र तक में इसका उपयोग बताया। उन्होंने तो कहा था कि आत्मशक्ति पशुबल से श्रेष्ठतर है, अतः संसार के द्वेषभाव को मिटाने के लिये व मातृभाव की स्थापना करने के लिये अहिंसा को काम में लाना चाहिये। गांधी जी ने तो कहा कि, "हिंसा से हिंसा का ही जन्म होता है केवल अहिंसा से ही स्थायी शान्ति स्थापित हो सकती है। अहिंसा एक महाव्रत है। तलवार की धार पर चलने से भी कठिन है। उसके पालन के लिये घोर तपश्चर्या (त्याग और ज्ञान) की आवश्यकता है।"[63] यहाँ तक कि यदि कोई शत्रु हमारे देश पर चढ़ आए तो हमें द्वेष को छोड़कर अहिंसा की भावना से ओत-प्रोत होकर उसके सामने डट जाना चाहिये। शत्रु भले ही हमारे ऊपर हाथ उठाये पर हमें उसके विरुद्ध हाथ नहीं उठाना चाहिये। जब शत्रु की हिंसावृत्ति शान्ति हो जायेगी तो उसकी आत्मा चैतन्य होगी और वह अपनी भूल पर पश्चात्ताप कर युद्ध का अन्त कर देगा।

जैन धर्म में अहिंसा तत्त्व अत्यन्त श्रेष्ठ माना गया है। इसी तरह बौद्ध धर्म में व

ब्राह्मण धर्म में भी यह तत्त्व है, पर जैनियों ने इसे जितनी गहराई से देखा है उतना किसी ने नहीं।

"जैन धर्म का अहिंसातत्त्व संसार को सुख और शांति दे सकता है। कलह, विसंवाद, ईष्या, द्वेष का अन्त अहिंसा के द्वारा ही हो सकता है, जैन धर्म के संस्थापकों में ऋषभदेव और महावीर का नाम विशेष प्रसिद्ध है। मुझे इस धर्म का आचार-विचार बहुत प्रिय है।"[64]

भगवान ने अहिंसा का जो सुन्दर आदर्श जनता के सामने उपस्थित किया वह केवल युग के लिये ही नहीं, परन्तु युगयुगान्तर के लिये था, वे भविष्य काल के द्रष्टा थे, अतः ये जान सके थे कि हजारों वर्षों तक अहिंसा का कैसा प्रभाव रहेगा।

"जब संसार में कहीं किसी प्रकार की हिंसा दिखाई नहीं देगी, तो प्रत्येक व्यक्ति से देश में और देश से विदेश में, नैतिकता का जागरण हो जायेगा और प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को सहज रूप से पूरी करता हुआ शान्ति, सुख व आदर्शों से जी सकेगा, क्योंकि अहिंसा धर्म जीव की उन्नति करके उसे स्वर्गादिक के उत्तम सुखों को देकर परमात्मा बना देता है।"[65] जहाँ अहिंसा होगी, वहाँ समस्याएँ ही नहीं होगी। समस्याओं का समाधान स्वयमेव होता चला जायेगा और किसी वस्तु का अभाव नहीं रहेगा। यदि होगा भी तो वहाँ का व्यक्ति सन्तोष कर लेगा परन्तु अन्य को अपने द्वारा कष्ट नहीं होने देगा। इस प्रकार की भावना होने पर तथा आचरण करने पर समस्याओं का अस्तित्व ही नहीं होगा, उदाहरणतः यदि दो व्यक्तियों में झगड़ा हो जाता है और वह व्यक्ति अपनी गलती को स्वीकार कर लेता है तो गलती पर क्षमा माँग लेने से ही उनके बीच का झगड़ा उग्र रूप धारण नहीं करता। ठीक इसी प्रकार एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की आवश्यकता व उसके अधिकारों की सुरक्षा का ध्यान रखकर कार्य करेगा, तो विश्व की समस्याएँ देश-विदेश से लुप्त हो जायेंगी और सर्वत्र बन्धुत्व का वातावरण दिखाई देगा।

उपर्युक्त तर्कों को देखते हुए यदि मनुष्य अपना आचरण ठीक रखता है और इसी प्रकार विश्व भर के मनुष्यों द्वारा क्रियाप्रतिक्रिया होती है, तो विश्व- बंधुत्व का विकास निश्चित है। यदि अहिंसा का मार्ग प्रशस्त होगा तो समस्याएँ स्वयंमेव गायब हो जायेंगी।

अतः अन्त में हम यह कह सकते हैं, कि तत्त्वों में श्रेष्ठ तत्त्व अहिंसा के द्वारा ही विश्व समस्याओं का निदान सम्भव है।

*"तेसिं अच्छणजोए निच्च होयव्वयं सिया।*
*मणसा काय केण एवं भवइ संजए।।"*[66]

मन, वचन और भाव इनमें से किसी के द्वारा भी जीवों की हिंसा न हो, ऐसा

व्यवहार ही संयमी जीवन है। ऐसे जीवन का निरन्तर धारण ही अहिंसा है।

"महात्मा बुद्ध और हजरत ईसा मसीह ने भी द्वेष, द्वेष से शान्त नहीं होता बल्कि प्रेम से शान्त होता है, को स्वीकार किया है। मगर ईसा मसीह के अनुयायियों ने व्यावहारिक रूप से इसे स्वीकार नहीं किया। आज 1900 वर्षों के बीत जाने पर भी ईसाई देश बराबर युद्ध पर डटे हुए हैं, इससे पता चलता है कि इन महापुरुषों द्वारा स्वीकार किया हुआ अहिंसा का यह रूप केवल आदर्श मात्र है, बौद्ध देशों ने भी कभी युद्ध से मुँह नहीं मोड़ा। केवल महाराज अशोक का ऐसा उदाहरण है जिसने शस्त्र-विजय के स्थान पर धर्म-विजय का प्रचार किया।"[67] इसका प्रभाव किसी न किसी रूप में संसार के अधिकांश देशों में व्याप्त है।

हिन्दू धर्म में ईश्वर प्राप्ति को एक जीवन का आदर्श माना गया है। महर्षि पतंजलि ने अहिंसा की व्याख्या करते हुए कहा है कि --

*"अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।"*[68]

महर्षि पतंजलि ने ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग योगाभ्यास को बताया है। शुद्ध अहिंसा धर्म विकास की चीज है, हिन्दू धर्म का अहिंसावाद कहता है कि जहां तक हो सके हृदय को द्वेष से दूर करने की आदत डालनी चाहिये। युद्ध आ पड़े तो निर्भय होकर करना चाहिये ताकि सम्बन्ध में सुधार हो अर्थात् मैत्री भाव बढ़े।" अमेरिकन घरेलू युद्ध में जब सन् 1860 में उत्तर और दक्षिण की अमेरिकन फौजें हब्शियों की आजादी के सिद्धान्त पर रणक्षेत्र में भिड़ी तो दोनों दलों के सिपाही लोग शान्ति के समय आपस में मिलते, खाने की चीजें बाँटते और प्रेमालाप करते। वही सिपाही लड़ाई प्रारम्भ होने पर सेनापतियों का आदेश पाकर एक दूसरे पर बन्दूक दागते थे।"[69] कुरुक्षेत्र के युद्ध में भी ऐसा ही हुआ था। आर्यों का अहिंसावाद भी ऐसा ही था, कि सामाजिक नियन्त्रण और दुष्टों के दमन के लिये युद्ध की आवश्यकता है, मगर उसमें द्वेष रूपी विष को बीच में न फटकने देना चाहिये। इस प्रकार का अभ्यास भी यदि मनुष्य करे तो उसे ईश्वर-प्राप्ति हो सकती है। मनुष्य को शाति के लिये भरपूर कोशिश करनी चाहिये। भगवान् कृष्ण ने भी जब देखा कि दुर्योधन शान्ति की बात मानने को तैयार नहीं हैं तब लाचार होकर वे युद्ध के लिये तैयार हुए। निम्नलिखित पंक्तियाँ उनकी अहिंसात्मक प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालती हैं जैसे --

"हे अर्जुन ! जो शुभफल प्राणियों पर दया करने से प्राप्त होता है, वह फल न तो वेदों से, न समस्त यज्ञों के करने से और न किसी तीर्थ वंदन या स्थान से ही हो सकता है।"[70] महाभारत में यहाँ तक लिखा है --

*"मद्यमांसाशनं रात्रौ भोजनं कन्दभक्षणम्।*
*ये कुर्वन्ति वृथा तेषां तीर्थयात्रा जपस्तपः।।"*[71]

अर्थात्, जो मनुष्य शराब पीते हैं, मांस खाते हैं, रात को भोजन करते हैं, कंदमूल खाते हैं, उनकी तीर्थ-यात्रा और जप-तप करना व्यर्थ है। यह भी लिखा है--

*"अहिंसालक्षणो धर्मो ह्यधर्मः प्राणिनां वधः।*
*तस्माद् धर्मार्थिभिः नित्यं कर्त्तव्या प्राणिनाम् दया।।"*[72]

अर्थात्, धर्म का लक्षण अहिंसा है, जीवों का मारना अधर्म है। इस कारण धर्म के इच्छुक पुरुषों को प्राणियों पर दया करनी चाहिये।

समस्त वेदों का पाठ, यज्ञ, तप और बड़ो-बड़ो दान, जीव रक्षा के अंश बराबर नहीं है। भगवान महावीर ने कहा है कि, "जो प्राणी इन जीवों की हिंसा करता है, वह बार-बार इन्हीं योनियों में परिभ्रमण करता है।"[73]

विवेकी मानव इस बात का ध्यान रखता है कि मनुष्य जीवन श्रेष्ठ और उज्ज्वल कार्यों के लिये है। जो दिग्भ्राँत प्राणी उसे अर्थ अर्जन करने की मशीन सोच, येन-केन प्रकारेण सम्पत्ति-संचय का साधन मानते हैं और अपनी स्वार्थ पूर्ति में लगे रहते हैं, वे अपने यथार्थ कल्याण से वंचित रहते हैं। जबकि एक साधक या विवेकी को यह ध्यान रखना चाहिये कि वह ऐसा कार्य करे जिससे आत्मा की निर्मल वृत्ति का बात हो।" आज जो विश्व में विपत्ति और संकट का नग्न-नर्तन दिखाई पड़ रहा है उसका यथार्थ कारण यही है कि लोगों में 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना प्रसुप्त हो गई है और उसके स्थान पर स्वार्थ साधन की जघन्य एवं संकीर्ण दृष्टि जाग्रत हो उठी है।"[74] किसी ने ठीक ही कहा है --

*"यत्किन्चित्संसारे शरीरिणां दुःखशोकभयबीजम।*
*दौर्भाग्यादि समस्तं तद्धिंसासम्भवं ज्ञेयम्।।"*[75]

अर्थात्, इस संसार में जीवों के दुःख, शोक, भय के बीच स्वरूप दुर्भाग्य आदि का जो दर्शन होता है, वह सब हिंसा से उत्पन्न समझना चाहिये। एक कवि ने कहा है --

"Whoever places in man's path a snare: Himself will in the sequel stumble. These joys fruit upon the branch of kindness grows, who sows the bramble, will not pluck the rose."[76]

अर्थात्, जो दूसरे के मार्ग में जाल बिछाता है, वह स्वयं अन्त में गिरेगा। करुणा की शाखा में आनन्द के फल लगते हैं, जो काँटा बोता है, वह गुलाब को नहीं पायेगा।

## सन्दर्भ

1. उत्तराध्ययनसूत्र,19/16
2. पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, यजुर्वेदीय मैत्रायणी - आरण्यक भट्टारक : 1/4

3. उपनिषद्, 1/26
4. कठोपनिषद्, 1/6
5. गीता, 2/27
6. श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार, संतवाणी, पृ. 31, अनमोल बोल, सं. 236
7. वही, पृ. 238, अनमोल बोल, सं. 1830
8. पातंजलयोगदर्शन, 1/33
9. वही, 1/6
10. वही, 1/2
11. गीता, 6/35
12. स्वामी ब्रह्मलीन मुनि, पातंजलयोगदर्शनम्, पृ. 48, 1/12
13. जयदयाल गोयन्दका, तत्त्वचिन्तामणि, भाग 3, पृ. 155
14. इशोपनिषद्, 9
15. गीता, 3/6
16. वही, 2/59
17. पातंजलयोगदर्शनम्, पृ. 54
18. वही ( हिन्दी व्याख्याकार ), पृ. 55
19. गीता, 5/22
20. वही, 2/14
21. वही, 2/15
22. वही, 2/16
23. वही, 13/9-10
24. योगदर्शनसूत्र, साधनापाद, 15
25. गीता, 18/38
26. वही, 9/21
27. तत्त्वचिन्तामणि भाग 1, पृ. 229
28. श्रीमद्भागवत, 11/23/17
29. गीता, 15/3
30. वही, 15/4
31. वही, 15/5
32. वही, 12/13
33. वही, 12/18
34. कल्याण, वर्ष 54, निष्काम कर्मयोगांक, पृ. 67
35. तत्त्वचिन्तामणि, भाग 3, पृ. 54

36. गीता, 2/47
37. वही, 18/56-57
38. वही, 18/46
39. वही, 18/47
40. वही, 18/48
41. वही, 4/14
42. वही, 5/10
43. वही, 2/55-56
44. वही, 2/57-58
45. वही, 2/72
46. वही, 3/20
47. वही, 3/25
48. वही, 4/19-20
49. डॉ. वशिष्ठनारायण सिन्हा, जैन धर्म में अहिंसा, पृ. 181।
50. स्वामी समंतभद्र, बृहत् स्वयम्भू स्तोत्र, पृ. 119
51. पं. सुमेरुचन्द्र दिवाकर, जैनशासन, पृ. 130
52. कल्याण, वर्ष 47 का अंक - 12, पृ. 47
53. हिन्दू विश्व, सितम्बर 1975, पृ. 27
54. कल्याण, वर्ष 47, अंक 12, पृ. 1125
55. श्री अमृतचन्द्र स्वामी, पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, श्लोक 44
56. जैनशासन, पृ. 139
57. तत्त्वार्थसूत्र, अ. 7, श्लोक 13
58. दिव्यध्वनि, दिसम्बर-जनवरी, 1969, अंक 8, पृ.3
59. सागारधर्मामृत 4, 23
60. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक 49
61. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैनधर्म, पृ. 372
62. महात्मा गांधी, हिन्दू विश्व, सितम्बर 1975, पृ. 27
63. कल्याण, वर्ष 47, सं. 12, पृ. 1126
64. मदनमोहन मालवीय संस्थापक, हिन्दू विश्वविद्यालय काशी, पृ. 1
65. भगवान महावीर की अहिंसा -- आर्यिकारत्न ज्ञानमती माता जी अहिंसा संदेश, मार्च-अप्रैल 1979
66. दशवैकालिकसूत्र, 8/3
67. श्री सत्यदेव पारिव्राजक, हिन्दू धर्म की विशेषताएँ, पृ. 34-35

68. पातंजलयोगदर्शन, 2/35
69. हिन्दू धर्म की विशेषताएँ, पृ. 36
70. हिन्दू विश्व, सितम्बर, 1975, पृ. 27
71. क्षुल्लक श्री पार्श्वकीर्ति जी, विश्वधर्म की रूपरेखा, पृ. 130
72. वही, पृ. 131
73. सूत्रकृतांग, सूत्र - 7/1/1
74. जैनशासन, पृ. 162
75. आचार्य शुभचन्द्र, ज्ञानार्णव, पृ. 120
76. उद्धृत, जैनशासन, पृ. 162

# षष्ठ अध्याय

## (क) जैन धर्म के सम्प्रदाय

विचारों का इतिहास जितना पुराना है, लगभग उतना ही पुराना विचार भेद का इतिहास है। जैन धर्म एक प्राचीन धर्म है। यह संसार को शान्ति का उपदेश देता है। विद्वेष और घृणा को मिटाकर अहिंसा और सर्वधर्मसमभाव का प्रचार करना इसका मुख्य सिद्धान्त है। "कहा जाता है कि सबसे पहले इस भारतवर्ष में ऋषभदेव नाम के ऋषि उत्पन्न हुए थे। ये दयावान भद्र परिणामी पहले तीर्थंकर थे। उन्होंने मिथ्यात्व अवस्था को देखकर सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी मोक्ष शास्त्र का उपदेश दिया, यही जिन दर्शन इस कल्प में हुआ। इनके पश्चात् अजितनाथ से लेकर महावीर तक तेईस तीर्थंकर अपने-अपने समय में अज्ञानी जीवों का मोह नाश करते रहे।"[1] इन तीर्थंकरों ने धर्म का उपदेश किसी सम्प्रदाय विशेष की दृष्टि से नहीं किया था। उन्होंने तो जिस मार्ग पर चलकर स्वयं सुख प्राप्त किया, जन कल्याण के लिये भी उसी का प्रतिपादन किया। उनके उपदेश के सम्बन्ध में लिखा है --

*"अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम्।*
*ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते।।"*[2]

अर्थात्, जिस तरह से शिल्पी का हाथ पड़ते ही मृदंग से ध्वनि निकलती है, वैसे ही श्रोताओं की हितकामना से प्रेरित होकर वीतराग प्रभु के द्वारा हितोपदेश दिया जाता है, अतः उनका उपदेश किसी वर्ग विशेष या जाति विशेष के लिये न होकर प्राणिमात्र के लिये होता है। उसे सभी अपनी-अपनी रुचि, श्रद्धा और शक्ति के अनुसार समझ लेते हैं, पर जो लोग उसे ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं करते और जो कामाचार मात्र पसंद करते हैं, वे परस्पर में बँट जाते हैं और इस तरह से जैन धर्म में भी सम्प्रदाय स्थापित हो गया है। यद्यपि मूल सिद्धान्त को लें तो ये सम्प्रदाय एक ही हैं मात्र इनमें व्यवहार, क्रिया और आचरण से भेद है --

जैन धर्म में अनेक सम्प्रदाय हुए हैं परन्तु मुख्य सम्प्रदाय दो हैं -- दिगम्बर और श्वेताम्बर। दिगम्बर का शाब्दिक अर्थ होता है 'आकाश-वस्त्र' अर्थात्, आकाश ही जिसका वस्त्र है। दिगम्बर साधु किसी भी प्रकार का वस्त्र नहीं पहनते हैं।

श्वेताम्बर का शाब्दिक अर्थ होता है 'श्वेत-वस्त्र' अर्थात्, सफेद वस्त्र धारण करने वाला। श्वेताम्बर साधु श्वेत-वस्त्र धारण करते हैं।

भगवान महावीर के संघ में सचेल और अचेल दोनों प्रकार के श्रमणों का समवाय था। 'सचेलक' और 'श्वेताम्बर' शब्द एक ही अर्थ के द्योतक है तथा 'अचेलक' और दिगम्बर" शब्द एक ही भाव व्यक्त करते हैं। "आचारांग में सचेल और अचेल दोनों प्रकार के श्रमणों का वर्णन है।"[3] "सचेल मुनि के लिये वस्त्रैषणा का वर्णन आयारचूला में है।"[4] "उत्तराध्ययन में अचेल और सचेल दोनों अवस्थाओं का उल्लेख है।"[5] "आगम काल में अचेल मुनि जिनकल्पिक और सचेल मुनि स्थविरकल्पिक कहलाते थे।"[6]

"भगवान महावीर के महान् व्यक्तित्व के कारण आचार की द्विविधता का जो समन्वित रूप हुआ, वह जम्बू स्वामी तक उसी रूप में चला। उनके पश्चात् आचार्य परम्परा का भेद मिलता है। श्वेताम्बर-पट्टावलि के अनुसार जम्बू स्वामी की मृत्यु के पश्चात् शय्यम्भव, यशोभद्र, सम्भूत विजय और भद्रबाहु हुए और दिगम्बर मान्यता के अनुसार नन्दी, नन्दीमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु हुए।"[7]

श्वेताम्बर साहित्य के अनुसार भी प्रथम जिन श्री ऋषभदेव ने और अन्तिम जिन श्री महावीर ने तो अचेलक धर्म का ही उपदेश दिया किन्तु बीच के बाईस तीर्थंकरों ने सचेल और अचेल दोनों धर्मों का उपदेश दिया। जैसा कि पंचाशक में लिखा है --

*"आचेलक्को धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।*
*मज्झिमगाणं जिणाणं होई सचेलो अचेलो य।।"*[8]

यद्यपि दिगम्बर परम्परा यह नहीं मानती कि बीच के 22 तीर्थंकरों ने सचेल और अचेल धर्म का निरूपण किया था। यह तो सभी तीर्थंकरों के द्वारा अचेल मार्ग का ही प्रतिपादन होना मानती है।

भगवान महावीर की मृत्यु के बाद जैन धर्म का दो दलों में बँटने का एक अलग इतिहास है। महावीर के शिष्य विभिन्न समूहों में विभिक्त थे, जो गण कहलाते थे। इनके प्रमुख को 'गणधर' कहते थे। 'गणधरों' की संख्या 11 (ग्यारह) थी -- इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुधर्मा, मंडित, मौर्यपुत्र, अंकपित, अचलभ्राता, मेतार्य और प्रभास। इनके अतिरिक्त गोशाल और जामालि के नाम भी महावीर के शिष्यों में पाये जाते हैं। शिष्यों की यह परम्परा 317 ई० पूर्व तक अविभक्त बनी रही। इन आचार्यों में भद्रबाहु नामक आचार्य ने संघ का दायित्व 317 ई० पूर्व में सँभाला और उसे निभाया। लोग कहते हैं कि 310 ई० पूर्व में मगध में द्वादशवर्षीय एक बहुत बड़ा अकाल पड़ा जिसका कि प्रभाव जैन संघ पर पड़ा। "संघ का दायित्व सात वर्षों तक तो उन्होंने ठीक सँभाला, परन्तु 310 ई० पूर्व में इस दायित्व को अपने शिष्य 'स्थूलभद्र' के ऊपर छोड़कर वे भी दक्षिण की ओर भ्रमण के उद्देश्य से चल पड़े।"[9] शेष शिष्य स्थूलभद्र के साथ वहाँ रह गये थे। स्थूलभद्र के आधिपत्य में रहने वाले साधुओं ने सामयिक परिस्थितियों से पीड़ित होकर वस्त्र, पात्र, वगैरह उपाधियों को स्वीकार कर लिया था।" कुछ दिनों बाद जब भद्रबाहु के शिष्य दक्षिण

भ्रमण से लौटे तो उनके सामने कुछ प्रस्ताव स्वीकृति के लिये रखे गये। वे प्रस्ताव उनको पसन्द नहीं थे। इसलिये उन्होंने अपनी स्वीकृति नहीं दी। क्योंकि जब भद्रबाहु अपनी दक्षिण यात्रा पर थे, उसी बीच स्थूलभद्र की आज्ञा से जैन साधु वस्त्र पहनने लगे थे। यह बात भी भद्रबाहु की परम्परा को बहुत अखरी। वे अपने भक्त शिष्यों का एक दल बनाकर पुराने आदर्शों पर अडिग रहे। विवाद बढ़ने लगा। इस प्रकार जैन साधुओं के दो दल हो गये -- श्वेताम्बर और दिगम्बर।"[10]

श्वेताम्बर साहित्य में दिगम्बरों की उत्पत्ति के विषय में एक कथा मिलती है जिसका आशय इस प्रकार है -- "रथवीरपुर में शिवभूति नाम का एक क्षत्रिय रहता था। उसने अपने राजा के लिये अनेक युद्ध जीते थे। इसलिये राजा उसका सम्मान करता था। इससे वह बड़ा घमंडी हो गया था। एक बार वह बहुत रात हो जाने पर अपने घर लौटा तो माँ ने फटकारा और द्वार नहीं खोला, तब वह एक मठ में पहुँचा और साधु हो गया। जब राजा को इस बात की सूचना मिली तो उसने उसे एक बहुमूल्य वस्त्र भेंट किया। आचार्य ने उस वस्त्र को लौटा देने की आज्ञा दी किन्तु शिवभूति ने नहीं लौटाया। आचार्य ने उस वस्त्र के टुकड़े करके उनके आसन बना डाले। इस पर शिवभूति अत्यन्त क्रोधित हुआ और उसने कहा कि मैं भी महावीर की तरह वस्त्र नहीं पहनूँगा। ऐसा कहकर उसने सब वस्त्रों का त्याग कर दिया। उसकी बहन ने भी उसका अनुसरण किया, तब शिवभूति ने अपनी बहन को मना करते हुए बताया कि स्त्री नग्न नहीं रह सकती। इस तरह भगवान महावीर के निर्वाण के 609 वर्ष बाद बोटिकों की उत्पत्ति हुई और उनमें से दिगम्बर सम्प्रदाय उत्पन्न हुआ।"[11] उसके प्रमाण में यह गाथा दी जाती है --

*"छव्वास सयाइं नवुत्तराइं तइया सिद्धिं गयस्स वीरस्स।*
*तो बोडियाणं दिट्ठी रहवीरपुरे समुप्पण्णा।।"*

"दिगम्बर ग्रन्थों में श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति का जो वर्णन मिलता है। जिससे प्रकट है कि स्त्री-मुक्ति आदि में मतभेद होने के कारण उनकी उत्पत्ति हुई थी।"[12]

परन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय से दिगम्बर की उत्पत्ति बतलाना उचित नहीं है, क्योंकि हम जानते हैं कि जैन धर्म के आदि प्रवर्तक भगवान ऋषभदेव और अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर के साधु नग्न (निगन्थ) रहा करते थे।"[13] भागवत में कहा गया है -- चौदह मनुओं में पहले मनु स्वयम्भू के प्रपौत्र नाभि का पुत्र ऋषभदेव हुआ जो जैन सम्प्रदाय का आदि प्रचारक था। इनके जन्मकाल में सभ्यता की बाल्यावस्था थी।"[14] डॉ० स्टीवेन्सन ने दिगम्बर सम्प्रदाय की प्राचीनता बताते हुए कहा है --

"It is much more likely however, from what is said above, that the Shvetamber party originated about that time (a century before A. D.) and not the Digamber".[15]

दिगम्बर मान्यतानुसार श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति विक्रम राजा की मृत्यु के 136 वर्ष में हुई। दोनों में वे मात्र तीन वर्ष का अन्तर होने से दोनों की उत्पत्ति का काल तो लगभग एक ही ठहरता है। श्वेताम्बर मुनि कल्याण विजयजी के अनुसार -- "आर्यरक्षित के स्वर्गवास के बाद धीरे-धीरे साधुओं का निवास बस्तियों में होने लगा और इसके साथ ही नग्नता का भी अन्त होता गया। पहले बस्ती में जाते समय बहुधा कटिबन्ध का उपयोग होता था। यह बस्ती में बसने के बाद निरन्तर कम होने लगा। धीरे-धीरे कटि-वस्त्र का आकार-प्रकार बदलता गया। पहले मात्र शरीर का गुह्य अंग ही ढकने का विशेष ध्यान रहता था, पर बाद में सम्पूर्ण नग्नता को ढक लेने की आवश्यकता समझी गयी और इसके लिये वस्त्र का आकार-प्रकार भी बदलना पड़ा। इसी तरह पहले प्रति व्यक्ति एक ही पात्र रखा जाता था। पर आर्यरक्षित सूरि ने वर्षाकाल में मात्रक नामक एक अन्य पात्र रखने की जो आज्ञा दे दी थी उसके फलस्वरूप आगे जाकर मात्रक एक अवश्य धारणीय उपकरण हो गया। इसी तरह झोली में भिक्षा लाने का प्रचलन भी लगभग इसी समय प्रारम्भ हुआ, जिसके कारण पात्रनिमित्तक उपकरणों की वृद्धि हुई।"[16] श्वेताम्बर मुनि अपने पास -- 1. पात्र, 2. पात्रबंध, 3. पात्रस्थापन, 4. पात्र प्रमार्जनिका, 5. पटल, 6. रजस्त्राण, 7. गुच्छक, 8-9. दो चादरें, 10. ऊनी वस्त्र (कम्बल), 11. रजोहरण, 12. मुखपट्टी, 13. मात्रक, 14. चोलापट्टक आदि रखते थे।

एक ओर श्वेताम्बर परम्परा में इस तरह साधुओं की उपधि में वृद्धि होती गयी, दूसरी ओर 'आचारांग' में जो अचेलकता के प्रतिपादक उल्लेख थे, उन्हें जिनकल्पी का आचार करार दे दिया और जिनकल्प का विच्छेद होने की घोषणा करके महावीर के अचेलक मार्ग को उठा देने का ही प्रयास किया गया तथा उत्तरकाल में साधु के वस्त्रपात्र का समर्थन बड़े जोर से किया गया, यहाँ तक कि नग्न विचरण करने वाले महावीर के शरीर पर इन्द्र द्वारा देवदूष्य डलवाया गया। जैसा कि पं० बेचरदास जी ने लिखा है -- "अगम्य जंगल में, भीषण गुफा में या चाहे जैसे पर्वत के दुर्गम शिखर पर भावना भाते हुए केवल ज्ञान प्राप्त हुए पुरुष या स्त्री को जैन-दीक्षा के लिये शासन देव कपड़े पहनाता है और वस्त्र के बिना केवल ज्ञानी को अमहाव्रती तथा अचारित्री कहने में भी नहीं हिचकिचाये। कोई मुनि वस्त्ररहित रहे, ये बात उन्हें नहीं रुचती। इनके मत से वस्त्र-पात्र के बिना किसी की गति ही नहीं होती।"[17]

दूसरी ओर दिगम्बर परम्परा के आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट घोषणा कर दी थी--

*'ण' वि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो।*
*णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे।।*[18]

अर्थात्, जिन शासन में तीर्थंकर ही क्यों न हो, यदि वह वस्त्रधारी है तो सिद्धि

को प्राप्त नहीं हो सकता। नग्नता ही मोक्ष का मार्ग है, शेष सब उन्मार्ग हैं। साथ ही साथ उन्होंने यह भी कहा --

*"नग्गो पावइ दुक्खं नग्गो संसारसायरे भमइ।*
*नग्गो न लहइ बोहिं जिणभावणवज्जिओ सुइरं।।"*[19]

जिन भावना से रहित नग्न दुःख पाता है, संसार रूपी सागर में भटकता है और उसे चिरकाल तक ज्ञान लाभ नहीं होता।

इस तरह एक ओर के शिथिलाचार और दूसरी ओर की दृढता के कारण संघभेद के बीज में अंकुर फूटते गये और धीरे-धीरे उन्होंने वृक्ष और महावृक्ष का रूप धारण कर लिया। श्वेताम्बरों के कथनानुसार इस समय दिगम्बर सम्प्रदाय उत्पन्न हुआ और दिगम्बरों के कथनानुसार इस समय श्वेताम्बर सम्प्रदाय उत्पन्न हुआ। पर किंवदन्ती के अनुसार वीर निर्वाण 609 वर्ष के पश्चात् दिगम्बर सम्प्रदाय का जन्म हुआ, यह श्वेताम्बर मानते हैं और दिगम्बर मान्यता के अनुसार वीर निर्वाण 606 में श्वेताम्बर सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ।"[20]

ये दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय एक ही वृक्ष की दो शाखाएं हैं। प्राचीन काल में दिगम्बरी और श्वेताम्बरी प्रतिमाओं का भेद नहीं था। दोनों ही नग्न प्रतिमाओं को पूजते थे। मुनि जिनविजय जी ने लिखा है --

"मथुरा के कंकाली टीला में जो लगभग दो हजार वर्ष की प्राचीन प्रतिमाएँ मिली हैं, वे नग्न हैं और उन पर जो लेख हैं वे श्वेताम्बर कल्पसूत्र की स्थविरावली के अनुसार हैं।"[21] दिगम्बर वेष तो जैन धर्म में सनातन और प्राचीन है।"

इसी तरह 17वीं शताब्दी के श्वेताम्बर विद्वान् ने लिखा है -- "गिरनार और शत्रुंजय पर एक समय दोनों सम्प्रदायों में झगड़ा हुआ और उसमें शासन देवता की कृपा से दिगम्बरों की पराजय हुई। जब इन दोनों तीर्थों पर श्वेताम्बर सम्प्रदाय का अधिकार सिद्ध हो गया, तब आगे किसी प्रकार का झगड़ा न हो सके, इसके लिए श्वेताम्बर संघ ने यह निश्चय किया कि भविष्य में जो नयी प्रतिमाएँ बनवायी जायें, उनके पादमूल में वस्त्र का चिह्न बना दिया जाय। यह सुनकर दिगम्बरियों को क्रोध आ गया और उन्होंने अपनी प्रतिमाओं को स्पष्ट नग्न बनाना शुरू कर दिया। यही कारण है कि सम्प्रति राजा आदि की बनवायी हुई प्रतिमाओं पर वस्त्र-लांछन नहीं है और स्पष्ट नग्नत्व भी नहीं है।"[22] इससे स्पष्ट होता है कि पहले दोनों सम्प्रदायों की प्रतिमाओं में भेद नहीं था, पर अब तो इनकी प्रतिमाओं में अन्तर देखकर आश्चर्य होता है। बेचरदास जी ने लिखा भी है -- "श्वेताम्बर सम्प्रदाय कडोरा कटिसूत्र वाली मूर्ति को पसन्द करता है, और उसे ही मुक्ति का साधन समझता है। वीतराग संन्यासी फकीर की प्रतिमा को जैसे किसी बाल को गहनों से लाद

दिया जाता है, उसी प्रकार आभूषणों से श्रृंगारित कर उसकी शोभा में वृद्धि को समझता है और परमयोगी वर्द्धमान या इतर किसी वीतराग की मूर्ति को विदेशी पोशाक जाकिट, कालर, घड़ी आदि से सुसज्जित कर उसके खिलौने आदि बनाकर उसका जितना भी सौन्दर्य नष्ट कर सके उसमें अपने मानव जीवन की सफलता समझता है।"[23]

मूल ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी दोनों के मतों में अन्तर मिलता है। "जहाँ तक जैनों के मूल-ग्रन्थों का प्रश्न है, उनका कहना है कि प्रारम्भ में ये 14 'पूर्वों' तथा 11 'अंगों' के रूप में थे, जिनमें से सभी 'पूर्व' खो गए, किन्तु दिगम्बरों का कहना है कि सभी 'अंग' खो गए। आज जो ग्रन्थ 11 अंगों के नाम से प्रचलित हैं उन्हें श्वेताम्बर ही प्रामाणिक मानते हैं, जबकि दिगम्बरों की दृष्टि में वे सही नहीं हैं। जो भी हो, ये 11 'अंग' ही वे प्राचीनतम जैन साहित्यिक कृतियाँ हैं जो हमें उपलब्ध हैं। लम्बे समय तक ये ग्रन्थ मौखिक रूप से ही एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी के पास आते रहे और 454 में आकर उनका अन्तिम सम्पादन हुआ। लेकिन यह जैन दर्शन के क्रमबद्ध निरूपण के लिए मूलभूत ग्रन्थ है, श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों द्वारा अपनाया गया उमास्वाति का 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' है। जैन दर्शन का समूचा परवर्ती प्रतिपादन इसी ग्रन्थ पर आधारित है।"[24]

इस तरह दोनों दलों में निम्न भेद दिखाई पड़ते हैं --

1. दिगम्बर मान्यतानुसार मूल सिद्धान्त ग्रन्थ बिल्कुल ही नहीं रहे, परन्तु श्वेताम्बर मत के अनुसार अभी भी बहुत से मूल ग्रन्थ सुरक्षित हैं।

2. दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार साधुओं को कोई वस्त्र धारण नहीं करना चाहिये। दूसरी ओर श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार जैन साधुओं को श्वेत-वस्त्र पहनना चाहिये।

3. दिगम्बर सम्प्रदाय में केवली के कवलाहार का निषेध है जबकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय केवली का कवलाहार स्वीकार करता है।

4. दिगम्बर सम्प्रदाय में स्त्री-मुक्ति का निषेध है जबकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय स्त्री-मुक्ति स्वीकार करता है। यहाँ तक कि 19 वें तीर्थंकर श्री मल्ली को वे स्त्री स्वीकारते हैं।

*"भुंक्ते न केवली न स्त्री मोक्षमेति दिगम्बरः।*
*प्राहुरेषमयं भेदो महान् श्वेताम्बरैः सह।।"*[25]

दूसरी ओर श्वेताम्बर सम्प्रदाय के लोग इस बात का खंडन करते हैं। उनका कहना है कि तीर्थंकर परम्परा में उन्नीसवाँ तीर्थंकर 'मल्ली' स्त्री-जाति की थी। अतः स्त्रियों के लिये कोई प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिये।

5. दिगम्बर सम्प्रदाय के लोगों का यह विश्वास है कि महावीर ने शादी नहीं की

थी, किन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय के लोगों का कहना है कि महावीर ने शादी की थी और उनकी एक पुत्री भी थी।

6. दिगम्बर लोग तीर्थंकरों का मूर्तियों को किसी भी प्रकार नहीं सजाते, लेकिन श्वेताम्बर लोग उनहें अच्छी तरह सजाते हैं।

7. दिगम्बर सम्प्रदाय के लोगों का कहना है कि स्थूलभद्र नामक शिष्य ने पाटलिपुत्र में जो सभा की थी और जैन धर्म ग्रन्थों का जो संग्रह किया था, सभी गलत बातें हैं, इसका कारण यह है कि उन सबके पहले ही जैन धार्मिक ग्रन्थों का नाश हो चुका था। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के लोग इस बात पर बिल्कुल विश्वास नहीं करते।

8. श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदाय में भद्रबाहु आचार्य का नाम माना जाता है। "श्वेताम्बर मत के अनुसार भद्रबाहु नेपाल गये थे और बहुत दिनों तक वहीं पर तपस्या में लीन रहे थे।"[26] और दिगम्बर मत के अनुसार चन्द्रगुप्त के शासनकाल (ईस्वीं पूर्व 322-298) में जैन-संघ के अधिनायक भद्रबाहु कुछ अन्य साधुओं के साथ दक्षिण भारत चले गये थे। वहाँ जाकर वे सब मैसूर के श्रवणवेलगोला नामक स्थान पर रहने लगे थे।

9. इसी तरह श्वेताम्बर मतानुसार श्रुतकेवली भद्रबाहु की मृत्यु महावीर निर्वाण से 170 वर्ष बाद हुई जबकि दिगम्बर मतानुसार भद्रबाहु का देहावसान महावीर निर्वाण के 162 वर्ष बाद हुआ।"[27]

10. श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार महावीर विक्रम संवत् से 470 वर्ष पूर्व मुक्त हुए थे और दिगम्बर परम्परा के अनुसार उन्हें शक संवत् से 605 वर्ष पूर्व मुक्ति प्राप्त हुई थी।

11. श्वेताम्बर मत के अनुसार भगवान महावीर के बड़े भाई नन्दिवर्द्धन थे और भगवान महावीर 82 दिन एक ब्राह्मणी के गर्भ में रहे, जबकि दिगम्बर सम्प्रदाय इसे नहीं मानता।

12. अतिशयों के विषय में भी दोनों में मतभेद है। भगवान महावीर के चौंतीस अतिशय माने गये हैं, जो तीन भागों में विभक्त हैं --

(i) सहजातिशय (जन्म के)
(ii) कर्मक्षय अतिशय और
(iii) देवकृत अतिशय।

**सहजातिशय** -- (अ) दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार सहजातिशय निम्न प्रकार के दस हैं --

(क) दुग्ध के समान श्वेत रुधिर

(ख) सुन्दर रूपवाला शरीर
(ग) स्वेदरहित शरीर
(घ) सुगन्धित शरीर
(ङ) मलरहित शरीर
(च) सुलक्षण शरीर
(छ) अनन्तबल
(ज) प्रियवचन
(झ) समचतुसंस्थान
(ट) वज्रऋषभनाराच संहनन

(ब) श्वेताम्बर मान्यतानुसार सहजातिशय चार हैं --

(क) दुग्ध के समान श्वेत रुधिर
(ख) स्वेदरहित शरीर
(ग) सुन्दर रूपवाला सुगन्धित तथा रोग और मलरहित शरीर
(घ) आहार तथा नीहार चर्म चक्षु से न दिखाई देते
(ङ) श्वासोच्छ्वास में - कमल जैसी सुगन्ध होती है

दोनों में पहला अतिशय समान है। दिगम्बरों के दूसरे से पाँचवें नम्बर तक के चार अतिशय श्वेताम्बरों के दूसरे अतिशय में शामिल हो जाते हैं। अतः दिगम्बरों के पाँच अतिशय और श्वेताम्बरों के दो अतिशय असमान रह जाते हैं।[28]

**कर्मक्षय अतिशय** -- जो अतिशय कर्मों के क्षय से होते हैं, वे 'कर्मक्षय अतिशय' कहलाते हैं। परन्तु इनमें से बहुत से अतिशय सामान्य केवलियों के नहीं पाये जाते, इसलिये इन्हें तीर्थंकरत्वातिशय ही कहना चाहिये। इन अतिशयों के विषय में भी दोनों में मतभेद है।

| दिगम्बर मान्यता | श्वेताम्बर मान्यता |
|---|---|
| (क) सौ योजन तक सुभिक्ष | (क) दुर्भिक्ष न पड़े |
| (ख) गगन-गमन | (ख) समवसरण में देव, मनुष्य और तिर्यंच करोड़ों की संख्या में बैठ सकते हैं |
| (ग) प्राणिवधाभाव | (ग) वैर उत्पन्न न हो, पुराना वैर चला जाय |
| (घ) कवलाहार न होना | (घ) पच्चीस योजन तक चारों तरफ रोग न हो, हो तो चला जाय |

| | |
|---|---|
| (ङ) उपसर्ग न होना | (ङ) स्वचक्र परचक्र का भय न हो |
| (च) चार मुख दिखना | (च) भुखमरी न फैले |
| (छ) सर्वविद्याप्रभुत्व | (छ) अतिवृष्टि न हो |
| (ज) प्रतिबिम्बरहितता | (ज) अनावृष्टि न हो |
| (झ) पलकों की स्थिरता | (झ) भगवान की वाणी मनुष्य तिर्यंच और देव अपनी-अपनी भाषा में समझें |
| (ट) नख-केश न बढ़ना | (ट) भगवान की वाणी एक योजन तक एक समान फैले |
| (ठ) सूर्य से बारह गुना तेजवाला | (ठ) भामण्डल प्रभु के पीछे मस्तक के पास हो[29] |

---

देवकृत अतिशय -- इस विषय में भी दोनों सम्प्रदायों में मतभेद है।

---

| दिगम्बर मान्यता | श्वेताम्बर मान्यता |
|---|---|
| (क) अर्धमागधी भाषा | (क) चौबीस चमर |
| (ख) पारस्परिक मित्रता | (ख) पादपीठ सहित सिंहासन |
| (ग) सब ऋतुओं के फलफूल उत्पन्न हों | (ग) सब ऋतुएँ अनुकूल रहें |
| (घ) दर्पण सदृश भूमि | (घ) तीन छत्र |
| (ङ) सब लोग प्रसन्न हों | (ङ) रत्नमय धर्मध्वज |
| (च) वायु अनुकूल रहे | (च) एक योजन तक अनुकूल वायु हो |
| (छ) गन्धोदक की वृष्टि | (छ) सुगन्धित जलवृष्टि |
| (ज) चरणों के नीचे कमल रचना | (ज) सुवर्णकमल ऊपर चले |
| (झ) भूमि कण्टकरहित हो | (झ) कण्टक अधोमुख हो जाये |
| (ट) अठारह तरह का धान्य पैदा हो | (ट) मणि, सुवर्ण और चाँदी के तीन कोट हों |
| (ठ) दिशा और आकाश निर्मल हो | (ठ) चार मुख से उपदेश देते हुए दिखाई देते हों |
| (ड) आगे-आगे धर्मचक्र चले | (ड) आकाश में धर्मचक्र हो |
| (ढ) अष्टमंगल द्रव्यों का साथ रहना | (ढ) शरीर से बारह गुना ऊंचा अशोक वृक्ष |
| (ण) इन्द्र की आज्ञा से सब देवों को निमन्त्रण दिया | (ण) सर्व वृक्ष झुककर प्रणाम करें |

(त) आकाश में दुन्दुभि बजे
(थ) मयूर आदि पक्षी प्रदक्षिणा करें
(द) पुष्प वृष्टि
(ध) नख-केश नहीं बढ़े
(न) कम से कम एक करोड़ देव पास में रहें

---

ये जो अतिशय बताये गये हैं, उनमें से बहुत से अतिशय ऐसे हैं, जो कभी-कभी होते थे और ज़ो सदा के लिये माने गये।[30]

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार दिगम्बरों की उत्पत्ति महावीर के निर्वाण के 609 वर्ष बाद (विक्रम संवत् 136-82 ई.पू.) हुई है।[31] जबकि अन्यत्र श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति का इतिहास देवसेनसूरिकृत भाव-संग्रह में इस प्रकार दिया है। "विक्रमादित्य की मृत्यु के 139 वर्ष बाद सौराष्ट्र देश की वलभी नगरी में श्वेताम्बर संघ उत्पन्न हुआ।"[32] दोनों में तीन वर्ष का अन्तर दिखता है।

इस तरह से "दोनों उप-सम्प्रदायों के पास एक दूसरे की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अपने-अपने दन्तकथा-मूलक वर्णन हैं, लेकिन इस आपसी फूट का वास्तविक इतिहास हमें उपलब्ध नहीं है। इन उप-सम्प्रदायों के आपसी मतभेद मुख्य रूप से कर्मकाण्डीय अनुष्ठानों को लेकर हैं और ऐसे मतभेदों का हमारे लिए विशेष उपयोग नहीं है।"[33] इसी तरह श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों का यह कहना है कि -- "श्वेताम्बर से दिगम्बर शाखा निकली, यह भी नहीं कहा जा सकता और दिगम्बर से श्वेताम्बर शाखा का उद्भव हुआ, यह भी नहीं कहा जा सकता। दोनों सम्प्रदाय अपने को मूल और दूसरे को अपनी शाखा बताते हैं, पर सच तो यह है कि साधना की दो शाखाएँ समन्वय और सहिष्णुता के विराट प्रखण्ड का आश्रय लिये हुए थीं। वे उसका निर्वाह नहीं कर सकीं। काल परिपाक से पृथक् हो गईं। अथवा यह कहा जा सकता है कि एक दिन साधना के दो बीजों ने समन्वय के महातरु को अंकुरित किया और एक दिन वही महातरु दो भागों में विभक्त हो गया।"[34]

इन दोनों की परस्पर खींचा-तानी के कारण जैन संघ में जो भेद पड़ा वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया और उसी के कारण आगे जाकर दोनों सम्प्रदायों में भी अनेक अवान्तर पन्थ उत्पन्न होते गये जैसे -- "श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्रधानतः तीन प्रभेद हैं -- मूर्तिपूजक, स्थानकवासी और तेरापन्थी। दिगम्बर सम्प्रदाय के भी तीन प्रभेद हैं -- बीसपंथी, तेरहपंथी और तारणपंथी।

मूर्तिपूजक तीर्थंकरों की मूर्तियों की पूजा करते हैं। स्थानकवासी मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं करते। तेरापंथी भी मूर्तिपूजा का समर्थन नहीं करते। अहिंसा के सम्बन्ध में

इनका अन्य जैन सम्प्रदाओं के साथ कुछ मतभेद है। बीस पंथी मूर्तिपूजा में फल-फूल आदि का प्रयोग करते हैं। लेकिन तेरह पंथी केवल निर्जीव वस्तुएँ ही काम में लाते हैं।"[35] श्वेताम्बर साधु मेघविजय ने मुक्तिप्रबोध नामक ग्रन्थ (पं. बनारसीदास के मत का खंडन करने के लिये रचा है) में कहा है कि --

*"तम्हा-दिगम्बराणं एए भट्टारगा वि णो पुज्जा।*
*तिलतुसमेत्तो जेसिं परिग्गहो णेव ते गुरुणो।*
*जिणपडिमाणं भूसणमल्लारुहणाइ अंगपरियरणं।*
*वाणारसिओ वारइ दिगंबरस्सागममाणा ए।।"*[36]

अर्थात्, दिगम्बरों के भट्टारक भी पूज्य नहीं हैं। जिनके तिलतुष-मात्र भी परिग्रह है, ये गुरु नहीं है। बनारसी मत वाले जिनप्रतिमाओं को भूषण-माला पहनाने का तथा अंग-रचना करने का भी निषेध करते हैं तथा दिगम्बर आगमों की आज्ञा को मान्य करते हैं। तारणपंथी पूजा के लिए मूर्तियों के स्थान पर धार्मिक ग्रन्थों को रखते हैं।

अन्त में ये कहा जा सकता है कि परस्पर मत विभिन्नता दोनों में जो भी हो, पर कोई भी जैनी चाहे वह दिगम्बर हो या श्वेताम्बर वीतराग भाव को ही धर्म मानेगा। राग, द्वेष और मोह को संसार मानेगा जैसा कि कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है --

*"रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसम्मतो।*
*एसो जिणो वेद सो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज।।"*

इसी तरह --

*"अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमओ अणण्णमओ।*
*लहइ अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं।।"*[37]

अतः "मानव यदि इसी आत्मा के स्वरूप में नित्यरत हो, इसी में संतोष माने, इसी में ही तृप्त रहे तो उसे उत्तम सुख होगा। जैनियों का एक मुख्य सिद्धान्त आत्मोन्नति है, उसका उपाय आत्मा का ध्यान है, इसमें कोई जैनी भिन्न सम्मति नहीं रखता। दूसरा जैनों का तत्त्व अहिंसा है। इसमें भी सब जैनों का एक मत है। अहिंसा का स्वरूप सब ऐसा ही मानते हैं।"[38] जैसा कि अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है --

*"यत् खलु कषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।*
*व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा।"*[39]

अतः दिगम्बर हो या श्वेताम्बर सभी का निश्चय मार्ग एक सा ही है। दोनों ही आत्मध्यान व निर्विकल्प समाधि से ही मोक्ष मानते हैं। दोनों ही अहिंसा को धर्म मानते हैं। इनके व्यवहार में बहुत थोड़ा भेद है। दोनों ही मन में ऐसी भावना रखते हैं --

"सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदम्।
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ,
सदा ममात्मा विदधातु देव।।"[40]

ऐसा ही सार तत्त्व, नौ पदार्थ, छः द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, चौदह गुणस्थान के सम्बन्ध में दोनों का मत एक है।

इस तरह से सारांश रूप में कह सकते हैं कि दिगम्बर और श्वेताम्बर दो शाखाओं का विभाजन उपशाखा और उपसम्प्रदाय में भी हुआ, पर फिर भी सब भगवान महावीर की सन्तान हैं और एक वीतराग देव को ही मानने वाले हैं।

## (ख) प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय

जैन धर्म दर्शन तथा हिन्दू धर्म दर्शन के आचार और नीतिपक्ष का इस शोध निबन्ध में जो समालोचनात्मक और तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है, उससे यह निष्कर्ष फलित होता है कि दोनों ही दृष्टियों में प्रवृत्ति और निवृत्ति के तत्त्व विद्यमान हैं और पूर्ण जीवन के लिये दोनों की आवश्यकता है। ऐसे तो वैदिक या हिन्दू सभ्यता तथा संस्कृति में प्रवृत्ति की प्रधानता है ही, फिर भी यह नहीं कह सकते कि समयानुसार निवृत्ति पर इसमें बल न दिया गया हो। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही यद्यपि भिन्न-भिन्न परिणतियाँ हैं, तथापि इनमें से प्रत्येक को एक दूसरे की अपेक्षा रहती है। जैन दर्शन और धर्म में जो कठोरता नियम संयम और आचार को प्रमुखता दी गयी है और जिसके सम्बन्ध में इस शोध-निबन्ध में मैंने अपने विचारों को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है उससे तो यह स्पष्ट हो ही जाता है कि हिन्दू दर्शन में निवृत्ति के जो भी तत्त्व हैं वे जैन श्रमण परम्परा की ही देन है, परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि जैन सम्प्रदाय के मानने वाले लोग या जैनी नितान्त निवृत्ति परायण और सांसारिक उत्तरदायित्व का परित्याग करते हैं या संन्यास-मार्ग ही ग्रहण करते हैं। सच तो यह है कि निष्ठा, आचार और तप आदि का पालन करते हुए भी सांसारिक उत्तरदायित्व का निर्वाह करने में जैन ही समर्थ हैं। यथार्थ में देखा जाय तो हिन्दू एवं जैन दोनों परम्पराओं में निवृत्ति पक्ष एवं प्रवृत्ति पक्ष विद्यमान हैं और ये दोनों ही पक्ष एक दूसरे के परस्पर में पूरक भी हैं।

अतः सिद्ध है कि उभयात्मक प्रवृत्ति एवं निवृत्ति में समन्वयात्मकता है जो उनके वर्तमान व्यावहारिक कार्य-क्षेत्र में अभिलक्षित होती है।

## सन्दर्भ

1. तुकाराम कृष्ण शर्मा, जैनधर्म पर प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों का मत, पृ. 10
2. समंतभद्राचार्य, रत्नकरंडश्रावकाचार, श्लोक 8

3. आयारो 6/40, 8/53.
4. आयारचूला, 5/1-2
5. उत्तराज्झयणाणि, 2/13
6. कल्पसूत्र, 9/28/63
7. मुनि नथमल, जैनदर्शन, मनन और मीमांसा, पृ. 101
8. पंचाशक, गाथा 12
9. डॉ. केदारनाथ सिंह और प्रो. शशिभूषण सिंह, भारतीय दर्शन, पृ. 122
10. वही, पृ. 122-123
11. कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैनधर्म, पृ. 290-291
12. कामता प्रसाद जैन, भगवान महावीर, पृ. 229
13. वही, पृ. 230
14. भागवत, 5/4/20
15. J. Stevenson, Kalpa Sutra, D. D. P. XV
16. जैनधर्म, पृ. 292
17. वही, पृ. 293
18. वही
19. षट्प्राभृत, गाथा 68, पृ. 211
20. जैनदर्शन मनन और मीमांसा, पृ. 102
21. जैन हितैषी, भाग 13, अंक 6
22. पं. धर्मसागर उपाध्याय, प्रवचनपरीक्षा, पृ. 241
23. पं. बेचरदास जी, जैन साहित्य में विकार
24. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय, भारतीय दर्शन, सरल परिचय, पृ. 198-199
25. जिनदत्तसूरि, सर्वदर्शनसंग्रह, श्लोक
26. श्रमण, दिसम्बर 1978, पृ. 11/2
27. वही
28. दरबारीलाल सत्यभक्त, जैन धर्ममीमांसा, भाग 1, पृ. 150
29. वही, पृ. 155-156
30. जैनधर्ममीमांसा, भाग 1, पृ. 166-167
31. आचार्य बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ. 63
32. भगवान महावीर, पृ. 224
33. भारतीय दर्शन सरल परिचय
34. जैनदर्शन मनन और मीमांसा, पृ. 102
35. डॉ. मोहनलाल मेहता, जैन धर्म, पृ. 20

36. श्वेताम्बराचार्य मेघविजय, मुक्तिप्रबोध, गाथा 16-20
37. कुन्दकुन्दाचार्य, समयसार, गाथा 5-189
38. ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी, विद्यार्थी जैनधर्म शिक्षा, पृ. 122
39. अमृतचन्द्राचार्य, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक 43
40. अमितगति व उमास्वामी की चार भावना, श्लोक 1

# सप्तम अध्याय

## (क) उपसंहार

### हिन्दू और जैन नैतिक आदर्शों के द्वारा युद्ध और शान्ति की समस्या का समाधान

आज यंत्रवाद के फलस्वरूप विश्व में अनेक अघटित घटनाओं व विचित्र परिस्थितियों का उदय हुआ है, उसके कारण उत्पन्न हुई विपत्तियों से व्यथित अन्तःकरण को ऐसी विद्या की आवश्यकता है, जो कलह, विद्वेष, अशान्ति, उत्पीड़न आदि से बचाकर कल्याण का मार्ग बताए। अतः धर्म की स्थापना आदिकाल में महर्षियों ने जनकल्याण के ही निमित्त की थी क्योंकि --

धर्म सर्वांगीण अभ्युदय तथा शान्ति का विश्वास प्रदान करता है, अतः मानना होगा कि समस्याओं की गुत्थी धर्म से ही सुलझ सकती है। धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है। 'धृ' का अर्थ होता है धारण करना। प्रत्येक वस्तु का अपने निज स्वभाव में रहना धर्म है। अपने निज स्वभाव में स्थिर रहने के लिये जो विचार, भावनाएं, प्रार्थनाएं, स्तुतियाँ आदि क्रियाएँ की जाती हैं, वे सभी इसलिये धर्म कही जाती हैं क्योंकि वे प्राणी को निजी स्वभाव में रहने की प्रेरणा देती हैं। जल तभी तक अपने धर्म में स्थिर है, जब तक वह निर्मल, शीतल और निश्चल है। यदि वह धूलि से मलिन हो, अग्नि से तपाया हुआ हो, तूफानादि के कारण चंचल हो तो भी वह अपने निज स्वरूप में लौटने का प्रयत्न करता है। हे आत्मन्! तेरा स्वरूप चैतन्यता है, ज्ञान है, शान्ति है, निरहंकारता है, सरलता है, निर्लोभता है, तू अकेला स्वतन्त्र द्रव्य है। तेरा अपने ही गुणों व अपनी ही अवस्थाओं पर वास्तविक अधिकार है क्योंकि तू स्वयं इन गुणों के माध्यम से परिणमन करता है, शेष सब पदार्थ पर हैं, संयोगाधीन हैं। इन्हीं संयोगों के कारण मानव को जीवन में दुःख भोगने पड़ते हैं।

*"एगो मे सास्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।*
*सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा।।*
*संजोगमूला जीवेण पत्ता दुक्खपरंपरा।*
*तम्हा संजोगसम्बन्धं सव्वं तिविहेणवोस्सरे।।"*[1]

मेरी आत्मा एकाकी है, शाश्वत है और ज्ञानदर्शन स्वरूप है। शेष सभी पदार्थ वाह्य हैं, पर हैं और संयोगाधीन हैं, अपना स्वामी स्वयं बनो, पर का संसर्ग छोड़ो, शान्ति तुम्हीं में है।

अतः जीवों की रक्षा करना ही धर्म है। जहां जीवघात में धर्म माना जाता हो वहां जितनी भी क्रियाएँ हैं, वे सभी विफल हैं। धर्म तो वह है जिसके द्वारा यह प्राणी संसार-बन्धन से मुक्त हो जाता है। जहाँ प्राणी-घात को धर्म बताया जाय, वहाँ दया का अभाव है, जहाँ दया का अभाव है, वहाँ धर्म का अंश नहीं, जहाँ धर्म का अंश नहीं, वहाँ संसार से मुक्ति नहीं।"[2] मनुष्य को विश्वशान्ति तथा परस्पर सद्भावना रखनी चाहिये। जैसा कि महावीर और बुद्ध ने धर्म के रूप में संसार को सिखाया --

*"मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।"*[3]

"सद्भावना के साथ क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य रूपी गुणों को जीवन में उतारने की सतत् चेष्टा करनी चाहिये।"[4]

*"जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनिअत्तइ।*
*धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जंति राइओ।।"*[5]

अर्थात्, ज्यों-ज्यों रात्रि निकलती है वह लौटकर नहीं आती, अतः धर्म करने वाले की रात्रियाँ सफल हो जाती हैं।

पर आज तो लोगों व राष्ट्रों का झुकाव स्वार्थपोषण की ओर एकान्ततया हो गया है। अतः "समर्थ को ही जीने का अधिकार है, हम ही सबसे आगे रहें, दूसरे चाहे जहाँ जायें ऐसी इस युग के लोगों की भावनाएँ हैं, लोग उचित-अनुचित कर्तव्य-अकर्तव्य का तनिक भी विवेक किये बिना छल द्वारा आगे बढ़ने की कोशिश करते हैं। आज युद्ध रोकने के लिये हमें जिस आदर्श का निर्वाह करना होगा, उनमें सबसे पहला कार्य होगा -- विश्वबन्धुत्व, संसार से भाई-चारे का नाता या 'वसुधैव कुटुम्बकम्' संसार को कुटुम्ब मानने की उदार भावना। उसका रूप होगा -- "सारी दुनियाँ एक छोटा सा घोंसला है, उसमें रहने वाले हम सब एक ही परिवार के लोग हैं। हर एक का दुःख सबका है, हरएक का दोष सबका है, हरएक की सेवा पर सबका अधिकार है। कोई बड़ा नहीं है, कोई छोटा नहीं है, कोई पवित्र नहीं है, कोई अपवित्र नहीं है और कोई अपना-पराया नहीं है। जीवन दृष्टि परिवर्तन की साधना सबको करनी है -- संयम की मात्रा बढ़ानी होगी। सादा जीवन ही साधु-जीवन हो सकता है। परस्पर सहयोग से ही दुनियाँ आगे बढ़ेगी। आज जबकि राजनीतिक चाल ऐसी विचित्र है कि लोग अपने स्वार्थ तथा मान-पोषण के अतिरिक्त अन्य नैतिक तत्त्वों को कोई महत्त्व नहीं देते। हजरत मसीह ने ठीक ही कहा है -- "This world is a bridge, pass thou over it, but build not upon it."

पर आज के लोग ऐसी बातों पर ध्यान कहाँ देते हैं। आज तो धन-संचय करना ही लक्ष्य रह गया है, यही ईश्वर है, भगवान है, परमात्मा है। पर धन के द्वारा शान्ति प्राप्त करना असम्भव है। महर्षि गुणभद्र कहते हैं --

*"रे धनेन्धनसंभारं प्रक्षिप्याशाहुताशने।*
*ज्वलन्तं मन्यते भ्रान्तः शान्तं संधुक्षणे क्षणे।।"*[6]

अर्थात्, अरे भाई ! आशा-अग्नि में धन रूपी ईंधन डालकर जलने के क्षण में प्रदीप्त देखते हुए भ्रमवश तुम उसे शान्त हुआ समझते हो।

भगवान कुन्थुनाथ ने चक्रवर्ती के महान साम्राज्य का परित्याग किया था और वे विषय सुख से विमुख हुए थे, इस विषय में स्वामी समंतभद्र कहते हैं --

*"तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न*
*शान्तिरासामिष्टेन्द्रियार्थ विभवैः परिवृद्धिरेव।*
*स्थित्येव कायपरितापहरं निमित्त-*
*मित्यात्मवान्विषयसौख्यपरांमुखोऽभूत।।"*[7]

पर आज के लोगों का ऐसी बातों पर ध्यान नहीं जाता, साथ ही यदि इन भोगों के निमित्त उन्हें कोई पाप या अनर्थ भी करना पड़े तो उन्हें संकोच नहीं होता हैं। आत्मा को सुसंस्कृत बनाने का उनके पास समय कहाँ है। रवीन्द्रनाथ ने इन्हीं बातों पर आक्षेप करते हुए एक अमेरिकन से कहा था --

"You American have no leisure, or if you have, you know not how to use it. In the rush of your lives, you do not stop to consider, where you are rushing to, not what is it all for. The result is that you have lost the vision of the eternal."[8]

अर्थात्, आप लोगों के पास अवकाश नहीं है। कदाचित् है भी, तो आप उसका उचित उपयोग करना नहीं जानते। अपने जीवन की दौड़ में तुम इस बात को सोचने के लिये तनिक भी नहीं रुकते कि तुम कहाँ और किस लिये जा रहे हो। इसका फल यह निकला कि तुम्हारी इस सत्यदर्शन की शक्ति चली गई।

मानव यदि धर्म के उज्ज्वल प्रकाश में अपने को तथा अपने वर्त्तव्य को देखने का प्रयत्न करे तो उसका जीवन सुखमय बन सकता है। पर विश्वशान्ति की स्थापना के विषय में विचार करने वाले जिन शासन भक्त तो अल्प व्यक्ति हैं और शान्ति-भंग करने वाले जीव अपरिमित संख्या में हैं। उनमें से कुछ तो ऐसे हैं, जो सोचते हैं कि रक्तपातादि कार्यों द्वारा ईश्वर को प्रसन्न कर लेंगे, क्षमा प्राप्त कर लेंगे और कुछ ऐसे हैं, जो दुर्बल मनुष्यों का संहार कर योग्य बनते हैं, वे सोचते हैं "माइट इज राइट" जबकि मानव को ऐसा होना चाहिये कि यदि आदर्श की रक्षा करते हुए मृत्यु के मुख में प्रवेश करना हो तो भी तैयार रहे।

*"कण्ठगतैरपि प्राणैर्नाशुभं कर्म समाचरणीयं कुशलमतिभिः।"*[9]

अर्थात्, उत्कृष्ट बुद्धि वाले व्यक्तियों को कंठगत प्राण होने पर भी निंदनीय कार्य

नहीं करना चाहिये।

यह है भारत का आदर्श। आदर्शवादी आध्यात्मिक ध्येय की रक्षा के लिये जीवन का भी मोह नहीं करता क्योंकि वह जानता है कि --

*"एक्को करेदि पावं विसयणिमित्तेण तिव्वलोहेण।*
*णिरयतिरियेसु जीवो तस्स फलं भुंजदे एक्को।।"*[10]

यह जीव, पाँच इन्द्रियों के विषयों के अधीन हो, तीव्र लालसापूर्वक पापों को अकेला करता है और अकेला ही उनका फल भोगता है।

प्रकृति का यह अबाधित नियम ( As you sow so you reap ) इस विषय में तनिक भी छूट नहीं देगा। नैसर्गिक या प्रेरित कार्य कैसा भी हो, सदैव अपना फल दिखाता है। विचारों के भी अपने परिणाम होते हैं। जैसे को तैसा मिलता है। जो युद्ध, हिंसा, द्वेष और क्रूरता से लड़े जाते हैं, उनसे हिंसा, द्वेष और क्रूरता बढ़ती है और युद्ध बढ़कर महायुद्ध का रूप धारण कर लेता है, अतः युद्ध जैसे द्वेष आदि के वातावरण को मिटाने का एकमात्र उपाय पवित्र प्रेम और निःस्वार्थ प्रेम ही हो सकता है। जिस घर में प्रेम न हो वहाँ लड़ाई दुःख और झंझट होती है। वही हाल दुनियाँ का है किन्तु जिस घर में सच्चा प्रेम हो, ममता हो, वहाँ स्नेह, सुख और शान्ति मिलती है। अतः यदि लोक के अधिकांश मानव एक दूसरे के प्रति सच्चा प्रेम-व्यवहार करें तो युद्ध हो ही नहीं सकता। ये निखिल सत्य है। पर दुनियाँ में ऐसे भी लोग हैं, जो प्रयत्न करना नहीं चाहते, कुछ ऐसे भी हैं जो इस सत्य को असम्भव मानते हैं। जिन्हें विश्व-प्रेम की शक्ति में विश्वास है, उन्हें दुगुनी शक्ति लगाकर इसका विकास करना चाहिये। हजारों युद्ध लड़े जा चुके हैं, तो भी मानव यह नहीं समझ पाया है कि युद्ध से बरबादी होती है और मान, उन्नति में बाधा पड़ती है एवं स्वार्थमय प्रेम से कभी सुख उत्पन्न नहीं हो सकता। मानव जब तक निःस्वार्थमय प्रेम करना प्रारम्भ नहीं करेगा, तब तक वह आत्मा को नहीं पहचान सकता और जब तक वह यह नहीं जानता कि दूसरे को पीड़ा पहुंचाना स्वयं अपने को पीड़ित करना है ( क्योंकि सभी प्राणियों में एक समान आत्मा है ), तब तक वह सुखी नहीं हो सकता।

"गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि जो सभी प्राणियों को अपनी आत्मा में तथा सभी प्राणियों में अपनी आत्मा को देखता है वह ईर्ष्या आदि से मुक्त रहता है।" भगवान महावीर ने भी सम्पूर्ण मानव समाज के लिये एक ही मूल मंत्र दिया था -- 'आत्मानुशासन और सृष्टि के सभी प्राणियों के प्रति स्वात्मभाव'। "जब सभी व्यक्ति अपनी स्वार्थपूर्ण इच्छाओं, भय और द्वेष। भावों पर काबू पा लेंगे, तब न तो युद्ध हो सकेंगे और न उनकी आवश्यकता ही रहेगी।" आज आवश्यकता है जीवन उत्सर्ग करने वाले सच्चे सहृदय, विचारशील सत्पुरुषों की। भारत के पुरातत्वी विभागाध्यक्ष श्री टी. एन. रामचन्द्र के अनुसार --

"भगवान महावीर ने एक ऐसी साधु-संस्था का निर्माण किया था, जिसकी भित्ति पूर्ण अहिंसा पर आधारित थी, उनका 'अहिंसा परमोधर्मः' का सिद्धान्त सारे संसार में 2500 वर्षों में अग्नि की तरह व्याप्त हो गया। अन्त में इस सिद्धान्त ने नव-भारत के पिता महात्मा गाँधी को जन्म देकर अपनी ओर आकर्षित किया। यह कहना अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं है कि अहिंसा के सिद्धान्त पर ही महात्मा गाँधी ने नवीन भारत का निर्माण किया है।"[12]

आज जो दुनियाँ में रंग-भेद, राष्ट्र-भेद, जाति-भेद आदि विषमताओं का उदय हो रहा है, पूँजीवाद की जो समस्या है, वह सहज में सुलझ सकती है, यदि समस्त मानव-संसार में सम्पत्तिशाली लोगों के हृदय में ये बात जग जाए कि --

*"बहवारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः।"*[13]

अर्थात्, बहुत आरम्भ और परिग्रह के कारण नरक का जीवन मिलता है।

उपर्युक्त पंक्तियों को समझ उसे भगवान मान उसका भजन करने वालों को अपना भविष्य जान कर जीवन परिवर्तन करने की बात हृदय में उदित करनी होगी कि --

*"अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य"*[14]

अर्थात्, थोड़ा आरम्भ और थोड़ा परिग्रह मनुष्यायु का कारण है।

छल-प्रपंच के जगत् में निरन्तर विचरण करने वाले राजनीतिज्ञों को आचार्य बताते हैं-- 'माया तैर्यग्योनस्य'[15] अर्थात्, मायाचार के द्वारा पशु-जीवन प्राप्त होता है। पवित्र आचरण, जितेन्द्रियता, संयम आदि के द्वारा देवत्व की उपलब्धि होती है। पाप पंक में निमग्न प्राणी अपनी अमर-आत्मा को नीच पर्याय में ले जाता है, जहाँ दुःख ही दुःख है। आज वर्ग-विशेष की श्रेष्ठता किसी चीज का अभिमान, घृणा आदि के जो बीज़ दिखते हैं, उनका फल भी प्राप्त हुए बिना नहीं रहता। कहा भी गया है --

*"परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य।।"*[16]

दूसरे की निन्दा, अपनी प्रशंसा करना, दूसरे के विद्यमान गुणों को ढाँकना आदि के द्वारा यह जीव निन्दनीय तथा तिरस्कारपूर्ण अवस्था को प्राप्त करता है।

इस तरह आज राष्ट्र में घृणा, जातिगत अहंकार आदि विकार समा गए हैं। इन विकारों से देश का जितना विनाश होगा उतना तो कोई अणुबम भी नहीं कर पायेगा क्योंकि आत्मगत दोषों के द्वारा जीव इतने गहरे गड्ढे में गिरता है कि वहाँ से विकास का मार्ग ही गणनातीत काल के लिये रुक जाता है। अतः जहाँ ये विकार हों, जहाँ परस्पर सद्भावना, सहानुभूति और सच्चे प्रेम का दरिया न बहे, वहाँ तो नरक ही समझना चाहिये। समाज या राष्ट्र के भाग्यविधाता का कर्तव्य है कि वे जनता की अधोमुखी वृत्तियों

पर नियन्त्रण रखे और उसमें सद्भावनाओं का प्रकाश फैलाये। शासक का कार्य खटमल की भाँति शोषण करना नहीं है। उसका कर्तव्य है कि मेघमाला के समान अमृतवर्षा करके इस भूतल को सर्वप्रकार से सम्पन्न और समृद्ध करे। आज राजा, प्रजा का, धनी, निर्धन का, मिल-मालिक, मजदूर का शोषण करता है, जब कि उन्हें यह सोचना चाहिये कि इस अल्पस्थायी मनुष्य जीवन में अधिक धन की तृष्णा द्वारा कल्याण संभव नहीं, चूँकि मरने के बाद कुछ भी साथ नहीं जाता। इसलिये मनुष्य को परस्पर सहयोग, सहायता, सहानुभूति, ऐक्य, उदारता, प्रेम, सन्तोष, स्पष्टवादिता, निर्भीकता, संयम आदि से जन-मानस में गुणों की वृद्धि करना चाहिये, जिससे न तो किसी प्रकार की विषमता हो और न ही विषाद उत्पन्न करने वाले विवाद हों।

आज समाज एवं राष्ट्र की इकाई स्वरूप हर व्यक्ति के जीवन को स्वस्थ सम्पन्न करने के लिये स्वार्थ-त्याग एवं वैयक्तिक चारित्र की निर्मलता अपेक्षित है। आज व्यक्ति में जो असन्तोष की वृद्धि हो रही है वह सिर्फ नैतिक आचरण के द्वारा ही दूर की जा सकती है, आचरण का सुधारना ही व्यक्ति का सुधार है और आचरण का बिगाड़ना ही व्यक्ति का बिगाड़ है। व्यक्ति के नैतिक विकास के लिये आत्मनिरीक्षण पर जोर दिया जाता है, क्योंकि इस प्रवृत्ति के बिना अपने दोषों को देखने का मौका ही नहीं मिलता और आत्मनिरीक्षण एक ऐसी प्रवृत्ति है, जिसके द्वारा अपने दोष दूर किये जा सकते हैं तथा अपने कर्तव्य और अधिकारों का यथार्थतः परिज्ञान भी प्राप्त किया जा सकता है। अर्थात्, इसके द्वारा व्यक्ति घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, मान, मात्सर्य प्रभृति दुर्गुणों से अपनी रक्षा करता है और समाज को प्रेम के धरातल पर लाकर उसे सुखी और शान्त बनाता है। आत्म-निरीक्षण के अभाव में वह इन्हीं दोषों को समाज में भी आरोपित करता है, जिससे समाज में भेद-भाव उत्पन्न होते हैं। इस तरह से समाज धीरे-धीरे विघटित होने लगता है। यह बात तो है ही कि -- "मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना।"[17] अर्थात्, विश्व के मानवों के विचार में भिन्नता होगी ही, क्योंकि सबकी विचार शैली एक नहीं है। विचार-भिन्नता से शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती।

महात्मा भगवानदीनजी के शब्दों में -- "सभी देश अलग-अलग शान्ति की बात सोचें तो कोई मुल्क न शान्ति की सेवा कर सकता है, न ईश्वर की, न देश की, न धर्म की, न समाज की और न अपनी ही। पड़ोसी के घर में आग लगाकर मूर्ख ही सुख की नींद सो सकता है। पर याद रहे कि ऐसा करके वह कुछ ही देर में सदा की नींद सो जायेगा। विश्व-शान्ति एक है। दुनियाँ भर में ऐसी शान्ति स्थापित करना ईश्वर का राज्य स्थापित करना है।"[18] जबकि विचार-भिन्नता से विद्वेष और घृणा की उत्पत्ति होती है, इसका शमन उदारनीति अर्थात्, स्याद्वाद से आपसी मतभेद एवं पक्षपातपूर्ण नीति का उन्मूलन कर अनेकता में एकता, विचारों में उदारता एवं सहिष्णुता-उत्पन्न कर किया जा सकता है, जिससे समाज में शान्ति, सुख और प्रेम की स्थापना हो। इसी तरह से समस्त

प्राणियों को उन्नति के अवसरों में समानता होनी चाहिये। समाज की सारी व्यवस्थाएँ अर्थमूलक हैं और इसी अर्थ के लिये संघर्ष हो रहा है। व्यक्ति, समाज या राष्ट्र के पास जितनी सम्पत्ति बढ़ जाती है वे उतना ही असन्तोष का अनुभव करते हैं अतः धनाभावजन्य जितनी अशान्ति है उससे कहीं अधिक अशान्ति धन के सद्भाव की है। "इसीलिये परिग्रह परिमाण व्रत के स्वरूप में कहा गया है कि अपनी आवश्यकता तथा मनोवृत्ति के अनुसार धन-धान्यादि की मर्यादा को बाँध लेने से चित्त लालच के रोग से मुक्त हो जाता है। मर्यादा के बाहर की सम्पत्ति के बारे में 'ततोऽधिकेषु निःस्पृहता' का भाव रखना आवश्यक कहा है।"[19] यह परिग्रह ही समस्त अनर्थों का मूल, युद्ध, उत्पीड़न और अशान्ति का जनक है। परिग्रह की लालसा ने इस विश्व को स्वार्थी और अन्धा बना दिया है। इसी से आज स्वार्थान्ध मानव ने जन-कल्याण की अवहेलना कर येन केन प्रकारेण धन-संग्रह एवं संचय-वृत्ति को अपनाया है। इसी से विश्व में निरन्तर संघर्ष, युद्ध, कलह तथा अशांति व्याप्त है, सर्वत्र उत्पीड़न एवं अभाव है। अतः मनुष्य यदि अपरिग्रह व्रत अर्थात्, कम से कम (सीमित) परिग्रह रखे या "मनुष्य आवश्यकतानुसार वस्तुओं को अपने पास रखे और शेष का परित्याग कर दे तो किसी वस्तु का अभाव न हो, युद्ध व कलह न हो, सर्वत्र सुख, शान्ति एवं अमन-चैन का वातावरण छा जाय तथा विश्व की अनेक समस्याएँ अपने आप हल हो जायें, इसमें जरा भी सन्देह नहीं।"[20]

"कूटनीति और धोखा भी समाज में अशान्ति उत्पन्न करते हैं। सत्य में वह ताकत है जिससे कूटनीतिजन्य अशान्ति की ज्वाला शान्त हो सकती है। दूसरे को कष्ट पहुंचाने के उद्देश्य से कटु वचन बोलना या अप्रिय भाषण करना, मिथ्या भाषण के अन्तर्गत है।"[21]

अतएव समाज को सुगठित, संबद्ध और प्रिय व्यवहारपरक बनाने हेतु सत्य वचन आवश्यक है। समाज में सच्ची शान्ति सत्य एवं प्रिय व्यवहार द्वारा ही उत्पन्न की जा सकती है, इसमें आचरण भी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है, क्योंकि "आचरण तो व्यक्ति की श्रेष्ठता एवं निकृष्टता का मापक यंत्र है। इसी के द्वारा जीवन की उच्चता और उसके उच्चतम रहन-सहन के साधन अभिव्यक्त होते हैं। आचरण का पतन जीवन का पतन है और आचरण की उच्चता जीवन की उच्चता है।"[22] निकृष्ट आचरण वाले व्यक्ति समाज को खोखला बना देते हैं और उत्कृष्ट आचरण वाले समाज के उद्धार में सहयोग दे सकते हैं। समता के भी कई रूप सम्भव हैं, आचार की समता अहिंसा है, विचारों की समता अनेकान्त है, समाज की समता भोगनियन्त्रण है और भाषा की समता उदारनीति है। प्रेम, करुणा, मैत्री, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, सत्याचरण सभी समता के रूपान्तर है। वैर-घृणा, द्वेष, निन्दा, राग, लोभ, क्रोध आदि विषमता में सम्मिलित हैं। अतः समाजवाद की प्रतिष्ठा के लिये प्रत्येक सदस्य का आचरण और कार्य दुर्भावना रहित अत्यन्त सावधानी के साथ होना चाहिये, क्योंकि शुद्ध आचरण, नैतिकता या अहिंसा आदि के

अभाव में न तो व्यक्ति जीवित रह सकता है, न परिवार और समाज ही पनप सकता है। अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखने के लिये आचार-विचार ऐसे होने चाहिये, जो स्वयं के साथ-साथ दूसरों को रुचिकर हों। व्यक्ति, समाज और देश के सुख एवं शांति की आधारशिला है, यही अध्यात्मवाद है और इसी के साथ अहिंसा, मैत्री और समता की कड़ी जुड़ी है।

इन अहिंसा आदि व्रतों के श्रेष्ठ आराधक दिगम्बर जैन महामुनि आचार्य श्री शान्तिसागर महाराज से किसी ने एक बार पूछा था -- महाराज, इस युग में उन्नति तथा शान्ति का उपाय क्या है ? आचार्य महाराज ने जो समाधान किया था, यथार्थ में विश्व की विकट समस्याओं का सरल सुधार उसी में निहित है। महाराज ने कहा था -- 'बिना पाप और पाप-बुद्धि का त्याग किये न व्यक्ति का सुधार हो सकता है, न समाज का, न राष्ट्र' का और न विश्व का। जिस-जिस जीव ने हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा अधिक तृष्णा का यथाशक्ति परित्याग किया है, उसका उतना कल्याण हुआ है। जिसने हिंसादि पापों की ओर प्रवृत्ति की है, वे दुःखी हुए हैं। वास्तव में जगत् का सच्चा कल्याण आचार्य महाराज के कथनानुसार "पाप तथा पाप बुद्धि के परित्याग में है।"[23] महर्षि कुन्दकुन्द का कितना पवित्र उपदेश है --

*"जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमियभूयं।*
*जरामरणवाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं।।"*[24]

अर्थात्, जिन भगवान, की वाणी परमौषधिरूप है। यह विषय-सुख का त्याग कराती है। यह अमृतरूप है, जरा-मरण की व्याधि को दूर करती है तथा सर्वदुःखों का क्षय करती है।

बापू के शब्दों में -- किसी को मारना तो हिंसा है ही, कुविचार मात्र हिंसा है, उतावली हिंसा है, मिथ्याभाषण हिंसा है, द्वेष हिंसा है, किसी का बुरा चाहना हिंसा है, जगत् के लिये जो आवश्यक वस्तु है, उस पर अधिकार कर रखना भी हिंसा है। हिंसा और अहिंसा के विश्लेषण से अहिंसा की दिव्य शक्ति का पता लगता है। जिसके महत्त्व को समझकर गाँधीजी ने इस पर जोर देते हुए कहा था कि जैसे कीचड़ से कीचड़ नहीं धोया जा सकता, वैसे युद्धों से युद्ध शान्त नहीं हो सकते। युद्ध शान्त हो सकते हैं, उस अहिंसा से जिससे मनुष्य अपने जीवन में सादगी लाकर, इच्छाओं पर संयम रखकर, चारों ओर प्रेम और विश्वास का प्रसार कर स्वयं निर्भय होकर दूसरों को निर्भय रहने देना सीखेगा। अहिंसक संस्कृति की परम्परा में यह दिव्य दान ऋषभदेव से रामचन्द्र, कृष्ण, पार्श्वनाथ, महावीर, बुद्ध, जीसस क्राइस्ट, टाल्सटाय और गाँधी जी तक वट वृक्ष की तरह बढ़ता चला आया है।"[25]

अतः यह प्रगतिशील अहिंसा ही एक ऐसा शस्त्र है, जिसके द्वारा बिना एक बूंद

रक्त बहाये वर्गहीन समाज की स्थापना की जा सकती है। अहिंसा-आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं को सरलतापूर्वक सुलझा सकती है। ठीक ही कहा गया है कि--

*"यत्किंचित्संसारे शरीरिणां दुःखशोकभयबीजम।*
*दौर्भाग्यादि समस्तं तद्धिंसासंभवं ज्ञेयम्।।"*[26]

अर्थात्, इस संसार में जीवों के दुःख, शोक, भय के बीजस्वरूप दुर्भाग्य आदि का दर्शन होता है और वह सब हिंसा से उत्पन्न समझना चाहिये।

भगवान महावीर तो अहिंसा के साक्षात् अवतार थे। उन्होंने अहिंसा ही परमधर्म है, अहिंसा ही भगवती है, जियो और जीने दो के महान उद्घोष अहिंसा के क्षेत्र में किये हैं, उन्होंने कहा कि सच्चा अहिंसक निर्भय होता है और वह पर के प्रति कभी दुर्भावना नहीं करता। जिस तरह का व्यवहार वह दूसरों से स्वयं के प्रति चाहता है वैसा ही दूसरों से करता है। जीवन, जायदाद के कार्यों में किसी सुकार्य में बाधा देना उतना ही बुरा समझना चाहिए, जितना कि हम अपने जीवन, जायदाद के कार्य में दूसरों द्वारा की गई बाधाओं को बुरा समझते हैं। प्रत्येक व्यक्ति यदि इस परम्परा का निर्वाह करे तो यह कार्य गांव, प्रान्त, देश और अन्त में राष्ट्रव्यापी हो सकता है। "गांधीजी का जीवन हमें सिखाता है -- वह लड़ाई जो हमें बुराई, गन्दगी, झूठ, धोखाधड़ी, हिंसा और सरकार के विरुद्ध लड़नी पड़ती है, वह न लड़नी पड़ती हो तो भी लड़ना चाहिये। ऐसी लड़ाइयों से युद्ध का अन्त होगा, शांति का समागम होगा।"[27] अहिंसा के बिना मानव, दानव बनकर घोर हिंसा करता है और बड़े से बड़े दुष्कृत्य करते हुए भी वह संकोच नहीं करता। उन्होंने हिंसा को पापों की जननी और अहिंसा को सुखों का स्रोत कहा और बताया कि वाणी और शरीर की हिंसा से अधिक मन की हिंसा होती है, क्योंकि मन में किसी के प्रति हिंसा के भाव बनने मात्र से ही हमारे शुद्ध भावों का घात होता है। अहिंसा का यथार्थ स्वरूप राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, भीरुता, शोक, घृणा आदि विकृत भावों का त्याग करना है। यदि रागादि का अभाव हो, और प्राणिघात हो तो भी वह अहिंसा कहलायेगी। अमृतचन्द्र स्वामी कहते हैं--

*"अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।*
*तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः।।"*[28]

अर्थात्, रागादिक का अप्रादुर्भाव अहिंसा है, रागादिकों की उत्पत्ति हिंसा है। यह जिनागम का सार है।

अतः हिंसा से बचने तथा अहिंसा के संरक्षण के लिये भगवान महावीर ने अहिंसात्मक आचरण पर अधिक बल दिया है उन्होंने कहा --

*"आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।"*

यह हिंसा से बचने का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है। सम्पूर्ण जैनाचार भी इसी अहिंसा का प्रतीक है। निशिभोजन त्याग, पंचअणुव्रत पालन, सप्तव्यसन त्याग, पंचउदुंबर फलत्याग आदि बातें, जो जैनाचार के विशिष्ट चिह्न हैं -- अहिंसामय आचरण के लिये अपनायी गई हैं। महावीर की अहिंसा विषमता में समता, अनेकत्व में एकत्व लाती है। इसी से वीरों के युद्ध, डाक्टरों, नर्सों के कार्य, किसानों के कार्य स्थूल रूप से अहिंसा परक ही बताये गये हैं। क्योंकि इन सबके पीछे भला उद्देश्य होता है। किसी विद्वान ने ठीक ही कहा है कि --

"भगवान महावीर का सम्पूर्ण जीवन अहिंसा का रचनात्मक सूत्र और सत्य की शोधशाला था।"[29]

अहिंसा की तरह जैन धर्म में स्याद्वाद की भी चर्चा हुई है, जो विश्व के समस्त सैद्धान्तिक विवादों को शान्त करता है तथा वस्तु की पूर्ण जानकारी देता है। इस सिद्धान्त के अनुसार एक ही वस्तु में अनन्त धर्म समाविष्ट होते हैं। अतः किसी वस्तु का जो कथन किया जा रहा है, वह किसी एक दृष्टिकोण से किया जा रहा है और उसी वस्तु का कथन अन्य दृष्टियों से भी किया जा सकता है। अतः यह स्याद्वाद सिद्धान्त एक याथार्थ और अकाट्य सिद्धान्त है, इसके द्वारा वस्तु की विभिन्न दशाओं का ज्ञान ठीक से हो पाता है। इस सिद्धान्त को मान लेने से विश्व के सभी विवाद शान्त हो जाते हैं। जैन अनेकान्त दृष्टि ने सामाजिक बुराइयों का परिहार करके अपने कर्त्तव्यों में सामंजस्य स्थापित करने की उसके अनुयायियों को अद्भूत शक्ति दी है। यही कारण है कि हमारे देश ने वैयक्तिक व्यवहार में ही नहीं, अपितु राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय नीति के निर्धारण में भी अहिंसा तत्त्व को मौलिक रूप से बहुत हद तक स्वीकार कर लिया है। इस तरह से जैन धर्म के इस सिद्धान्त की बहुत ही महत्ता सिद्ध होती है और उसके सूक्ष्म अध्ययन व विचार की आवश्यकता प्रतीत होती है। "इसी समन्वयवादी अनेकान्त सिद्धान्त के आधार पर आज से लगभग डेढ़ हजार वर्ष पूर्व समंतभद्राचार्य ने अपने युक्त्यानुशासन नामक ग्रन्थ में महावीर के जैन शासन को सब आपदाओं का निवारक शाश्वत सर्वोदय तीर्थ कहा है --

*"सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तदैव।"*[30]

"सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्य, तप, अपरिग्रहरूपी महान आदर्शों के प्रतीक भगवान महावीर हैं। इन महाव्रतों की अखण्ड साधना से उन्होंने जीवन का बुद्धिगम्य मार्ग निर्धारित किया था और भौतिक शरीर के प्रलोभनों से ऊपर उठकर आध्यात्मिकभावों की शाश्वत विजय स्थापित की थी।"[31]

विश्व-शान्ति के अग्रदूत आज हमारे बीच नहीं रहे। उनके बिना भारत की स्थिति ठीक वैसी ही है जैसे बिना मूर्ति के मन्दिर की होती है या प्रकाश-स्तम्भ शून्य बन्दरगाह की होती है। भारतीय राजनीति के समुद्र में जब कभी भी विषमता के मगरमच्छ

रूपी दुर्भावनाओं के तूफान आये, उन्होंने नेतृत्वरुपी नौका को उसमें गोते खाकर डूबने से बचाया है। वे हमारे बीच नहीं हैं, परन्तु उनकी वाणी हमें पथ-प्रदर्शन कराती रहेगी। उनके मार्ग का अनुसरण करने वाले जन विश्व-शान्ति के मार्गों का अनुसन्धान कर इस निष्कर्षों पर पहुँचे --

(1) **मानवमात्र को समानाधिकार** -- काला हो या गोरा, यूरोपीय हो या एशियाई, ब्राह्मण हो या शूद्र, हिन्दू हो या मुसलमान, जन्म से समानाधिकार वाला है।

(2) **धर्मशास्त्रों की मर्यादा** -- मानव-मानव में सद्भावना, प्रेम, सहयोग, मैत्री, प्रमोद आदि समाज संघटक, आध्यात्मिक एवं आत्मशोधक शिक्षा के अतिरिक्त राजनैतिक, आर्थिक मामले में इनकी मान्यता प्रभावक न हो।

(3) **कर्म के स्वरूप का ज्ञान** -- अकर्मण्य जनों को सिखाया जाय कि हर एक व्यक्ति में महान होने की शक्ति है। यदि वह सत्कर्म करे तो कोई भी शक्ति उसे नर से नारायण बनने से नहीं रोक सकती।

(4) **सामाजिक और आर्थिक संगठन** -- अपरिग्रहवाद के आधार पर सहयोगी प्रवृत्ति के अनुसार सामाजिक और आर्थिक संगठन हो।

(5) **गुण-कर्म के अनुसार वर्ण-व्यवस्था** -- वर्ण-व्यवस्था जन्म से न मानी जाकर गुण और कर्म ही से मानी जानी चाहिये। छुआ-छूत को दूरकर मानवमात्र को समान समझा जाना चाहिए।

(6) **नारी के समानाधिकार** -- स्त्री को मानव समाज का सक्रिय सहयोगी अंग स्वीकार कर आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्र में उसे समानाधिकार देना चाहिए।

(7) **धर्म आजीविका का साधन न हो** -- धर्म आत्मशुद्धि के लिये हो, अर्थोपार्जन के लिए नहीं।

(8) **संकुचित राष्ट्रवाद की समाप्ति** -- प्रान्त, देश, भाषा और संस्कृति के संकुचित नारों का आधार समाप्त करके विश्वबन्धुत्व, विश्वदेश, विश्वभाषा और मानव संस्कृति के लक्ष्य की ओर अग्रसर होने की प्रवृत्ति का प्रचार हो।

(9) **निरस्त्रीकरण** -- विश्व को एक परिवार मानने की भावना हो, अस्त्रों का परित्याग हो। जैसा आचार्य विनोबाजी का कहना है कि "हम ऐसी शान्ति सेना तैयार रखें कि दुनियाँ के किसी कोने में अगर हिंसा का विस्फोट हो तो प्रतिकार और कुरबानी के लिए उसे तत्काल वहाँ भेज सकें। वह सेना होगी रोज शरीर परिश्रम से अन्न उत्पन्न करने वाली, दुखियों की सेवा-शुश्रूषा करने वाली और अहंकार छोड़कर सब में घुलमिल जाने वाली सेवक मण्डली।"[32]

*शान्ति सेवा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्वयंसेवक* -- कुछ वर्षों से विदेश में काम कर रहे इस दल में अनेक देशों के युवक-युवतियाँ हैं जिनका सेवाकार्य भूकम्प, बाढ़ और युद्ध आदि में क्षत-विक्षत लोगों की सेवा करना, नगरों की सुव्यवस्था करना है।

(10) शिक्षा सुधार -- शिक्षा की प्रणाली जो आज प्रचलित है, प्रारम्भिक शिक्षा से ही उसका पाठ्यक्रम वैज्ञानिक एवं शिक्षाप्रद हो। विश्वविद्यालय की शिक्षा का स्तर ऐसा हो, जिसमें विद्यार्थी स्वावलम्बी होना सीखें। ऐसे साहित्य का प्रचार हो, जिससे लोगों में सदिच्छाओं का जन्म हो, प्रसार हो।

विश्व में शान्ति लाने के लिये अपने आदर्श को उच्च बनाना होगा और बात की अपेक्षा काम ज्यादा करना होगा -- फिर हम देखेंगे कि जहाँ संकल्प शुभ है तो परिणाम के शुभ होने में कोई सन्देह नहीं होगा। साथ ही आपस में प्रेम की भावना रखनी होगी, क्योंकि विश्व-प्रेम समस्त बुरी भावनाओं को समाप्त कर कर्तव्य, अहिंसा, त्याग एवं सेवा की भावनाएं उत्पन्न करता है। नेमिचन्द्र शास्त्री कहते हैं -- "विश्व-प्रेम ही एक ऐसा सिद्धान्त है जो व्यक्ति और समाज के बीच अधिकार और कर्त्तव्य की श्रृंखला स्थापित कर सकता है। समाज एवं व्यक्ति के उचित सम्बन्धों का सन्तुलन इसी के द्वारा स्थापित हो सकता है। व्यक्ति सामाजिक हित की रक्षा के लिये अपने स्वार्थ का त्याग कर सहयोग की भावना का प्रयोग भी विश्व-प्रेम से ही कर सकता है।"[33] विश्व-प्रेम में ऐसा जादू है, जिसके प्रयोग से मानव की संघर्ष-प्रवृत्ति समाप्त हो सकती है।

## (ख) भविष्य में मानव समाज के पुनर्निर्माण की सम्भावनाएँ और विश्व-कल्याण

यह तो प्रत्यक्ष ही है कि आज की सभ्यता मानव के मस्तिष्क में एक जटिल प्रश्न बनकर छायी हुई है। प्रसिद्ध इतिहासकार आर्नल्ड टायन्बी[34] ने एडिनबरा विश्व विद्यालय में अपने भाषण क्रम में यह भविष्यवाणी की थी कि 50 वर्षों में संसार का नेतृत्व अमेरिका करेगा। परन्तु 21 वीं शताब्दी में जब टेकनोलॉजी का स्थान धर्म ग्रहण कर लेगा, तो यह संभव है कि भारतवर्ष जो अभी विजित है वह अपने विजेताओं पर विजय प्राप्त कर लेगा। इसी प्रकार हेनरी जिम्मर[35] ने भी कहा था, कि पश्चिम के लोगों को उसी चौराहे पर आने के लिये बाध्य होना पड़ेगा, जिस पर भारतवर्ष के विचारक ईसा के 700 वर्ष पूर्व पहुंचे थे। तात्पर्य यह है कि यह तथ्य निःसंदिग्ध है कि बाह्य वातावरण में सुधार करने से मानव समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता, क्योंकि आज मनुष्य की समस्याएं स्वयं मनुष्य की अपने परिणमन से बन रही हैं और इसलिये धर्म के द्वारा ही जब मनुष्य की प्रकृति में सुधार होगा, तभी भारत वर्ष का ही नहीं समस्त मानव जाति का कल्याण होना निश्चित है, परन्तु इस धार्मिक क्रान्ति का यह अर्थ नहीं है कि कोई एक धर्म अपने

आप में पर्याप्त है और वह धर्म अन्य धर्मों की अपेक्षा श्रेष्ठ है। वस्तुतः सभी धर्म अनेकान्तवाद दृष्टि से मनुष्य के विभिन्न पक्षों पर बल देते हैं और इसीलिये सर्व धर्म समन्वय के द्वारा समस्त मानव-जाति का कल्याण निश्चित है।

## सन्दर्भ


1. आचार्य कुन्दकुन्द, नियमसार - 102, दि. जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर, वि. नि. 2511
2. ज्ञानोदय, अक्टूबर, 1950, अंक 16, पृ. 216
3. वही, 1952, अंक 5, पृ. 374
4. अहिंसा संदेश, सच्चा सागर 105, क्षुल्लक सिद्धसागर लाडनूवाले, 1979, अगस्त, अंक 5
5. निर्ग्रन्थ-प्रवचन, अनुवादक और संग्राहक, मुनि चौथमल जी महाराज, पृ. 55
6. आत्मानुशासन, श्लोक 85
7. समन्तभद्र, बृहत्स्वयंभूस्तोत्र 17/2, संपा. प्रो. उदयचन्द्र, श्री गणेशवर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, नरिया, वाराणसी, 1993, पृ. 124
8. James Biseet Pratt, India and its Faith, p. 473.
9. नीतिवाक्यामृत, 37, 20
10. बारअणुस्सवेक्खा, श्लोक 15
11. अहिंसा संदेश, मार्च-अप्रैल, 1977
12. भगवान महावीर स्मृति ग्रन्थ, भाग 1, 1948-49
13. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 6/16
14. वही, अध्याय 6/18
15. वही, 6/17
16. वही, 6/24
17. डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पृ. 579
18. ज्ञानोदय, नवम्बर, 1952, अंक 5, पृष्ठ 377-378
19. पं. सुमेरुचन्द्र दिवाकर, जैन शासन, पृ. 388
20. अहिंसा संदेश, मार्च-अप्रैल, 1977
21. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पृ. 588
22. वही
23. कुन्दकुन्दाचार्य, दर्शनप्राभृत-17, परमश्रुतप्रभावक मंडल, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगास, 1969, पृ. 14
24. ज्ञानोदय, नवम्बर 1952, अंक 5, पृ. 375

25. आचार्यशुभचन्द्र, ज्ञानार्णव, 58 श्रीपरमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास, पंचम संस्करण, संवत् 2037, पृ. 112
26. ज्ञानोदय, नवम्बर 1952, अंक 5, पृ. 377
27. अमृतचन्द्रस्वामी, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक 44
28. अहिंसा संदेश, मार्च - अप्रैल, 1977
29. समन्तभद्र, युक्त्यानुशासन-61, वीरसेवामंदिर, सरसावा, वि. सं. 2008
30. अहिंसा संदेश, मार्च-अप्रैल, 1977
31. ज्ञानोदय-नवम्बर, 1952, अंक 5, पृ. 379
32. विश्वशान्ति और जैनधर्म, डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, पृ. 22
33. "Arnold Toynbee predicted that in fifty years the world would be under the hegemony of the United States but that in the twenty first century, as religion captures the place of technology, it is possible that 'India the conquered will conquer its conquerors".
-- Huston Smith, The Religion of Man, p. 25.
34. We of the occident are about to arrive at a cross roads that was reached by the thinkers of India some seven hundred years before Christ.
--Ibid.

परिशिष्ट

# सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची


(क) जैन ग्रन्थ

1. अध्यात्मपदावली : डॉ. राजकुमार जैन : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी
2. आप्तमीमांसा : संपा. प्रो. दलसुख मालवणिया : जैन संस्कृति संशोधन मंडल, बनारस।
3. आत्मानुशासन (गुणभद्र विरचित) : संपा. डॉ. ए. एन. उपाध्ये एवं एच. एल. जैन : जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर - 1961
4. आयारचूला ( अंगसुत्ताणि ) : जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)
5. आयारो (अंगसुत्ताणि) : जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)
6. आचारांगसूत्र : महावीर साहित्य प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद - 1938
7. उत्तराध्ययनसूत्र : संपा. वाडेकर एवं वैद्य : पूना - 1954
8. उत्तराध्ययनचूर्णी, जिणदासगणि : रतलाम - 1933
9. ओंकार : एक अनुचिन्तन : पं. पुष्कर मुनि, देवेन्द्र मुनि शास्त्री एवं पं. शोभा चन्द्र भारिल्ल : सार्वभौम साहित्य संस्थान, दिल्ली
10. औपपातिकसूत्र : संपा. पं. भूरालाल कालिदास : सूरत, वि. स. 1994
11. कल्पसूत्र : संपा. झवेर चन्द्र मफतलाल : उंजहा वि.स. 1999
12. कार्तिकेयानुप्रेक्षा : कार्तिकेय स्वामी (टीका शुभचन्द्र) : आगरा 1960
13. छहढाला : दौलतराम कृत : दिगम्बर जैन वीर पुस्तकालय महावीर जी 8 (राजस्थान) - 1968
14. जैन धर्म : पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री : भा. दि. जैन संघ, मथुरा - 1948
15. जैन धर्ममीमांसा, भाग 1, भाग 2 एवं भाग 6 : दरबारीलाल सत्यभक्त : सत्य संदेश ग्रन्थमाला, वर्धा
16. जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग 1 : पं. बेचरदास दोशी : पा. वि. शोध संस्थान, बनारस।

17. जैनधर्मदर्शन : डॉ. मोहनलाल मेहता : पार्श्वनाथ विद्याश्रम, बनारस 1956
18. जैन आचार : डॉ. मोहनलाल मेहता : पार्श्वनाथ विद्याश्रम, बनारस 1966
19. जैन धर्मामृत : पं. हीरालाल जैन : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1960
20. जैन-बौद्ध तत्त्वज्ञान, भाग 2 : ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद जी : दि. जैन पुस्तकालय सूरत, वि. सं. 2464
21. जैन धर्म में अहिंसा : डॉ. वशिष्ठनारायण सिन्हा : जैन धर्म प्रचारक समिति अमृतसर
22. जैन धर्म का परिचय : पं. अजित कुमार शास्त्री : भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था महावीर जी ( राज. ) 1952
23. जैन साहित्य में विकार : पं. बेचरदास जी
24. जैनशासन : न्यायतीर्थ पं. सुमेरुचन्द्र दिवाकर : भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस - 1947
25. जैन धर्म पर प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों का मत : श्री देशभूषण जी महाराज : आरा, बी. सं. 2475
26. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा : नथमल मुनि : आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन ( चुरु, राज. ) 1963
27. जैन धर्म क्या कहता है : श्री कृष्णदत्त : सर्व सेवा संघ प्रकाशन, बनारस, 1963
28. तत्वार्थसूत्र ( श्री उमास्वामी विरचित ) : श्री फूलचन्द्र जी सिद्धांत शास्त्री : दि. जैन पुस्तकालय, सूरत 1962
29. तत्त्वार्थसूत्र ( श्रीउमास्वाति विरचित ) : पू. सुखलाल जी संघवी, पा. वि. ग्रन्थमाला, वाराणसी 1976
30. तत्त्वार्थसार : आचार्य अमृतचन्द्र, गणेश प्रसाद वर्णी ग्रंथमाला, डुमराँव बाग, अस्सी वाराणसी-5
31. तत्त्वसार : श्री देवसेन आचार्य, श्री सत्श्रुत सेवा साधना केन्द्र, अहमदाबाद
32. तत्त्वज्ञानतरंगिणी : ज्ञानभूषण भट्टारक
33. तत्त्वानुशासन : डॉ. नागसेन
34. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग 1 : डॉ. नेमिचन्द्र जी शास्त्री, महावीर प्रेस, वाराणसी- 1974
35. तीर्थंकर ऋषभ और चक्रवर्ती भरत : मुनि श्री महेन्द्र कुमार जी "प्रथम" : साहित्य समिति प्रकाशन विभाग, अग्रगामी युवक परिषद 11 पोलक स्ट्रीट, कलकत्ता-1

36. तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ : डॉ. हुकुमचन्द्र भारिल्ल : पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर ( राज. )
37. तुम अनन्त शक्ति के स्रोत हो : मुनि नथमल जी : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
38. दर्शनप्राभृत : महर्षि कुन्दकुन्द, परमश्रुत प्रभावक मंडल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, 1969
39. दशवैकालिकसूत्र : पं. नेमिचन्द्र जी शास्त्री : दिल्ली 1956
40. द्रव्यसंग्रहगाथा : पं. नेमिचन्द्र जी शास्त्री : दिल्ली 1956
41. नन्दीसूत्र-1 : मुनि हस्तिमल : जैन आश्रम ग्रन्थमाला
42. नियमसार : महर्षि कुन्दकुन्द : अजिताश्रम, लखनऊ
43. निर्जरा द्वारा छंद : कविवर बनारसीदास जी
44. निर्ग्रन्थ प्रवचन : महाराज चौथमल जी : जैनोदय पुस्तक प्रकाशन समिति, रतलाम, वी. सं. 2464
45. नीतिवाक्यामृतम् : सोमदेव सूरि, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 1987
46. पंचाशक, हरिभद्र, ऋषभदेव केशरीमल श्वेताम्बर संस्थान, रतलाम, 1928
47. प्रवचनपरीक्षा : उपाध्याय पं. धर्मसागर जी, ऋषभदेव केशरीमल श्वेताम्बर संस्था, सूरत, सं0 1993
48. प्रवचनसार : कुन्दकुन्दाचार्य, खेमचंद जैन, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला, मेरठ 1979
49. परमात्मप्रकाश : संपा. डॉ. आ. ने. उपाध्याय, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगास, आणंद ( गुजरात ), वि. नि. सं. 2411
50. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय : आचार्य अमृतचन्द्र : जैन सेन्टर, लखनऊ, 1963
51. बारस्सअणुवेक्खा : महर्षि कुन्दकुन्द
52. भक्तामररहस्य ( मानतुंगाचार्य विरचित ) : स्वाध्याय सदन प्रकाशन, दिल्ली, 1977
53. भगवान महावीर : कामता प्रसाद जैन : दि. जैन पुस्तकालय सूरत वि.सं. 2450
54. भगवान महावीर की अहिंसा : आर्यिका ज्ञानमति जी, जम्बूद्वीप, त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर
55. भावपाहुड़ : कुन्दकुन्दाचार्य, परमश्रुत प्रभावक मंडल, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगास
56. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान : डॉ. हीरालाल जैन : भोपाल 1962
57. मुक्ति-सोपान, अमोलक ऋषि, शारदा प्रेस, हैदराबाद, सन् 1915

58. मोक्षमार्ग प्रकाशक : आचार्यकल्प पं. टोडरमल विरचित, सोनगढ़ श्री दि. जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, वी. नि. सं. 2493।
59. रयणसारगाथा, श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इन्दौर
60. रत्नकरंडकश्रावकाचार : आचार्य समंतभद्र : दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई 1926
61. बृहतस्वयम्भूस्तोत्र : आचार्य समंतभद्र : दि. जैन पुस्तकालय सूरत, वि. सं. 2456
62. बृहत्कल्पभाष्य, संपा. मुनि चतुरविजय-पुण्यविजय, आत्मानन्द सभा, भावनगर, 1938
63. विद्यार्थी-जैन धर्म-शिक्षा : ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद जी : दि. जैन पुस्तकालय, 1942
64. विश्वधर्म की रूपरेखा : क्षुल्लक पार्श्वकीर्ति जी महाराज : श्री वीर प्रेस, जयपुर, वि. सं. 2491
65. विश्वशान्ति और जैन धर्म : नेमिचन्द्र शास्त्री
66. शान्तिपथप्रदर्शन : क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी : विश्व जैन मिशन, दिल्ली, 1960
67. षट्प्राभृत, टीकाकार आर्यिका श्री सुपार्श्वमति, प्रकाशिका श्रीमती शान्तिदेवी बड़जात्या, जयपुर, 1989
68. स्याद्वादमंजरी, हरिभद्र, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, 1935
69. समयसार : आचार्य कुन्दकुन्द श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र) वी.नि.सं. 2475
70. सर्वार्थसिद्धि : आचार्य पूज्यपाद : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1955
71. समयप्राभृत : आचार्य अमृतचन्द्र, श्री गणेशप्रसाद वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, नरिया, वाराणसी
72. समणसुत्तम् : पं. बेचरदास जी दोशी, पं. कैलासचन्द्र जी शास्त्री, मुनि श्री नथमल, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी 1975
73. समाधिशतक : स्वामी पूज्यपाद, अहमदाबाद
74. सर्वदर्शनसंग्रह : सूरि जिनदत्त : चौखम्बा, वाराणसी 1964
75. सहुसयाने एकमत : मुनि श्री छत्रमल जी : आदर्श साहित्य संघ चुरु, राजस्थान
76. सागारधर्मामृत : पं. आशाधर, दि. जैन ग्रन्थमाला 1917
77. सारसमुच्य : कुलभद्राचार्य ( सिद्धान्त सारादि प्रकाशिका मा० दि० जैन ग्रंथमाला समिति )

78. सार्वभौम साहित्य संस्थान : पुष्कर मुनि : शक्तिनगर दिल्ली
79. सूक्ति रत्नावली : अमोघवर्ष, शान्तिदास खेतसी, जामनगरवाला, सं0 2451
80. सूक्तित्रिवेणी : उपाध्याय अमरमुनि : सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
81. सूत्रकृतांगसूत्र : स्थानक जैन कान्फ्रेन्स 1938
82. श्री महावीर स्मृति ग्रन्थ भाग 1 : महावीर जैन सोसाइटी आगरा 1948
83. श्री पंचलब्धि : श्री मूलशंकर देशाई : श्री वीर प्रेस, जयपुर, राजस्थान, 1953
84. ज्ञानार्णव : शुभचन्द्राचार्य, श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगास, 1981

**(ख) बौद्ध ग्रन्थ**

1. थेरगाथा, नालंदा देव नागरी - पालि-ग्रन्थमाला, बिहार, 1959
2. धम्मपद, नालंदा देव नागरी-पालि-ग्रन्थमाला, बिहार, 1959
3. बुद्ध और बौद्ध धर्म : आचार्य चतुरसेन शास्त्री
4. मज्झिमनिकाय : नालंदा देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला, बिहार, 1958
5. सुत्तनिपात : नालंदा देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला, बिहार, 1959
6. संयुक्तनिकाय : नालंदा देवनागरी-पालि-ग्रंन्थमाला, बिहार, 1959

**(ग) वैदिक ग्रन्थ**

1. अथर्ववेद, सम्पादक पं0 श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान, बरेली।
2. ईशोपनिषद् - गीता प्रेस, गोरखपुर, वि. सं. 2017
3. ऋग्वेद, संस्कृति, संस्थान, बरेली
4. तत्त्वचिन्तामणि, भाग 1 एवं भाग 3 : जयदयाल गोयंदका, गीता प्रेस, गोरखपुर, वि. सं. 1994
5. तैत्तिरीयोपनिषद : संस्कृति संस्थान, बरेली
6. प्रश्नव्याकरणसूत्र, आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, 1983
7. पातंजलयोगदर्शन : पंतजलि : चौखम्बा, संस्कृत संस्थान, वाराणसी
8. भागवतधर्म : श्री हरिभाऊ उपाध्याय : सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली 1951
9. मनुस्मृति : निर्णय सागर प्रेस, बम्बई 1887
10. महाभारत, शान्तिपर्व, गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2051
11. महाभारत, अनुशासनपर्व, गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2051

12. यजुर्वेद, संस्कृति स्थान, बरेली
13. याज्ञवल्क्य स्मृति, चौखम्बा संस्कृत सीरिज ऑफिस, बनारस सिटी 1947
14. योगशास्त्र, हेमचन्द्र, एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता, 1921
15. योगशास्त्र, हरिभद्र, श्रीऋषभचन्द जौहरी, किशनलाल जैन, दिल्ली-1963
16. जैन योग ग्रन्थ चतुष्टय, मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन, ब्यावर, 1982
17. योगदर्शनसूत्र, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1963
18. रामायण ( वाल्मीकि कृत ), मद्रास ला जरनल प्रेस, मद्रास, 1933
19. विवेकचूडामणि : शंकराचार्य, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2001
20. शंकरप्रश्नोत्तरी, शंकराचार्य, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. 2022
21. संतवाणी : श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर, वि. स. 1996
22. संस्कृति के चार अध्याय : श्री रामधारी सिंह दिनकर : राष्ट्रकवि दिनकर पथ, राजेन्द्र नगर, पटना 16
23. श्रीमद्भागवत : गीता प्रेस संस्करण : गीताप्रेस गोरखपुर, वि.सं. 2018
24. श्रीमद्भगवद्गीता : गीता प्रेस संस्करण : गीताप्रेस गोरखपुर, वि.सं. 1992
25. हिन्दू धर्म की विशेषताएँ : श्री सत्यदेव परिव्राजक : राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली 1974

**( घ ) सामान्य ग्रन्थ**

1. आज के विचार : महात्मा गांधी
2. उर्वशी : रामधारी सिंह दिनकर
3. भारतीय दर्शन : देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1965
4. भारतीय आचारशास्त्र : प्रो. शशिकांत झा,ज्ञानदा प्रकाशन, पटना
5. भारतीयदर्शन : प्रो. केदारनाथ सिंह एवं शशिभूषण सिंह, ज्ञानदा प्रकाशन, पटना 1977
6. भारतीय दर्शन : बसंतलाल, भारती भवन, पटना 1969
7. भारतीय दर्शन : आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा ओरियन्टल, बनारस
8. भारतीय धर्म एवं संस्कृति : डॉ. बुद्ध प्रकाश, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ
9. भारतीय संस्कृति की रूपरेखा : श्री पृथ्वी कुमार अग्रवाल, विश्वविद्यालय प्रकाशन, बनारस

10. भारतीय धर्म एवं संस्कृति : डॉ. रामजी उपाध्याय, लोकभारतीय प्रकाशन, इलाहाबाद, 1972
11. भारतीय संस्कृति और सांस्कृतिक चेतना (एक अध्ययन) : प्रो. शेष आनन्द मधुकर, कमल प्रकाशन, रांची 1969

(ङ) कोष

1. बृहत् हिन्दी कोष : सं. कालिका प्रसाद, ज्ञानमंडल लिमिटेड, बनारस, वि. सं. 2020
2. हिन्दी विश्व कोष, भाग 2

(च) अंग्रेजी ग्रन्थ

1. Adonis and the Alphabet and other Essays. - Aldous Huxley, T & A contable Ltd., Chatta and Windus London, 1956.
2. Contemporary Indian Philosophy. - Gandhi, Tagore, Dasgupta & Others, Dr.Radha Krishnan & J.H. Muirhead, George Allien & Unwin Ltd. London, 1936.
3. Eastern Religion & Western Thought, S. Radha Krishnan Oxford University Press, London, 1940.
4. Indian Autiquary Vol. 3
5. Indian Philosophy, Vol. I, Dr. Radhakrishnan
6. India and its Faith, Bisset James Pratt, George Allien & Unwin, London.
7. Kalpa-Sutra, Edited by J. Stevenson
8. Mysticism in Religions : Sri W.R. Inge, Rider & Co., 178-202 Great Portland Street, London, 1st. edition, 1969.
9. The Bible Society of India : Bangalore, India.
10. The Doctrine of the Buddha : Leipeic George Grimm, Germany.
11. The Wisdom of Laotse : Lin-Yutang, The Modern Library New York, Radha House, 1948.
12. The Religions of Man : Huston Smith Harper and Raw Publishers, New York, London, 1958.

(ङ) पत्र-पत्रिकाएं

1. अहिंसा संदेश, मार्च 1977, अप्रैल 1977, अगस्त 1977 (रांची)
2. कल्याण, वर्षा 47 एवं 54, गीता प्रेस, गोरखपुर
3. जैनमित्र, भाद्रपद सुदी, वि. सं. 2504
4. जैन दर्शन और संस्कृति परिषद, द्वितीय अधिवेशन, सन् 1966 की रिपोर्ट कार्यवाही एवं शोधपत्र
5. जैन हितैषी, भाग 13, अंक 6
6. जैन-पथ-प्रदर्शन, भाग 3, अंक 3
7. दिव्य ध्वनि, मार्च 1967, दिसम्बर 1969, जनवरी 1969 (दिल्ली)
8. रायल एशियाटिक सोसाइटी, जरनल 1928
9. हिन्दू विश्व, सितम्बर 1975 (प्रयाग)
10. ज्ञानोदय, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी: अंक 4, 1950; अंक 16, 1950; अक्टूबर 1952, नवम्बर 1952, जनवरी 1953, जुलाई 1953
11. श्रमण, दिसम्बर 1978, पार्श्वनाथ विद्याश्रम (बनारस)
12. श्री अमर भारती, अगस्त 1980 (राजगीर)
13. इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, भाग 8, खण्ड 2, प्रो. प्राणनाथ

## हमारे महत्वपूर्ण प्रकाशन

1. Studies in Jain Philosophy — Dr. Nathmal Tatia Rs. 100.00
2. Jain Temples of Western India — Dr. Harihar Singh Rs. 200.00
3. Jain Epistemology — I. C. Shastri Rs. 150.00
4. Concept of Panchashila in Indian Thought — Dr. Kamala Jain Rs. 50.00
5. Concept of Matter in Jain Philosophy — Dr. J. C. Sikdar Rs. 150.00
6. Jaina Theory of Reality — Dr. J. C. Sikdar Rs. 150.00
7. Jaina Perspective in Philosophy and Religion — Dr. Ramjee Singh Rs. 100.00
8. Aspects of Jainology, Vol.1 to 5 ( Complete Set ) Rs. 1100.00
9. An Introduction to Jaina Sadhana — Dr. Sagarmal Jain Rs. 40.00
10. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास ( सात खण्ड ) सम्पूर्ण सेट Rs. 560.00
11. हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास ( दो खण्ड ) Rs. 340.00
12. जैन प्रतिमा विज्ञान – डॉ० मारुतिनन्दन तिवारी Rs. 120.00
13. जैन महापुराण – डॉ० कुमुद गिरि Rs. 150.00
14. वज्जालग्ग ( हिन्दी अनुवाद सहित ) – पं० विश्वनाथ पाठक Rs. 80.00
15. धर्म का मर्म – प्रो० सागरमल जैन Rs. 20.00
16. प्राकृत हिन्दी कोश – सम्पादक डॉ० के० आर० चन्द्र Rs. 120.00
17. स्याद्वाद और सप्तभंगी नय – डॉ० भिखारी राम यादव Rs. 70.00
18. जैन धर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ – डॉ० हीराबाई बोरदिया Rs. 50.00
19. मध्यकालीन राजस्थान में जैन धर्म – डॉ० ( श्रीमती ) राजेश जैन Rs. 160.00
20. जैन कर्म-सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास – डॉ० रवीन्द्रनाथ मिश्र Rs. 100.00
21. महावीर निर्वाणभूमि पावा : एक विमर्श – भगवतीप्रसाद खेतान Rs. 60.00
22. गाथासप्तशती ( हिन्दी अनुवाद सहित ) – पं० विश्वनाथ पाठक Rs. 60.00
23. सागर जैन-विद्या भारती भाग १, २ ( प्रो० सागरमल जैन के लेखों का संग्रह ) Rs. 200.00
24. मूलाचार का सम्मैं जैन धर्म – जैन Rs. 80.00
25. स्याद्वाद और डॉ० ( श्रीमती ) राजेश जैन Rs. 70.00
26. जैन तीर्थों का उद्भव एवं विकास – Rs. 100.00

पार्श्व डॉ० रवीन्द्रनाथ मिश्र सी – ५
एक विमर्श –